



वाया गा श्रीः ॥

# हरयोगप्रदीपिका।

सहजानन्द्रसंतानचिन्तामणि-स्वारमारामयोगीन्द्रविरचिता।

->>-

श्रीयुतब्रह्मानन्द्विरचितन्योत्स्नाभिध-संस्कृतटीकया, लाँखश्रामनिवासिषंडितमिहिरचन्द्रकृत-भाषाटीकया च समेता।

सेऽयं

क्षेमराज-श्रीकृष्णदासश्रेष्ठिना सम्बय्यां

( खतवाडी ७ वी गली खम्बाटा छैन, ) स्वकीये भीवेङ्कटेश्वर (स्टीम्)मुद्रणयन्त्रालये मुद्रियत्वा मकाशिता।

संवत् १९६८, शके १८३३.

अस्य प्रन्थस्य सर्वेऽधिकाराः "श्रीवेङ्कटेश्वर" यन्त्रा-लयाध्यक्षाधीनाः सन्ति ।

# प्रस्तावनाः

देखो ! इस असारसंसारसे मोक्षके अर्थ तथा सर्व मनोगत अमीष्ट सिद्धिद योगविषयमें हठविद्याहै जो प्राणियोंके हितार्थ योगिराज शिवजीने पार्वतांके प्रति महाकाछ योगशास्त्रमें वर्णन की है, उसी हठविद्याका सेवन करके ब्रह्माजी ब्रह्मपदको प्राप्त हुए हैं, श्रीकृष्णचन्द्रजीने गीतामें अर्जुनको और श्रीमद्भागवतमें उद्भवको उपरेश कियाहै, प्रायः ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नारद, याज्ञक्क्य इन सभीने इसका सेवन किया है. मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथजीने प्रथम शिवजीसे हठयोग श्रवण किया, इन्हीं गोरखनाथजीकी छ्वासे स्वात्मारामयोगिन्द्रने सर्व सुमुक्षुओंके मोक्षपाद्यर्थ ''हठयोगप्रद्विपका''नामक प्रन्थ चार उपदेशोंमें रचित किया. प्रथमोवदेशमें यम, नियम सिहत हठका प्रथमांग आसन, द्वितीयोवदेशमें प्राणायामप्रकरण, तृतीयोवदेशमें मुद्राप्रकरण, चतुर्थोवदेशमें प्रत्याहारादिरूप समाधिक्रम वर्णन किये है. उक्तप्रथ ''जोत्स्ना' नामक संकृतटीका सिहत तथा सर्व सुमुक्षुओंके छामार्थ हमने पं शिक्ति क्या है।

आशा है कि, सर्वसज्जन इसके द्वारा हठयोगका रहस्य जानकर छाम उठावेंगे और हमारे पारिश्रमको सफल करेंगे।

आपका कुपाकांक्षी-

وه در و دان مرد باید

खेमराज श्रीकृष्णदास,

अध्यक्ष '' श्रीवेड्ड देश्वर् '' स्टीम्-प्रेस-**मुंवई**.

# अथ इठयोगप्रदीपिकाविषयानुक्रमणिका।

#### 

चिषय.	श्लोक.	वृष्ठ.
अथ प्रथमोपदेशः	3.	
१ मंगळाचरण	?	3
२ ग्रहनमस्कार मंगलाचरण	2	ક
३ हठयोगसे राजयोगसिद्धि	2	4
४ (ज्ञानकी सातभूमि अर्थसहित ) पंक्ति		B
५ इडविद्याकी ऋाचा	8	6
६ महासिद्धनके नाम	ч	33
७ योगीनको आधार हठ	80	१३
८ इडविचाकूं गोप्यपना	33	१५
९ हठाभ्यासके योग्यदेश	35	\$ 8
१० मठलक्षण	23	36
११ मटमें कर्तव्यकर्म	38	20
१२ योगाभ्यासके नाशकर्ता	34	53
१३ योगकी सिद्धिके कर्ता	१६	"
१४ यमनियम	(११२)	२३
१५ आसनप्रकरण	\$10	, ,,
१६ स्वस्तिकासन	88 -	24
१७ गोमुखासन	20	28
१८ वीरासन	28	"
१९ कूर्मासन	22	29
२० कुक्कुटासन	23 .	22
२१ उत्तानकूर्मासन	<b>३</b> ४	26
२२ धतरासन	50	22
१३ मत्स्यंद्रासन	28	26
२४ मत्स्येन्द्रासनका फळ	२७	20
२५ पश्चिमतानासन	26	27
२६ पश्चिमतानासनका फळ	29	30
२७ मयूराखन	30	2)
२८ मयुरासनके गुण	38	33
२९ प्रयोजनसहित शवासन	३२	33

विषयातुक्रमणिका। (			
ं विषय.	खोक.	ঘূন্ত.	
३० सिद्धासनादि चार आसनींकी श्रेष्ठता	३३	22	
३१ चार आसनोंके नाम और सिद्धासनकी श्रेष्ठ	ता३४	77	
३२ खिद्धासन	\$8	77	
३३ मतांतरका सिद्धासन	३६	३४	
३४ सिद्धासनके पर्याय नाम	३७	३५	
	2-83	38	
३६ पद्मासन	88	36-	
३७ मत्स्येन्द्रनाथाभिमत पद्मासन	84	38	
३८ सिंहासन	40	8ई	
३९ भद्रासन	43	58	
४० हठाभ्यासका कम ४१ योगीनका मिताहार	48	50 50	
४२ योगीनको अपथ्य	46	17	
४३ योगीनको पथ्य	49	40	
४४ योगीनको भोजननियम	63	48	
	82	45	
४५ अभ्यासते सिद्धि	88	43	
४६ योगांगअनुष्ठानकी अवधि	६७	34	
द्वितीयोपदेशः २.			
४७ प्राणायामप्रकर्ण	3	48	
४८ प्राणायाम प्रयोजन	2	५५	
४९ मलशुद्धिसे हठयोगकी सिद्धि	8	48	
५० मळ शुद्धिकर्ता प्राणायाम	8	७७	
५१ मलशोधक प्राणायामका प्रकार	9	77	
५३ प्राणायाममें विशेषता	9	46	
५३ प्राणायामका अवांतर फळ	80	49	
५४ प्राणायामके अभ्यासका काल और अवधि	.88	80	
५५ उत्तम मध्यम कनिष्ठ प्राणायाम	88	83	
५६ प्राणायामते प्रस्वेद होनेमें विशेषता	83	ह्य	
५७ अभ्यासका्लमं डुग्धादिनियम	18	56	
५८ प्राणवायुको शनैः २ वश करना	84		
५९ युक्तायुक्त प्राणायामीके फल	88	60	
६० नाडीश्चिद्धिके छक्षण	86	58	

# इठयोगप्रदीपिका-

	विषया.	श्लोक.	ag.
	६१ मेदके अधिक होनेमें उपाय	28	ह९
	६२ धौति आदि षट्कर्म	22	22
	६३ षदकर्मीका फल	22	90
	६४ घौतिकम्मं फलसहित	58	22 -
	६५ वस्तिकर्म गुणसहित	३६	७१
	६६ नेतिकर्भ गुणसहित	26	७४
	६७ बाटककर्म गुणसहित	38	, ७६
	६८ नौळिकर्म गुणसहित	२२	00
	६९ कपालभातिकर्भ गुणसहित	३५	96
	७० षद्कर्म प्राणायामके उपकारी	28	63
	७१ मतांतरमें षदकर्म असंमत	३७	27
	७२ गजकरणी	३८	60
	७३ प्राणायामाभ्यासकी आवश्यकता	39	68
	७४ वायु आद्की अनुक्लतामें कालनिर्भयता	८०	21
	७५ नाडीचक्रके शोधनसे स्खप्रवंक वायका प्रवेश	88	८२
	७६ मनोन्मनी अवस्थाका लक्षण 🕳	ઇર	7,2
	७७ विचित्रकुंभकोंका मुख्यफळ	83	29
	७८ कुंभकके भेद	88	63
	७९ सर्व कुंभनकी साधारण युक्ति	४५	८४
	८० सूर्यभेदन गुजसहित	86	20
	८१ (योगाभ्यासक्रम)	"	"
	A Section of the sect	५१	63
	८३ चीत्कारी कुंभक	५४	68
	८४ शीतली गुणसहित	99	98
	८५ भिक्रका पद्मासनसहित	49	90
	८६ भ्रामरीकुंभक	56	१०३
	८७ मृच्छांकुंभक	69	१०४
	८८ प्लाविनीकुंभक	90	304
	८९ प्राणायामके भेद	७१	7>
	९० हठाभ्यासतें राजयोगप्राप्तिका प्रकार	00	880
1			883
5	.१ हठयोगिसिद्धिके लक्षण	90	111

तृतीयोपदेशः ३. ९२ कुंडलीकुं सर्वयोगका आश्रय	१११ ११२ ११३
	११३
	११३
	११३
े९५ दश महामुद्रा	
	138
९७ ( अष्टिं सिद्धनके अर्थ ) पंक्ति ८ "	27
९८ महामुद्रा १०	24
९९ महामुद्राभ्यासक्रम १५ १	28
	133
	128
	१२४
१०३ इन तीनों मुद्रानका पृथक् साधनविशेष ३१	१२७
१०४ स्वरूपलक्षणसहित खेचरी	१३८
१०५ खचरांचाधन	129
१०६ खेचरीके गुज	959
	१३६
	888
१०९ मूलबंध	888
१,१० मतांतरका मूलबंध ६३	१८५
१११ म्लबंधके गुण	१४६
११२ जालंधरबंध	१४७
११३ जालंधरपदका अर्थ ७१	186
११४ जालंधरके गुण ११५ तीनों बंधनका उपयोग ७४	340
	808
	१५३
११७ गणसाहत विषयातकरणा ७९	१५३
११९ वज्रोलीके अभ्यासमें उत्तरसाधन ८७	8065
१ ० वज्रोलीके गुण	980
१२१ सहजोळी ९२	१६१
१३ अमर्गली	१६३
१३३ स्त्रीतकी वज्रलिसिम ९९	284
१२४ स्त्रीनकी वज्रलिक फलें १००	338
१२५ कंडलीकरके मोक्षद्वार, विभेदन १०४	338

#### (८) इठयोगत्रदीपिका-विषयानुक्रमणिका।

निषय.	श्लोक.	पृष्ठ.				
१२६ शक्तिचालन-( शक्तिचालनमुद्रा )	888	१७१				
१२७ कंदका स्थानस्वरूप	993	१७३				
१२८ राजयोगिवना आसनादिक व्यर्थ	१३६	१७८				
१२९ मुद्रोपदेष्टा गुरुकी स्नाघा	१३९	929				
चतुर्थोपदेशः ४.						
१३० मंगलाचरण	9	१८२				
१३१ समाधिकम	2	१८३				
१३२ समाधिपर्यायवाचक शब्द	3-8	१८६				
१३३ राजयोगकी ऋाषा	6	820				
१३४ समाधिसिद्धीसं अमरोल्यादिक सिद्धि	18	1990				
१३५ हठाभ्यासविना ज्ञान और मोक्षकी सिद्धि	नहीं१५	१९१				
१३६ प्राण और मनकी लयरीति	. 98	२०८				
१३७ प्राणके लयसूं कालका जय	१७	209				
१३८ लयका स्वरूप	38	220				
१३९ शांभवी मुद्रा	38	***************************************				
१४० उन्मनी मुद्रा	39	३३४				
१४१ उन्मनीविना और तिरवेको उपाय नहीं	-80	"				
१४२ उन्मनीभावनाकूं कालनियमका अभाव	४३	२२७				
१४३ खेचरीमुद्रा	४३	२२८				
१४४ मनके लयसं द्वैतकाभी लयहै	80	230				
१४५ नादानुसंधानरूप मुख्योपाय	६६	280				
१४६ शाभवामुद्राकरक नादानुसंघान 🗸	69	588				
१४७ पराङ्मुखीमुद्राकरके नादानुसंधान 🗸	53	२ ४२				
१४८ नाद्की चार अवस्था	58	77				
१४९ आरंभावस्था	90	583				
१५० घटावस्था	65	र ४४४				
१५१ परिचयावस्था	७४	३४५				
१५२ निष्पत्तिअवस्था 🗸	30	३४६				
१५३ प्रत्याहाराद् क्रमकरके समाधि	65	\$86				
१५४ नानाप्रकारके नाद्	24	२५१				
१५५ उन्मनीअवस्थामें योगीकी स्थिति	१०६	263				
१५६ योगीनकुं ही ज्ञानमाप्ति	888	286				
इति हरयोगप्रदीपिकाविषयानकमणिका समाप्ता ।						

# अथ हरयोगप्रदीपिका.

# संस्कृतटीका-भाषाटीकासमेता।

प्रथमोपदेशः १

श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ॥ विश्राजते प्रोन्नतराजयोग-मारोडुमिच्छोरिघरोहिणीव ॥ १ ॥

गुरुं नत्वा शिवं साक्षाद्वह्यानंदेन तन्यते ॥
हठपदीपिकाज्योत्स्ना योगमार्गप्रकाशिका ॥ १ ॥
इदानींतनानां सुवोधार्थमस्याः सुविज्ञाय गोरक्षसिद्धांतहार्दम् ।
मया मेरुशास्त्रिप्रसुख्याभियोगात्स्फुटं कथ्यतेऽत्यंतगूढोऽपिभावः २ ॥
सुमुक्षुजनहितार्थं राजयोगद्वारा कैवल्यफलां हठपदीपिकां विधित्सुः
परमकारुणिकः स्वात्मारामयोगींद्रस्तत्पत्यूहानेवृत्तये हठयोगप्रवर्तकश्रीमदादिनाथनमस्कारलक्षणं मंगलं तावदाचराति—श्रीआदिनाथायत्यादिना ॥ तस्मे श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तित्यव्यः । आदिश्रासो नाथश्च आदिनाथः सर्वेश्वरः शिव इत्यर्थः । श्रीमान् आदिनाथः तस्मे श्रीआदिनाथाय । श्रीशब्द आदिर्यस्य सः श्रीआदिः
श्रीआदिश्वासो नाथश्च श्रीआदिनाथः तस्मे श्रीआदिनाथाय । श्रीनाथाय विष्णव इति वार्थः । श्रीआदिनाथायेत्यत्र यणभावस्तु 'अपि
मापं मपं कुर्याच्छंदोभंगं त्यजेदिरास् ' इति च्छंदोविदां संप्रदाया-

दुचारणसोष्ठवाचेति बोध्यम् । वस्तुतस्तु असंहितपाठस्वीकारापेक्षया श्रीआदिनाथायेति पाठस्वीकारेऽप्रवृत्तनित्यविध्युद्देश्यतावच्छेदकाना-कांतत्वेन परिनिष्ठितत्वसंभवात् संप्रत्युदाहतदृष्टांतद्रयस्यापीद्यविषयवे-षम्यान्नित्यसाहित्यभंगजनितदोषस्य शाब्दिकाननुमतत्वाचासंसृष्टवि-धयांशतारूपदोषस्य साहित्यकारैरुक्तत्वेऽपि कचित्तेरपि स्वीकृतत्वेन द्याब्दिकाचार्यरेकाजित्यादी कर्मधारयस्वीकारेण सर्वथानादृत्वाच लाववातिशय इति सुधियो विभावयंतु । नमः प्रद्वीभावोऽस्तु । प्रार्थ-नायां छोट् । तस्मे कस्मे इत्यपेक्षायामाह-येनेति । येन आदिनाथेन उपदिष्टा गिरिजाये हठयोगविद्या हश्च ठश्च हठी सूर्यचंद्री तयोयींगो इठयोगः । एतेन हठशब्दवाच्ययोः सूर्यचंद्राख्ययोः प्राणापानयोरैक्य-लक्षणः प्राणायामो हठयोग इति हठयोगस्य लक्षणं सिद्धम् । तथा चोक्तं गोरक्षनाथेन सिद्धसिद्धांतपद्धतौ-"हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकार-अंद्र उच्यते । स्याचंद्रमसोयाँगाद्धठयोगो निगद्यते ॥ '' इति । तत्य-तिपादिका विद्या हठयोगविद्या हठयोगशास्त्रमिति यावत् । गिरि-जाये आदिनाथकृतो हठविद्योपदेशो महाकालयोगशास्त्रादौ प्रसिद्धः। प्रकर्षेण उन्नतः प्रोन्नतः मंत्रयोगहठयोगादीनामधरभूमीनामुत्तरभू-मित्वाद्राजयोगस्य प्रोन्नतत्वम् । राजयोगश्च सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणोऽ-संप्रज्ञातयोगः । तिमच्छोर्भुमुक्षोरिधरोहिणीव अधिरुह्यतेऽनयेत्यधिरो-हिणी निःश्रेणीव विभाजते विशेषेण भाजते शोभते । यथा पोन्नत-सौधमारोद्धमिच्छोरधिरोहिण्यनायासेन सौधपापिका भवति एवं हठ-दीपिकापि पोन्नतराजयोगमारोडुमिच्छोरनायासेन राजयोगपापिका अवतीति । उपमालंकारः । इंद्रवज्राख्यं वृत्तम् ॥ १ ॥

नत्वा साम्बं ब्रह्मरूपं भाषायां योगबोधिका ॥ भया मिहिरचंद्रेण तन्यते इठदीपिका ॥ १॥

मोक्षके अभिलाषी जनोंके हितार्थ राजयोगकेदारा मोक्ष है फल जिसका ऐसी हठयोगप्रदीपिकाको रचतेहुये परमदयालु स्वात्माराम योगींद्र प्रंथमें विप्तनिवृत्तिके लिये हठयोगकी प्रवृत्तिके कर्ता जो श्रीमान् आदिनाथ (शित्र)

जी हैं उनके नमस्काररूप मंगलको प्रंथके प्रारंभमें करते हैं कि, श्रीमान जो आदिनाथ अर्थात् सनातन स्वामी शिवजी हैं उनको नमस्कार हो अथवा श्रीरान्द है आदिमें जिसके ऐसा जो नाथ ( विष्णु ) वा श्रीलक्ष्मीसे युक्त जो नाथ विष्णु हैं उनके अर्थ नमस्कार हो । कदाचित् कहो कि, श्रीआदिनाधाय इस पदमें श्रीशब्दके ईकारको इस सूत्रसे यकार क्यों नहीं होता सो ठीक नहीं, क्योंकि छंदके ज्ञाताओंका यह संप्रदाय है कि, चाहै मार्क स्थानमें भी मपपदको छिखै परंतु छंदका भंग न करै और उचारण करनेमें भी सुगमताहै इससे सूत्रसे प्राप्तभी यक्तार प्रंथकारने नहीं किया सिद्धांत तो यहहै कि, श्री आदिनाथाय इसपाठकी अपेक्षा श्र्यादिनाथाय यह पाठ लाववसे युक्तहै क्योंकि आदिनाथाय इस पाठमें व्याकरणके किसी सृत्रकी प्राप्ति नहीं है इससे यह परिनिष्ठित ( सिद्ध हुआ ) है और श्रीआदिनाधाय इस पाठमें 'इकोयणचि' इस सूत्रकी प्राप्तिकी शंका बनी रहतीहै-और जो दो दृष्टान्त दिये हैं ( माष मष-उचारणमें सुगमता ) वे भी ऐसे विषयसे विषम हैं अर्थात् सूत्रकी प्राप्तिको नहीं हटा सकते और व्याकरणशास्त्रके ज्ञाता साहित्य ( छंद ) के भंगका जो दोष उसको नहीं मानते-और असंमृष्ट (शास्त्रसे अशुद्ध ) विधानरूप दोष यद्यपि साहित्यके रचनेवालोंने कहाहै तथापि कहीं र उन्होंने भी मानाहै-और व्याक-रणशास्त्रके आचार्यांने ( एकोज् ) इस पाठके स्थानमें कर्मधारय समास करके ( ए.नाज् ) असंसृष्ट विचानको नहीं माना है-इतसे श्यादिनाथाय इस पाठमेंही लावव है इस बातका बुद्धिमान् मनुष्य विचार करी-ताल्प्य यह है कि, उस आदिनाथको नमस्कारहैं जिसने पार्वतीके प्रति हठयोग विद्याका उपदेश किया और जिसप्रकार शिवजीने पार्वतीके प्रति हठयोगका उपदेश किया है वह प्रकार महाकाल योगशास्त्रमें प्रसिद्धहै और हठयोगविद्या शब्दका यह अर्थ है कि, ह ( सूर्य ) ठ ( चंद्रमा ) इन दोनोंका जो योग ( एकता ) अर्थात् सूर्यचंद्रमारूप जो प्राण अपान हैं उनकी एकतासे जो प्राणायाम वह हठयोग कहाताहै सोई निद्धितिद्वांतपद्धितमें गोरक्षनाथ आचार्यने इस वचनसे कहाहै कि, हकारसे सूर्य और ठकारसे चंद्रमा कहा जाताहै सूर्य और चंद्रमाके योगसे हठयोग कहाताहै-उस हठयोगका जिससे प्रतिपादनहो उस विद्याको

हठयोगिविद्या कहते हैं अर्थात् हठयोगशास्त्रका नाम हठयोगिविद्या हैं—और बह हठयोग विद्या सबसे उत्तम जो राजयोग अर्थात् संपूर्ण दृत्तियोंका निरोधक्त्य जो असंप्रज्ञातदक्षण समाधिहै उसके अभिद्याषी मुमुक्षुको अधिरो-हिणी (नसैनी) के समान विराजती है जैसे ऊँचे महत्वपर विना परिश्रमही नसैनी पहुँचा देती है, इसीप्रकार यह हठयोगिविद्याभी सर्वोत्तम राजयोगपर चढनेके दिये मुमुक्षुको अनायाससे राजयोगमें प्राप्त कर देतीहै—इस स्ठोकमें उपमा अलंकार और इंद्रवज्ञाद्यंद है—भावार्थ—यह है कि, जिस श्रीआदिनाथ (शिवजी) ने पार्वतीके प्रति वह हठयोगिविद्या कही है जो सर्वेत्तम राजयोगपर चढनेके लिये अधिरोहिणीके समान है उस श्रीआदिनाथको नमस्कार हो अर्थात् उसको नमस्कार करताहूं ॥ १॥

# प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना ॥ केवळं राजयोगाय इठविद्योपदिश्यते ॥ २ ॥

एवं परमगुरुनमस्कारलक्षणं मंगलं कृत्वा विद्यवाहुल्ये मंगलवाहुल्यस्याप्यपेक्षितत्वात्त्वगुरुनमस्कारात्मकं मंगलमाचरह्य ग्रंथस्य विषयप्रयोजनादीन्प्रदर्शयित—प्रणम्येति ॥ श्रीमंतं गुरुं श्रीगुरुं नाथं श्रीगुरुनाथं स्वगुरुमिति यावत् । प्रणम्य प्रकर्षण भक्तिपूर्वकं नत्वा स्वात्मारामेण योगिना योगोऽस्यास्तीति तेन । केवलं राजयोगाय केवलं राजयोगार्थं हठविद्योपदिश्यत इत्यन्वयः । हठविद्याया राज्योग एव मुख्यं फलं नं सिद्धय इति केवलपदस्याभिपायः । सिद्ध- यस्त्वानुषंगिकयः । एतेन राजयोगफलसाहितो हठयोगोऽस्य ग्रंथस्य विषयः । राजयोगद्वारा केवल्यं चास्य फलम् । तत्कामश्चाधिकारी । ग्रंथविषययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः संवंधः । ग्रंथस्य केवल्यस्य च प्रयोज्यप्रयोजकभावः संवंधः । ग्रंथाभिध्यस्य सफल्योगस्य केवल्यस्य च साध्यसाधनभावः संवंधः । ग्रंथाभिध्यस्य सफल्योगस्य केवल्यस्य च साध्यसाधनभावः संवंधः इत्युक्तम् ॥ २ ॥

आषार्थ-इसप्रकार परमगुरुको नमस्कार करके अधिक विद्वींकी आशंकामें अधिकही मंगलकी अपेक्षा होती है इस अभिप्रायसे अपने गुरुके नमस्कार इद मंगळको करते हुये अंथकार अंथके विषय, संबंध, प्रयोजन, अधिकारियोंको दिखाते हैं कि, श्रीमान् जो अपने गुरुनाथ (स्वामी) हैं उनको भिक्तपूर्वक नमस्कार करके स्वात्माराम नामका जो में योगी हूँ वह केवळ राजयोगकी प्राप्तिके ळिये हठविद्याका उपदेश (कथन) करता हूं—अर्थात हठविद्याका मुख्य पत्र केवंछ राजयोगही हैं। सिद्धि नहीं है, क्योंकि सिद्धि तो यत्नके विना प्रसंगसेही होजाती है—इससे यह सूचित किया कि, राजयोगरूप फळसहित हठयोग इस प्रथका विषय है और राजयोगद्वारा मोक्ष फळ (प्रयोजन) है— और फळका अभिलापी अधिकारी हैं और ग्रंथ और विषय प्रतिपाद्य हैं और प्रथं और विषय प्रतिपाद्य हैं और अंथ और विषय प्रतिपाद्य हैं और अंथ और विषय प्रतिपाद्य हैं और अंथ और मोक्षका प्रयोजकभाव संबंध हैं क्योंकि ग्रंथभी हठयोगकेद्वारा मोक्षका कारण है—और ग्रंथ और अभिधेय (विषय) फळ योग और मोक्ष इनका साध्यसाधनमाव संबंध है ये सब बात इस क्लोकमें कही हैं। भावार्थ—यह हैं कि, मैं स्वात्माराम योगी अपने श्रीगुरुनाथको मळीप्रकार नमस्कार करके केवळ राजयोगके छिये हठविद्याका उपदेश करताहूँ॥ २॥

# भ्रांत्या बहुमतध्वांते राजयोगमजानताम् ॥ इठपदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ॥ ३ ॥

ननु मंत्रयोगसग्रणध्यानिर्गुणध्यानमुद्रादिभिरेव राजयोगसिद्धी किं हठिवद्योपदेशेनेत्याशंक्य व्युत्थितिचत्तानां मंत्रयोगादिभी राज-योगसिद्धेहठयोगादेव राजयोगसिद्धि वदन् य्रंथं प्रतिजानीते—भ्रां-त्यिति ॥ मंत्रयोगादिवहुमतरूपे ध्वांते गाढांधकारे या भ्रांतिर्भ्रम्-स्तया । तैस्तैरुपाये राजयोगार्थ प्रवृत्तस्य तत्रतत्र तद्छाभात् ॥ वक्ष्यति च 'विना राजयोगम्' इत्यादिना । तथा राजयोगं अजानतां न जानंतीत्यजानंतः तेषाम् अजानतां पुंसां राजयोगज्ञानिमिति शेषः । करोतीति करः कृपायाः करः कृपाकरः । कृपाया आकर इति वा । ताहशः । अनेन हठप्रदीपिकाकरणे अज्ञानुकंपैव हेतुरित्युक्तम् । स्वात्म-

न्यारमते इति स्वात्मारामः हठस्य हठयोगस्य भदीपिकेव भकाशक-त्वात् हठमदीपिका ताम् । अथवा हठ एव मदीपिका राजयोगमका-शकत्वात्। तां धत्ते विधत्ते करोतीति यावत्। स्वात्माराम इत्यनेन ज्ञानस्य सप्तमभूमिकां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युक्तम् । तथा च श्रुति:-'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति । सप्त भूमयश्चोक्ता योगवासिष्ठे-'ज्ञानभूमिः शुभेच्छारव्या प्रथमा समुदा-हता । विचारणा दितीया स्यानृतीया तनुमानसा ॥ सत्त्वापत्तिश्च-तुथीं स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका । परार्थाभाविनी पष्टी सप्तमी तुर्यगाः स्मृता ॥ ' इति । अस्यार्थः । शुभेच्छा इत्याख्या यस्याः सा शुभे-च्छाख्या । विवेकवैराग्ययुता शमादिपृर्विका तीव्रमुस्सा प्रथमा ज्ञानस्य भृमिः भूमिका उदाहता कथिता योगिभिरिति दोषः १। विचारणा श्रवणमननात्मिका द्वितीया ज्ञानभूमिः स्यात् २ । अने-कार्थमाहकं मनो यदाऽनेकार्थान्परित्यज्य सदेकार्थवृत्तिप्रवाहवद्भवति तदा तनुमानसे यस्यां सा तनुमानसा निदिध्यासनरूपा तृतीया ज्ञानभूमिः स्यादिति शेषः ३। इमास्तिस्रः साधनभूमिकाः । आसु भूमिषु साधक इत्युच्यते । तिस्भिर्भूमिकाभिः शुद्धसत्वेंऽतःक-रणेडहं ब्रह्माऽस्मीत्याकारिकाऽपरोक्षवृत्तिरूपा सत्त्वापत्तिनामिका चतुर्थी ज्ञानभूमिः स्यात् । चतुर्थीयं फलभूमिः । अस्यां योगी ब्रह्म-विदित्युच्यते । इयं संमज्ञातयोगभूमिका ४ । वक्ष्यमाणास्तिस्रोऽसंप-ज्ञातयोगभूमयः । सत्त्वापत्तेरनंतरा सत्त्वापत्तिसंज्ञिकायां भूमावुपस्थि-तासु सिद्धिषु असंसक्तस्यासंसिक्तनामिका पंचमी ज्ञानभूमिः स्यात्। अस्यां योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते । एतां भूमिं प्राप्तो ब्रह्मविद्वर इत्यु-च्यते ५ । परब्रह्मातिरिक्तमर्थं न भावयति यस्यां सा परार्थाभाविनी षष्ठी ज्ञानभूमिः स्यात् । अस्यां योगी परप्रबोधित एव व्युत्थितो भवति । एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरीयानित्युच्यते ६ । तुर्यगा नाम सप्तमी भूमिः स्मृता । अस्यां योगी स्वतः परतौ वा न व्युत्थानं प्राप्नोति । एतां पाप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते । तत्र प्रमाणभूता श्रुतिरत्रैवोक्ता ॥

'पूर्वमयमेव जीवन्मुक्त इत्युच्यते, स एवाऽत्र स्वात्मारामपदेनोक्तः । इत्यलं बहुक्तेन ॥ ३ ॥

भाषाथ-कदाचित् कहो कि, मंत्रयोग सगुणध्यान-निर्गुणध्यान-मुद्रा भादिसेही राजयोग सिद्ध होजायगा हठयोगिवद्याके उपदेशका क्या फल हैं सो ठीक नहीं, क्योंकि जिनका चित्त ब्युत्थित ( चंचल ) है उनको मंत्रयोग भादिसे राजयोगकी सिद्धि नहीं होसकती इससे हठयोगके द्वाराही राजयोगकी सिद्धिको कहते हुये प्रथकार प्रथके आरंभकी प्रतिज्ञा करते हैं कि, मंत्रयोग आदि अनेक मतोंका जो गाढ अंधकार उसके विषे भ्रमसे राजयोगको जो नहीं जानते हैं उनकोभी राजयोगका ज्ञान जिससे हो ऐसी हठयोगप्रदीपिकाको क्रपाके कर्ता (दयालु) स्वात्मारामयोगी अर्थात् अपने आत्मामें रमणके कर्ता स्वात्माराम-करते हैं अर्थात् हठयोगके प्रकाशक ग्रंथको रचते हैं। अथवा राजयो-गके प्रकाशक जो हठ ( सूर्य चंद्र ) उनके प्रकाशक ग्रंथको रचते हैं-स्यात्मा-राम इस पदसे यह सूचित किया है कि, ज्ञानकी सातवीं भूमिकाको प्राप्त ब्रह्मव-ताओं में श्रेष्ठ है सोई इस श्रुतिमें लिखा है कि, आत्मामें है कीडा और रमण जिसका ऐसा जो क्रियावान् है वह ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ है और सात भूमि योगकी वासिष्टमें कही है कि, द्युभेच्छा १, विचारणा २, तनुमानसा ३, सत्त्वापत्ति ४, असंसक्ति ५, परार्थभाविनी ६, तुर्थगा ७ ये सात ज्ञानभूमि योगकी हैं इन सातों में शुभेच्छा है नाम जिसका और विवेक और वैराग्यसे युक्त और शमदम भादि हैं पूर्व जिसके और तीव्र ( प्रवल ) है मोक्षकी इच्छा जिसमें ऐसी ज्ञानकी भूमि प्रथम योजीजनोंने कही है १-और श्रवण मनन आदिरूप विचारणा ज्ञानकी दूसरी भूमि होती है २-अनेक विषयोंका प्राहक मन अनेक विषयोंकी त्यागकर एक ( ब्रह्म ) विषयमें ही वृत्तिके प्रवाहवाला होजाय तनु ( सूक्ष्म ) है मन जिसमें ऐसी वह निद्ध्यासनरूप तनुमानसा नामकी तीसरी भूमि होती है ३ ये तीन साधनभूमि कहाती हैं, इन भूमियोंमें योगी साधक कहाताहै। इन तीन भूमियोंसे शुद्ध हुये अंतः करणमें में त्रसहूँ यह जो ब्रह्माकार अपरोक्ष ( प्रत्यक्ष ) वृत्तिहै वह सत्त्वापत्ति नामकी चौथी भूमि कहाती है अ इन चारोंसे अगली जो तीन सूमि है वे असंप्रज्ञात योगसूमि कहाती हैं—सन्वा-पत्तिके अनंतर इसी सन्वापित सूमिमें उपस्थित (प्राप्त ) हुई जो सिद्धि हैं उनमें असंसक्त योगीको असंसिक्त नामकी पांचवी ज्ञानसूमि होती है । इस सूमिमें योगी स्वयंही ब्युत्थित होता (उठता है और वह ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ कहाताहै । ९ जिसमें परब्रह्मसे भिन्नकी भावना (बिचार) न रहे वह पर्धि-भाविनी नामकी छठी भूमि होतीहै—इसमें योगी दूसरेके उठानेसेही उठाता है और ब्रह्मज्ञानियोंमें अत्यंत श्रेष्ठ कहाताहै ६—और जिसमें तुरीय पदमें योगी पहुँचजाय वह तुर्थमा नामकी सातवीं ज्ञानभूमि है इसमें योगी स्वयं वा अन्य पुरुषसे नहीं उठता है इसमें प्राप्त हुआ योगी ब्रह्मज्ञानियोंमें अत्यंत श्रेष्ठ-सेभी उत्तम कहाताहै इसमें प्रमाणरूप यह श्रुतिही कहीहै कि, पहिली मूमियोंमें इसकोही जीवन्मुक्त कहते हैं और उसकोही इस सातवीं भूमिमें खात्माराम कहते हैं—इसप्रकार अधिक कहनेसे पूर्ण हुये अर्थात् अधिक नहीं कहते हैं । भावार्थ यह है कि, अनेकमतोंके कियेद्वये अंधकारमें राजयोगको जो नहीं जानसकते उनके लिये दयाके समुद्र स्वात्माराम "हठयोगप्रदीपिका" को करते हैं ॥ ३॥

# इठविद्यां हि मत्स्येंद्रगोरक्षाद्या विजानते ॥ स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्त्रसादतः॥४॥

महत्सेवितत्वाद्धठिवद्यां प्रशंसन्स्वस्थापि महत्सकाशाद्धठिवद्याला-भाहीरवं द्योतयति—हठिवद्यां हीति ॥ हीति प्रसिद्धं मत्स्येद्दश्च गोरक्षश्च तो आद्यो येषां ते मत्स्येद्दश्च शाद्धश्च तो आद्यो येषां ते मत्स्येद्दश्च आद्यश्च आद्यश्च विद्यां हठयोगिवद्यां विद्यायभर्तृहरिगोपीचंद्रप्रभृतयो प्राह्याः । ते हठिवद्यां हठयोगिवद्यां विद्यात्मते विशेषण साधनलक्षणभेद्फलेर्जानंतीत्यर्थः । स्वात्मारामः स्वात्मारामनामा । अथवा शब्दसमुचये । योगी योगवान् तत्प्र-साद्तः गोरक्षप्रसादाज्ञानीत इत्यन्वयः । परममहता ब्रह्मणापीयं विद्या सेवितेत्यत्र योगियाज्ञवलक्यस्मृतिः—' हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः । 'इति वक्तृत्वं च मानसव्यापारपूर्वकं भव-

तीति मानसो व्यापारोऽर्थादागमः । तथा च श्रुतिः-'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वद्ति ' इति । भगवतेयं विद्या भागवतानुद्धवा-दीन् मत्युक्ता । शिवस्तु योगी मसिद्ध एव । एवं च सर्वोत्तमैर्ब्रह्म-विष्णुशिवैः सेवितेयं विद्या । न च ब्रह्मस्त्रकृता व्यासेन योगी निराकृत इति शंकनीयम् । मक्वातस्वातं व्यविद्विभेदांशमात्रस्य निरा-करणात्। न तु भावनाविशेषरूपयोगस्य । भावनायाश्च सर्वसंम-तत्वात्तां विना सुखस्याप्यसंभवात् । तथोक्तं भगवद्गीतासु-'नास्ति चुद्धिरयुक्तस्य न चाऽयुक्तस्य भावना । न चाभावयतः शांतिरशां-तस्य कुतः सुखम् ॥ 'इति । नारायणतीर्थेरप्युक्तम्-' स्वातं च्यस-त्यत्वसुखं प्रधाने सत्यं च चिद्धेदगतं च वाक्यैः । व्यासो निराचष्ट न भावनारव्यं योगं स्वयं निर्भितज्ञह्मसूत्रेः ॥ अपि चात्मप्रदं योगं व्याकरोन्मतिमान्स्वयम् । भाष्यादिषु ततस्तत्र आचार्यप्रमुखैर्मतः ॥ मतो योगो भगवता गीतायामधिकोऽन्यतः । कृतः गुकादिभिस्त-स्मादत्र संतोऽतिसाद्राः ॥ ' इति । ' वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्युण्यफलं प्रदिष्टम् । अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थान-सुपैति चाद्यम् ॥ 'इति भगवदुक्तेः । किं वहुना ' जिज्ञासुरपि यो-गस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते । इति वदता भगवता योगजिज्ञासोरप्यौ-त्कृष्टचं वर्णितं किस्त योगिनः । नारदादिभक्तश्रेष्ठैर्याज्ञवलक्यादिज्ञा-निमुख्येश्वास्याः सेवनाद्रक्तज्ञानिनामप्यविरुद्धेत्युपरम्यते ॥ ४ ॥

भाषार्थ-महान् पुरुषोंके माननेसे हठिवद्याकी प्रशंसा करते हुये प्रथकार अपनेकोभी महत्पुरुषोंसे ही हठिवद्याका लाभ हुआहै इससे अपनाभी गौरव (बडाई) द्योतन करते हैं कि, मत्स्येंद्र और गौरक्ष आदि हठिवद्याको निश्च- यसे विशेषकर जानते हैं यहां आदशब्दके पढनेसे जालंधरनाथ, भर्तृहार, गोपीचंद आदि भी जानते हैं यह सूचित किया-अर्थात् साधन, लक्षणभेद, फल इनको भी जानते हैं अथवा स्वात्माराम योगी भी गौरक्षआदिके प्रसादसे हठिवद्याको जानता है-और सबके परम महान् ब्रह्मानेभी इस विद्याका सेवन कियाहै इसमें यह योगीयाइवल्क्यकी स्मृति प्रमाण है कि, सबसे पुराने योगके

वक्ता हिरण्यगर्भ हैं अन्य नहीं हैं-और कहना तभी होता है जब मानसन्यापार ( मनसे विचार ) पहिले होचुका हो वह मानसन्यापार आगम (वेद ) लेना सोई इस श्रुतिमें लिखा है कि, जिसका मनसे ध्यान करता है उसकोही वाणीसे कहता है-भगवान्ने भी यह विद्या उद्भवआदिभागवतोंके प्रति कहींहै और शिवजी तो योगी प्रसिद्धही हैं-इससे त्रह्मा विष्णु शिव इन्होंनेभी इस हठयोग-विद्याका सेवन कियाहै-कदाचित् कहो कि, ब्रह्मसूत्रोंके कर्ता व्यासने योगका खंडन कियाहै सो ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृतिको स्वतंत्र मानते हुये उन्होंने भेदरूप आशंकाका ही खंडन कियाहै कुछ भावना विशेषरूप योगका खंडन नहीं कियाहै-और भावना तो व्यासको भी इससे संमतहै कि, भावनाके विना सुख नहीं होसकता सोई भगवद्गीतामें कहा है जो योगी नहीं है उसको बुद्धि नहीं है और न उसको भावना होती है-और भावनाके विना शांति नहीं होती और शांतिसे योग जिसको नहीं उसको सुख कहाँसे होसकताहै। नारायणर्ताथोंने भी कहा है कि, स्वतंत्र सत्यता है मुख्य जिसमें ऐसा सत्य जो चेतनके भेदसे प्रधान (प्रकृति) में प्रतीत होताहै उसका खंडन वाक्योंसे व्यासजीने कियाहै कुछ अपने रचेहुये ब्रह्मसूत्रोंसे वर्णन किये भावना नामके योगका खंडन व्यासजीने नहीं कियाहै। और आत्माके प्रापकयोगका कथन बुद्धिमान् व्यासर्जाने स्वयं किया है और तिसीसे भाव्य आदिमें आचार्यआदिकोंने मानाहै और भगवान् श्रीकृष्ण-चंद्रने गीतामें अधिक योग मानाहै-और शुकदेव आदिकोंने भी योगको रचाहै-तिससे इस योगमें बहुत संतोंका अत्यन्त आदरहै-और भगवान्ने गीतामेंभी कहाहै कि, वेद-यज्ञ-तप-और दान इनमें जो पुण्य फल कहाहै-उस सबको योगी इस योगको जानकर छंघनकरताहै-और उत्तम जो सनातनका स्थान ( ब्रह्म ) है उसको प्राप्त होताहै-और योगको जाननेका अभिलाधी भी शब्द-बहासे अधिक होताहै यह कहते हुए भगवान्ने योगके जिज्ञासुको भी उत्तम वर्णन कियाहै-योगी तो उत्तम क्यों न होगा और मक्तोंमें श्रेष्ठ नारद आदि मुनियोंमें मुख्य याज्ञवल्क्य आदिकोंने भी इस हठविद्याका सेवन कियाहै इससे भक्त और ज्ञानियोंकाभी इस विद्याके संग कुछ विरोध नहीं-इससे अधिक वर्णन करनेसे उपरामको प्राप्त होते हैं। भावार्थ-यह है कि, मल्स्येन्द्र और गोरक्षनाथ

भादि हठविद्याको जानतेहैं और उनको क्रवासे स्वात्माराम योगी (मैं) जानताहूँ ॥ ४ ॥

# श्रीआदिनाथमत्स्येद्रशाबरानंदभैरवाः ॥ चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ॥ ५ ॥

हठयोगे प्रवृत्तिं जनायतुं हठविद्यया प्राप्तेश्वर्यान्सिद्धानाह-श्री-आदिनाथेत्यादिना ॥ आदिनाथः शिवः सर्वेषां नाथानां प्रथमो नाथः । ततो नाथसंप्रदायः प्रवृत्त इति नाथसंप्रदायिनो वदंति । मत्स्येंद्राख्यश्च आदिनाथशिष्यः । अत्रेवं किंवदंती । कदाचिदादि-कस्मिश्रिद्यीपे स्थितः तत्र विजनमिति मत्वा गिरिजाये योगमुपदिष्टवान् । तीरसमीपनीरस्थः कश्चन मत्स्यः तं योगोपदेशं श्रुत्वा एकामचित्तो निश्चलकायोऽवतस्थे। तं तादृशं दृष्ट्वानेन योगः श्रुत इति तं मत्वा कृपाछरादिनाथो जलेन प्रोक्षितवान् । स च मोक्षणमात्रादिव्यकायो मत्स्येंद्रः सिद्धोऽभूत् । तमेव मत्स्येंद्रनाथ इति वदंति । शाबरनामा कश्चित्सिद्धः । आनंदभैरवनामान्यः । एतेषामितरेतरद्वंदः । छिन्नहस्तपादं पुरुषं हिंदुस्थानभाषायां चौरं-गीति वदंति । कदाचिदादिनाथाल्ब्धयोगस्य भुवं पर्यटतो मत्स्येद्र-नाथस्य कृपावलोकनमात्रात्कुत्रचिद्रण्ये स्थितश्चौरंग्यंकुरितहस्तपादो बभूव । स च तत्कृपया संजातहस्तपादोऽहमिति मत्वा तत्पादयोः यणिपत्य ममानुग्रहं कुर्विति प्राधितवान् । मत्स्येंद्रोपि तमनुगृहीत-वान् तस्यानुयहाचौरंगीति प्रासिद्धः सिद्धः सोऽभूत् । मीनो मीन-नाथः गोरक्षो गोरक्षनाथः विरूपाक्षनामा विलेशयनामा च । चौरंगी प्रभृतीनां इंइसमासः ॥ ५॥

भाषार्थ—अब हठयोगमें श्रोताओं का प्रवित्तिक हेतु उन सिद्धोंका वर्णन करते हैं कि, जिनको हठविद्यासे ऐश्वर्य मिलाहै और श्रीआदिनाथ अर्थात् सब नाथों में प्रथम शिवजी, शिवजीसेही नाथसंप्रदाय चलाहै। यह नाथसंप्रदायी लोग कहतेहैं—और उनके शिष्य मत्स्येन्द्र—यहां यह इतिहास है किसी समयमें आदि-

नाथ किसी द्वीपमें स्थित थे वहां जनरहित देश समझकर पार्वतांके प्रति योगका उपदेश करतेथे तारके समीप जलमें टिकाइआ कोई मस्य उस योगोपदेशको सुनकर एकाप्रचित्त होकर निश्चल देह टिकतामया। निश्चलकाय उस मस्यको देखकर और इसने योगका श्रवण किया यह मानकर कुपाल आदिनाथजीने उसके ऊपर जलका सिंचन किया प्रोक्षण करनेसेही वह मस्येन्द्र सिद्ध होगया उसकोही मस्येन्द्रनाथ कहतेहैं। और शावर नामका सिद्ध और आनंद्रमेख और चौरंगी सिद्ध किसी समय आदिनाथसे मिलाहै योग जिनको ऐसे योगेन्द्रनाथ सूमिमें रटतेथे उन्होंने कुपासे किसी वनमें टिकेइल् चौरंगीको देखा उनके देखनेसेही चौरंगीके हाथ और पाद जम आये क्योंकि हिंदुस्थानकी भाषामें जिसके हाथ पैर कटजांय उसे चौरंगी कहते हैं वह चौरंगी इन्हींकी कुपासे मेरे हाथ पैर इए हैं यह मानकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके यह प्रार्थना करता भया कि, मेरे ऊपर अनुप्रह करो। मस्येन्द्रने भी उसके ऊपर अनुप्रह किया उससे वह चौरंगी नामका सिद्ध प्रसिद्ध भया। और मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्षनाथ, विरूपाक्षनाथ, विरूपाक्षनाथ ये सिद्ध हठयोगविद्यांके इए और ॥ ९ ॥

मंथानो भैरवो योगी सिद्धिबुद्ध कंथिडिः ॥ कोरंटकः सुरानंदः सिद्धिपाद्ध चर्पिटिः ॥ ६ ॥ कानेरी पूज्यपाद्ध नित्यनाथो निरंजनः ॥ कपाली विंदुनाथश्च काकचंडीश्वराह्मयः ॥ ७ ॥ अञ्चामः प्रभुदेवश्च घोडा चोली च टिंटिणिः ॥ भानुकी नारदेवश्च खंडः कापालिकस्तथा ॥ ८ ॥ इत्याद्यो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ॥ खंडियत्वा कालदंडं ब्रह्मांडे विचरंति ते ॥ ९ ॥ मन्थान इति ॥ मंथानः भैरवः योगीति मंथानप्रभृतीनां सर्वेषां विशेषणम् ॥ ६ ॥ कानेरीति ॥ काकचंडीश्वर इत्याह्मयो नाम

यस्य स तथा । अन्ये स्पष्टाः ॥ ७ ॥ अल्लाम इति ॥ तथाज्ञाब्दः समुचये ॥ ८ ॥ इत्याद्य इति ॥ इति पूर्वोक्ता आद्यो येवां ते तथा । आदिशब्देन तारानाथादयो याह्याः । महांतश्च ते सिद्धाश्च अमितहतैश्वर्या इत्यर्थः । इठयोगस्य मभावात्सामर्थ्यादिति हठयोग-मभावतः । पंचम्यास्तिसिल् । कालो मृत्युः तस्य दंडनं दंडः देह-प्राणिवयोगानुकूलो व्यापारः तं खंडियत्वा छित्त्वा । मृत्युं जित्वे-त्यर्थः। ब्रह्मांडमध्ये विचरंति विशेषेणाव्याहतगत्या चरंतीत्यर्थः। तदुक्तं भागवते-' योगेश्वराणां गतिमाहुरंतर्वहिस्त्रिलोक्याः पवनांत-रात्मनास्' इति ॥ ९॥

भाषार्थ-मन्यान-भैरव-सिद्ध-बुद्ध-कन्यडि-कोरंटक-सुरानंद-सिद्ध-पाद-चर्पटी-कानेरी-पूज्यपाद-नित्यनाथ-निरंजन-कपाली-विन्दुनाथ-काकचण्डीश्वर-अल्लाम-प्रमु-देव-घोडा-चोली-टिंटिणि-भानुकी-नारदेव-खण्ड कापालिक ॥ ६॥ ७॥ ८॥ इत्यादि पूर्वीक्त महासिद्ध यहां आदिपदसे तारानाथ आदि लेने हठयोगके प्रभावसे कालके दण्डको खण्डन करके अर्थात् देह और प्राण वियोगके जनक मृत्युको जीतकर ब्रह्मांडके मध्यमें विचरतेहैं अर्थात् अपनी इच्छाके अनुसार महांडमें चाहें जहां जा सकते हैं सोई भागवतमें इस वचनसे कहाहै कि, पव-नके मध्यमें हैं मन जिनका ऐसे योगीश्वरोंकी गति त्रिलोकोंके भीतर और बाहर होती है ॥ ९ ॥

# अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः॥ अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ॥ १०॥

हठस्याशेषतापनाशकत्वमशेषयोगसाधकत्वं च मठकमठरूपके-णाह-अशेषेति ॥ अशेषाः आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन त्रिविधाः । तत्राध्यात्मिकं द्विविधम् । शारीरं मानसं च तत्र शारीरं दुःखं व्याधिजं मानसं दुःखं कामादिजम् । आधिभौतिकं व्याघ्र-सर्पादिजनितम् । आधिदैविकं यहादिजनितम् । ते च ते तापाश्च नैस्तप्तानां संतप्तानां पुंसां हठो हठयोगः सम्यगाश्रीयत इति समा-

श्रयः आश्रयः आश्रयभूतो मठः मठ एव । तथा हठः अशेषयोगयु-क्तानां अशेषयोगयुक्ताः मंत्रयोगकर्मयोगादियुक्तास्तेषामाधारभूतः कमठः एवम् । त्रिविधतापतप्तानां पुंसाम् आश्रयो हठः । यथा च विश्वाधारः कमठः एवं निखिलयोगिनामाधारो हठ इत्यर्थः ॥ १०॥

भाषार्थ-अब हठयोगको संपूर्ण तार्वोक्षा नाशक और संपूर्ण योगोंका साधक मठ कमठलपसे वर्णन करते हैं कि, संपूर्ण जो आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक तीन प्रकारके ताप उनसे तपायमान मनुष्योंको हठयोग समाश्रय मठ (रहनेका घर) रूपहै। उन तार्वोमें आध्यात्मिक ताप दोप्रकारका है—शारीर और मानस। उनमें शरीरका दु:ख व्याधिसे होताहै और मनका दु:ख काम आदिसे होताहै और व्याघ्र सर्प आदिसे उत्पन्न हुए दु:खको आधिभौतिक कहतेहें और सूर्य आदि प्रहोंसे उत्पन्न हुये दु:खको आधिदैविक कहते हैं इन तीन प्रकारके तार्पोसे तसमनुष्योंको हठयोग इसप्रकार सुखदायीहै। जैसे सूर्यसे तप्यमान मनुष्योंको घर होताहै और अशेष (संपूर्ण) योगोंसे युक्त जो पुरुष उनका आधार इसप्रकार हठयोग है जैसे संपूर्ण जगत्का आधार कमठ है अर्थात् कच्छपरूप भगवान् रूप है। भावार्थ यहहै कि, संपूर्ण तार्पोसे तपाय-मान मनुष्योंका आश्रय मठरूप और संपूर्ण योगियोंका आधार (आश्रय) कमठरूप हठयोग है॥ १०॥

# इटविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ॥ भवेद्रीयवती गुप्ता निर्वीयो तु प्रकाशिता ॥ ११॥

अथाखिलविद्यापेक्षया हठविद्याया अतिगोप्यत्वमाह हठविद्येति॥
गिसिद्धमणिमाद्येश्वर्यमिच्छता यदा सिद्धि कैवल्यसिद्धिमिच्छता वांच्छता योगिना हठयोगविद्या परमत्यंतं गोप्या गोपनिया गोपनार्हास्तीति । तत्र हेतुमाह यतो ग्रुप्ता हठविद्या वीर्यवत्यप्रतिहतैश्वर्यजननसमर्था स्यात् । केवल्यजननसमर्था केवल्यसिद्धिजननसमर्था वा
स्यात् । अथ योगाधिकारी । 'जिताक्षाय शांताय सक्ताय मुक्ती
विहीनाय दोवेरसक्ताय मुक्ती । अहीनाय दोवेतरैक्ककत्रं प्रदेयो न

देशो हठश्चेतरस्मे ॥ ' याज्ञवल्क्यः- ' विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पविजितः । यमेश्च नियमेर्युक्तः सर्वसंगविवर्जितः ॥ कृतविद्यो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः । गुरुगुश्चषणरतः पितृमातृपरायणः ॥
स्वाश्रमस्थः सदाचारो विद्वद्विश्च सुशिक्षितः ॥ ' इति । 'शिश्नोद्ररतायेव न देयं वेषधारिणे' इति कुत्रचित् । अत्र योगचितामणिकाराः यद्यपि- ' बाह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीग्रद्धाणां च पावनम् । शांतये
कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये ॥ ' इत्यादि पुराणवाक्षयेषु प्राणिमात्रस्य योगेऽधिकार उपलभ्यते । तथापि मोक्षरूषं फलं योगे
विरक्तस्येव भवति । अतस्तस्येव योगाधिकार उचितः । तथा च
वायुसंहितायाम्- ' दृष्टे तथानुश्रविके विरक्तं विषये मनः । यस्य
तस्याधिकारोऽस्मिन्योगे नान्यस्य कस्यचित् ॥ ' सुरेश्वराचार्याः'इहामुत्र विरक्तस्य संसारं प्रजिहासतः । जिज्ञासोरेव कस्यापि योगेऽस्मिन्नधिकारिता ॥ ' इत्याहुः । वृद्धेरप्युक्तम्- ' नैतद्देयं दुर्विनीताय
जातु ज्ञानं गुप्तं तिद्धं सम्यक्फलाय । अस्थाने हि स्थाप्यमानेव वाचां
देवी कोपानिर्दहेन्नो चिराय ॥ ' इति ॥ ११ ॥

भाषार्थ-अन्न संपूर्ण विद्याओं को अपेक्षा हठयोग विद्याको अत्यंत गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं—सिद्ध अर्थात् अणिमा आदि ऐश्वर्य वा मोक्षके अभिलाषी योगीको हठविद्या अत्यंत गुप्त करने योग्यहै क्योंकि, गुप्त कांहुई इठिन्द्या वीर्यवाली होती है अर्थात् ऐसे ऐश्वर्यको पैदा करती है कि, जो कदा-चित् न डिगसकै और प्रकाश करनेसे वीर्यसे रहित हो जाती है अन प्रसंगसे योगके अधिकारीका वर्णन करते हैं कि जितेन्द्रिय शान्त भोगोंमें आसक्त न हो और दोषोंसे रहितहों और मुक्तिका अभिलाषी हो और दोषोंसे अन्य जो संसारके धर्म हैं उनसे हीन न हो और आज्ञाकारी हो उसको ही हठयोगिनिद्या देनी अन्यको नहीं । याज्ञवल्क्यने भी कहाहै कि, शास्त्रोक्त कर्मोंसे युक्त कामना और संकल्पसे रहित यम और नियमसे युक्त और संपूर्ण संगोंसे लार्जित और विद्यासे युक्त कोधरहित सत्य और धर्ममें परायण गुरुकी सेवामें रत पिता और साताका भक्त अपने गृहस्थ आदि काश्रममें स्थित श्रेष्ठ आचारी और विद्वानोंने

जिसको मलीप्रकार शिक्षा दी हो ऐसा पुरुष योगका अधिकारी होताहै और यह भी कहीं लिखा है कि, जो योगीका वेषधारी कामदेव और उदरके वशीभूत हो उसको योगका उपदेश न करें । इस विषयमें योगचितामणिके कर्ता तो यह कहतेहैं कि, यद्यपि इत्यादि पुराणवचनोंमें प्राणिमात्रको योगमें अधिकार मिछताहै कि, बाह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद ह्वी इनको पवित्र करनेवाला कर्मोंकी शांतिके लिये और मुक्तिके अर्थ योगसे अन्य नहीं है तो भी मोक्षरूप जो फल्रहे वह योगसे विस्क-कोही होताहै इससे विस्क्तकोही योगका अधिकार उचितहै सोई वायुसंहितामें लिखाहै कि, लौकिक और वेदोक्त विषयोंमें जिसका मन विरक्त है उसकाही इस योगमें अधिकार है अन्य किसीका नहीं है। सुरेश्वराचार्यने भी कहाहै कि, इस लोक और परलोकके विषयोंमें जो विरक्त मनुष्य संसारके त्यागका अभिजाषी है ऐसे किसीही जिज्ञासु पुरुषका योगमें अधिकारहै-इति । वृद्धोंने भी कहा है कि, यह योग दुर्विनीत (क्रोधी ) को कदाचित् न देना क्योंकि गुप्त रक्खाहुआ योग भली प्रकारके फलको देताहै और अस्थान ( कुपात्र ) में स्थापन करतेही क्रोवहुयी वाणी उसी समय दग्ध करती है कुछ चिरकालमें नहीं, भावार्थ यह है कि, सिद्धिका अभिलाषी योगी हठविद्याको भलीप्रकार गुप्त रक्खे क्योंकि गुप्त रखनेसे वीर्यवाळी और प्रकाश करनेसे वीर्यरहित होती है।। ११।

सुराज्ये धार्मिकं देशे सुभिक्षे निरुपद्वे ॥ धनुःप्रमाणपर्यतं शिलाभिजलवर्जिते ॥ एकांते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना॥ १२॥

अथ हठाभ्यासयोग्यं देशमाह सार्धन-सुराज्य इति ॥ राज्ञः कर्म भावो वा राज्यं तच्छोभनं यस्मिन्स सुराज्यस्तस्मिन्सुराज्ये। 'यथा राजा तथा प्रजा ' इति महदुक्तेः राज्ञः शोभनत्वात्प्रजानामाधि शोभनत्वं स्वितम् । धार्मिके धर्मवति । अनेन हठाभ्यासिनोऽनुकू-छाहारादिलाभः स्वितः। सुभिक्ष इत्यनेनानायासेन तल्लाभः स्वितः। निरुपद्वे चौरव्याघाद्यपद्वरहिते । एतेन देशस्य दीर्घकालवासयो-ग्यता स्विता । धनुषः प्रमाणं धनुःप्रमाणं चनुर्हस्तमात्रं तत्पर्यंतं

शिलाग्निजलवर्जिते शिला प्रस्तरः अग्निवंहिः जलं तोयं तैर्वर्जित रहिते यत्रासनं ततश्चतुर्हस्तमात्रे शिलाग्निजलानि न स्युरित्यर्थः । तेन शितां विजने । अनेन जनसमागमा-भावात्कलहाद्यभावः स्वितः । एकांते विजने । अनेन जनसमागमा-भावात्कलहाद्यभावः स्वितः । जनसंमर्दे तु कलहादिकं स्यादेव । तदुक्तं भागवते—'वासे बहूनां कलहो भवेदार्ता द्वयोरिप दिते । ताहको मिठिकामध्ये । अल्पो मठो मिठिका । अल्पीयिस कन् । तस्याः मध्ये हठयोगिना हठाभ्यासी योगी हठयोगी तेन । शाकपार्थिवादिन्वत्समासः । स्थातव्यं स्थातुं योग्यम् । मठिकामध्य इत्यनेन शीता-तपादिजनितक्केशाभावः स्वितः । अत्र 'युक्ताहारविहारेण हठयोगस्य सिद्धये । 'इत्यर्धं केन्चितिक्षप्तत्वान्न व्याख्यातम् । मृलक्षोन्वामय स्थात्वाम् । एवमप्रेऽपि ये मया न व्याख्याताः श्लोका हठप्रदीपिकायामुपलभ्येरस्ते सर्वे क्षिप्ता इति बोद्धव्यम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—अब डेढ इलोकसे हठयोगाभ्यासके योग्यदेशका वर्णन करतेहें कि, जिस देशमें अच्छा राजा हो क्योंकि जैसा राजा वैसीही प्रजा इस महान् पुरुषोंके वचनसे शोभन राजाके होनेपर प्रजाभी शोभन होगी यह सूचित समझना । और जो देश धर्मधान् हो इससे यह सूचित किया कि, धार्मिक देशमें हठयोगके अभ्यासीको अनुकूल भोजन आदिका लाभ होता रहेगा और जिस देशमें भिक्षा अच्छी मिलती हो इससे यह सूचित किया कि, विना पिश्रिम मिक्षाका लाभ होगा और जो चोर और व्याघ्र आदिके उपद्रवोंसे रहित हो इससे यह सूचित किया कि, वह देश दीर्घ कालतक वसने योग्य है और जहां आसन हो उसके चारों तरफ धनुष प्रमाण पर्यंत ( ४ हाथभर ) शिया अबि जल ये नहीं इससे शीत उष्णके विकार का अभाव सूचित किया और जो एकांत ( विजन ) हो इससे जनोंके समागमाभावसे कलह आदिका अभाव सूचित किया, क्योंकि जहां जनोंका समूह होताहै वहां कलह आदि होतेहीहैं सोई भागवतमें कहाहै कि, बहुत मनुष्योंके वासमें कलह होताहै और दोमजुष्योंकी भी बात होने लगतीहै ऐसे पूर्वोक्त देशमें जो मठिका ( छोटा गृह)

उसके मध्यमें हठयोगका अभ्यासी योगी अपनी स्थित करने योग्यह इससे शीत भूग आदिके क्रेशका अभाव सूचित किया। यहां किसीने यह आधारछोक प्रक्षिप्त ( बनाकर ) लिखा है उसका हमने अर्थ नहीं लिखा कि, वह प्रक्षिप्त है, इयों कि मूछके रछोकों काही ज्याख्यान हमने किया है इसी प्रकार आगे भी जिन रछोकों का हमने ज्याख्यान नहीं किया और वे हठदीपिकामें मिछजांय तो वे सब प्रक्षिप्त जानने। भावार्थ यह है कि, जहाँ सुंदरराज्य हो जो धार्मिक हो जहाँ सुभिक्ष हो उपद्रव न हो और जहां धनुषके प्रमाणपर्यंत शिष्ठा अग्न जल ये न हों और जो एकांत हो ऐसे देशमें छोटासा मठ बनाकर हठयोगी रहे।। १२॥

अल्पद्वारमरंध्रगतिववरं नात्युचनीचायतं सम्यग्गोमयसांद्रलिप्तममलं निःशेषजंतू जिझतम् ॥ बाह्ये मंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं प्रोक्तंयोगमठस्यलक्षणिमदंसिद्धेईठाभ्यासिभिः १३

अथ मठलक्षणमाह-अरुपद्वारमिति ॥ अरुपं द्वारं यरिमस्तत्ताहराम् । रंघो गवाक्षादिः गतीं निस्नप्रदेशः विवरो मूपकादिविलं
ते न संति यरिमस्तत्ताहराम् । अत्युचं च तन्नीचं चात्युचनीचं तच
तदायतं चात्युचनीचायतम् । विशेषणं विशेष्येण बहुलमित्यत्र
बहुलग्रहणादिशेषणानां कर्मधारयः । नतूचनीचायतशब्दानां भिनार्थकानां कथं कर्मधारयः । तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारय
इति तल्लक्षणादिति चेन्न । मठे तेषां सामानाधिकरण्यासंभवात् ।
न चात्युचनीचायतं नात्युचनीचायतं नशब्देन समासान्नलोपाभावः
निति पृथक पदं वा । अत्युचे आरोहणे श्रमः स्याद्विनीचेऽवरोहणे
श्रमो भवेत् । अत्यायते दूरं दृष्टिर्गच्छेत्तान्निराकरणार्थमुक्तं नात्युचनीचायतिमिति । सम्यक्समीचीनतया गोमयेन गोपुरीपेण सांद्रं
यथा भवति तथा लित्तम् । अमलं निर्मलं निःशेषा निखला ये जंतवो
मशकमत्कुणाद्यास्तराज्ञितं त्यक्तं रहितं वाह्ये मठाद्वाहःभदेशे मंडपः

शालाविशेषः वेदिः परिष्कृता भूमिः कूपो जलाशयविशेषः ते किचिरं रमणीयं प्राकारेण वरणेन सम्ययेष्टितं परितो भित्तियुक्तिमिन्त्यर्थः । हठाभ्यासिभिः हठयोगाभ्यसनशिलेः सिद्धेः । इदं पूर्वोक्तम् मलपद्वारादिकं योगमठस्य लक्षणं स्वरूपं प्रोक्तं कथितम् । नंदिकेश्वर-प्राणे त्वेवं मठलक्षणमुक्तम्—'मंदिरं रम्यविन्यासं मनोज्ञं गंधवानिततम् । धूपामोदादिमुरिभ क्रुम्मोत्करमंडितम् ॥ मुनितीर्थनदिन्वृक्षपद्मिनशिलशोभितम् । चित्रकर्मानिबद्धं च चित्रभेदाविचित्रितम् ॥ क्रुर्यायोगगृहं धीमान्सुरम्यं शुभवत्मेना । दृष्ट्वा चित्रगताञ्छांतान्मुनीन्याति मनः शमम् ॥ सिद्धान्दृष्ट्वा चित्रगतान्मातरभ्युवमे भवेत् । मध्ये योगगृहस्याथ लिखेत्संसारमंडलम् ॥ इम्शानं च महाघोरं नरकांश्च लिखेत्कचित् । तान्दृष्ट्वा भीषणाकारान्संसारे सारचितिते ॥ अनवसादो भवित योगी सिद्धचभिलाषुकः । पश्यंश्च व्याधितान् जंतून्नतान्मत्तांश्चलद्वणान् '॥ १३॥

भाषार्थ—अब मठके छक्षणका वर्णन करते हैं कि, जिसका छोटा द्वार हो और जिसमें गवाक्ष आदि रंध (छिद्र ) न हों और गर्त (गढा) न हो और जिसमें मूसे आदिका विवर (बिछ) न हो और न अत्यन्त ऊँचाहो और न अत्यन्त नीचाहो और न अत्यन्त विस्तारसे युक्त हो-क्योंकि अत्यंत ऊंचेपर चढनेमें और अत्यन्त नीचेसे उतरनेमें अम होता है और अत्यन्त विस्तार संयुक्तमें दूर दृष्टि जाती है इससे इन सब आसर्नोंका निषेध किया है। कदा-चित् कहो कि, अत्युच नीच आयत इन तीनों शब्दोंका अर्थ भिन्न २ है इससे इनका कर्मग्राय समास कैसे होगा क्योंकि कर्मधारयसमास उन पदोंका हुआ करहे जिनका अर्थ एक हुआ करता है सोई इस सूत्रमें छिखा है कि, समानाधि-करण तत्पुरुषको कर्मधारय कहते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि मठमें तीनों पदोंका सामानाधिकरण्य है अर्थात् अत्युच नीच आयतरूप जो मठ उससे भिन्न मठ हो क्योंकि अत्युचनीचआयत शब्दके संग नशब्दको समास होता है और न छोप नहीं होता अथ्या न यह पृथक् ही पद है—इससे यह त्रिशेषण विशेष्यके संग समासको प्राप्त होता है इस सूत्रसे कर्मग्रास करनेमें कोई भी शंका नहीं है।

और जो मठ भलीप्रकार चिकने गोवरसे लिपा हो और निर्मल (स्वच्छ) हो और जो मराक मत्कुण आदि जंतुओंसे रहित हो-और जो मठके बाहर देशमें मंडप वेदी कूप इनसे शोभित हो और जो भलीप्रकार प्राकार (परकोटा) से वेष्टित (भीतसे युक्त ) हो-यह पूर्वीक्त योगमठका लक्षण हठयोगके अभ्यास करनेवाले सिद्धोंने कहाहै। नंदिकेश्वर पुराणमें तो यह मठका लक्षण कहाहै कि, जिस मंदिरकी रचना रमणीय हो, जो मनको प्रिय हो, सुगंधितहो, घूपकी अत्यन्त गंधसे सुगंधितहो, पुष्पोंके समूहसे मंडित हो और जो मुनि तीर्थ नदी वृक्ष कमिलनी पर्वत इनसे शोभित हो और जिसमें चित्राम निकसेहीं और जो चिश्रोंके भेदसे विचित्र हो बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे रमणीय योग वरको शुभ मार्गसे करे-क्योंकि चित्रामोंमें लिखे शांत मुनियोंको देखकर मन शांत होताहै और चित्रामोंके सिद्धोंको देखकर वुद्धिमें उद्यम बढताहै। योगवरके मध्यमें संसारके मंडलको लिखे और कहीं २ इमशान और घोर नरकोंको लिखे क्योंकि उन भयानक नरकोंको देखकर सिद्धिक अभिलाषी योगीको असार संसारमें अनवसाद ( अनिश्चय ) होताहै क्योंकि नरकोंमें रोगी उन्मत्त व्रणी ( घाववाले ) जंतु दीखतेहैं—अर्थात् योगमें प्रवृत्ति न होगी तो ऐसेही नरक मुझे भी मिलेंगे भावार्थ यह है कि, जिसका छोटासा दारहो जिसमें छिद्र गढे विल न हों और जो अत्यन्त ऊंचा विस्तृत न हो और जो भलीप्रकार चिकने गोमयसे लिपाहो और जो स्वच्छ हो और जिसमें कोई जीव न हो और जिसके बाहर मंडपवेदी कृप हों और शोभित हो और जिसके चारों तर्फ प्राकार (भीत) हो। यह योग मठका लक्षण हठयोगके अभ्यास कर्ता सिद्धोंने कहाहै ॥ १३॥

# एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिताविवर्जितः ॥ गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत्॥ १४॥

मठलक्षणमुक्तवा मठे यत्कर्तव्यं तदाह-एवांविध इति ॥ एवं पूर्वोक्ता विधा प्रकारो यस्य तथा पूर्वोक्तलक्षण इत्यर्थः। तस्मिस्थित्वा स्थितिं कृत्वा सर्वा याश्चितास्ताभिविद्योषेण वर्जितो रहितोऽद्येष-चिन्तारहितः । ग्रुक्णोपदिष्टो यो मार्गः हठाभ्यासप्रकारक्षपस्तेन सदा नित्यं योगमेवाभ्यसेत्। एवशब्देनाभ्यासांतरस्य योगे विव्यक-रत्वं सूचितम् । तदुक्तं योगवीजे- मरुज्जयो यस्य सिद्धस्तं सेवेत गुरुं सदा । गुरुवक्रमसादेन कुर्यात्माणजयं बुधः ॥ ' राजयोगे-वदांततर्कोक्तिभिरागमेश्य नानाविधेः शास्त्रकदंवकेश्य । ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्यश्चितामणिहींकगुरुं विहाय ॥ ' स्कंदपुराणे- आ-चार्याचोगसर्वस्वमवाप्य स्थिरधीः स्वयम् । यथोक्तं लभते तेनं प्राप्तोत्यपि च निर्वृतिम् ॥ सुरेश्वराचार्यः-' गुरुपसादाहभते योग-मष्टांगसंयुतम् । शिवपसादाङभते योगसिद्धं च शाश्वतीम् ॥ यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरी । तस्येते कथिता हार्थाः प्रका-शंते महात्मनः ॥ ' इति श्रुतिश्च ' आचार्यवान्पुरुषो वेद ' इति च॥ १४॥

आषार्थ-मठके लक्षण कहकर मठमें करने योग्य कमोंको कहते हैं कि, संरूर्ण चिंताओंसे रहित मनुष्य इसप्रकारके मठमें स्थित होकर गुरुने उपदेश किया जो मार्ग उससे सदैव योगका अम्यास करे। और यहां एवं पदसे यह सूचित किया कि, अन्य कर्मका अभ्यास विव्नकारी होताहै, सोई योगबीजर्मे कहाहै कि, जिसने वायुको जीत रक्खाहो उस गुरुकी सदैव सेवा करे और बुद्धिमान् मनुष्य गुरुके मुखारविंदके प्रसादसे प्राणोंका जय करे। राजयोगमें भी छिखाहै कि, वेदांत और तर्कोंके वचन वेद और नाना प्रकारके शास्त्रोंके समृह और ध्यान आदि और घर्तीभूत इंद्रियें इनसे चिन्तामणि (योग) की प्राप्ति एक गुरुको छोडकर नहीं होती अर्थात् गुरुके द्वारा हि योगकी प्राप्ति होती है। स्कंदपुराणमें भी लिखा है कि, स्थिर बुद्धि मनुष्य आचार्य गुरुसे योगके सर्वस्व ( पूर्ण ) को जानकर यथोक्त ( शास्त्रोक्त ) फलको प्राप्त होताहै और निर्दृत्ति ( आनंद ) कोभी प्राप्त होताहै. सुरेश्वराचार्यने भी कहाहै कि, गुरुके प्रसादसे अष्टांगसहित योगको प्राप्त होताहै और शिव-जीके प्रसादसे सनातनकी जो योगसिद्धि उसको प्राप्त होताहै, जिस-की देवतामें पर्भ भक्ति है और जैसी देवतामें है वैसी ही भक्ति गुरुमें है उस महात्माको शास्त्रमें कहे ये सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं और श्रुतिमें भी कहा है कि, वही पुरुष जानताहै जो भाचार्य बालाहै। भावार्थ यह है कि, इस पूर्वोक्त प्रकारके मठमें स्थित होकर संपूर्ण चिंताओंसे रहित मनुष्य गुरुके उपदेश कियें मार्गसे सदैव योगका अभ्यास करें ॥ १४॥

#### अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ॥ जनसंगश्च लौल्यं च षड्भियोंगो विनश्यति॥१५॥

अथ योगाभ्यासमितिबंधकानाह—अत्याहार इति ॥ अतिश्यित आहारोऽत्याहारः क्षुघापेक्षयाधिकभोजनम् । प्रयासः श्रमजननानु-कूलो व्यापारः । प्रकृष्टो जल्पः प्रजल्पो बहुभाषणं शीतोदकेन प्रातःख्ञाननक्तभोजनफलाहारादिरूपिनयमस्य प्रहणं नियमग्रहः । जनानां संगो जनसंगः । कामादिजनकत्वात् । लोलस्य भावः लोल्यं चांचल्यम् । पड्मिरत्याहारादिभिरभ्यासप्रातिबंधात् । योगो विन-श्यति विशेषेण नश्यति ॥ १५ ॥

भाषार्थ-अब योगाम्यासके प्रतिबंधकोंको कहते हैं कि, अत्याहार अर्थात् अधासे अधिक भोजन प्रयास अर्थात् परिश्रम जिसमें हो ऐसा व्यापार प्रजल्प (बहुत बोलना) नियमोंका प्रहण अर्थात् शीतल जलसे प्रातःकालम्नानं, पित्रमें ही भोजन फलाहार आदिका नियम करना और जनोंका संग क्योंकि बहुभी काम आदिको पैदा करताहै और चंचलता इन अत्याहार आदि छ: इसे थोग विशेषकर नष्ट होताहै ॥ १९॥

# उत्साहात्साहसाँदैर्यात्तत्त्वज्ञानाच निश्चयात् ॥ जनसंगपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्धचित॥१६॥

अथ योगसिद्धिकरानाह—उत्साहादिति ॥ विषयप्रवणं चित्तं निरोत्स्याम्येवेत्युद्यमम् उत्साहः । साध्यत्वासाध्यत्वे परिभाव्य सहसा प्रवृत्तिः साहसम् । यावज्ञीवनं सेत्स्यत्येवेत्यखेदो धैर्यम् । विषया मृगतृष्णाजलवद्संतः, ब्रह्मैव सत्यामिति वास्तविकं ज्ञानं तत्त्वज्ञानं योगानां वास्तविकं ज्ञानं वा । शास्त्रग्रुरुवाक्येषु विश्वासो निश्चयः श्रद्धेति यावत् । जनानां योगाभ्यासप्रतिकूलानां यः संगस्तस्य परिन्त्यागात् । षड्भिरेभियोगः प्रकर्षणाविलंबन सिद्धचतीत्यर्थः ॥ १६॥

भाषार्थ-अब योगके साधकोंको कहते हैं कि, विषयोंमें छगे चित्तकोभी रोकछंगा यह उद्यमक्त्प उत्साह और साध्य असाध्यको विचार कर शीप्र प्रवृत्ति-रूप साहस और धैर्य जीवन पर्यतमें तो सिद्ध होहीगा इस खेदके अभावको धैर्य कहते हैं और मृगतृष्णाके जलकी तुल्य विषय मिथ्या है और ब्रह्महीं सत्य है यह वास्तविक (सत्य) ज्ञानक्त्प तत्त्वज्ञान और निश्चय अर्थात् शास्त्र और गुष्के वाक्योंमें विधास श्रद्धा और योगाम्यासके विरोधीजनोंका जो समागम परित्याग इन छ: वस्तुओंसे योग शीप्र सिद्ध होताहै ॥ १६॥

#### अथ यमनियमाः।

"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः॥ दयाजवं मिताहारः शोचं चैव यमा दश॥ १॥ तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ॥ सिद्धांतवाक्यश्रवणं हीमती च तपो हुतम्॥ २॥ नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः"॥

भाषार्थ-हिंसाका त्याग, सत्य, चोरीका त्याग, बल वर्थ, क्षमा, धीरता-दया नम्नता, प्रिमतभोजन और शुचिता ये दरा यम कहाते हैं-और तप, संतोष, आस्ति-कता, (परलोकको मानना )-दान, ईश्वरका पूजन, सिद्धांतवाक्योंका अवण, लजा, बुद्धि, तप और होम ये दश नियम योगशास्त्रके पंडितोंने कहे हैं ॥ २ ॥ ये अढाई रलोक प्रक्षित हैं।

### हठस्य प्रथमांगत्वादासनं पूर्वमुच्यते ॥ कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगल। घवम् ॥१७॥

आदावासनकथने संगति सामान्यतस्तत्फलं चाह-हठस्येति॥ हठस्य। 'आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा। अथ नादा- दुसंधानम् ' इति वक्ष्यमाणानि चत्वार्यगानि । प्रत्याहारादिसया-ध्यंतानां नादानुसंधानेंऽतर्भावः । तन्मध्ये आसनस्य प्रथमांगत्वा-त्पूर्वमासनमुच्यत इति संबंधः। तदासनस्थेर्य देहस्य मनसश्चाश्चल्य-रूपरजोधर्मनाशकत्वेन स्थिरतां कुर्यात् । 'आसनेन रजो हंति ' इति वाक्यात् । आरोग्यं चित्तविक्षेपकरोगाभावः। रोगस्य चित्त-विक्षेपकत्वमुक्तं पातंजलस्त्रे— 'व्याधिरुत्थानसंशयप्रमादालस्याविर-तिश्रांतिदर्शनालव्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेंऽतरायाः' इति । अंगानां लाववं लघुत्वं गौरवरूपतमोधर्मनाशकत्वमप्येतेनो-क्तम् । चकारात्सुद्वद्वचादिकमपि वोध्यम् ॥ १७॥

आषार्थ-प्रथम आसन्के कथनमें संगतिको और आसनके फलको कहते हैं कि, हठवीगका प्रथम अंग होनेसे आसनको प्रथम कहते हैं कि, ये योगके चार अंग कहेंगे कि, आसन कुंभक ( प्राणायाम ) विचित्र मुद्राओंको करना और नादका अनुसंघान और प्रत्याहारसे समाधिपर्यतोंका अंतर्भाव नादमें है उन चारोंमें आसन प्रथम अंग है इससे उसकाही पहिले वर्णन करते हैं कि, तिस आसनकी स्थिरता इसिळिये करै कि, देह और मनकी चंचळतारूप जो रजोगुणका धर्म उसका नाराक आसनहै क्योंकि इस वचनमें यह लिखाहै कि, योगी आसनसे रजोगुणको नष्ट करताहै और आरोग्यकारकहै अर्थात् चित्तको विक्षेपक रोग नहीं होताहै क्योंकि पतंजिलके इस सूत्रमें रोगकोभी चित्तका विक्षेपक कहाहै कि, संशय-प्रमाद-आलस्य-अविरति-आंति दरीन-अलब्धभूमि व्याधि-उत्थान ( पूर्वोक्त भूमियोंका न मिलना ) अनवस्थित ( चंचलता ) ये चित्तके विक्षेप्रक्रप विन्न हैं और अंगोंका छात्रव क्योंकि वह छात्रव गौरवरूप तमोगुणके धर्मका नाराक है और चकारके पढनेसे क्षुधाकी वृद्धि आदिभी समझने अर्थात् ऐसा आसन हो जो स्थिर नीरोग अंगोंका छावव उत्पन्नकरे और जिससे क्षुवा न वढें ॥ १७॥

वसिष्ठां येश्व मुनिभिर्मत्स्येन्द्रा येश्व योगिभिः॥ अंगीकृतान्यासनानि कथ्यंते कानि चिन्मया॥१८॥ विसष्ठादिसंमतासनमध्ये श्रेष्ठानि मयोच्यंत इत्याह—विसष्ठाचै-रिति ॥ विसष्ठ आद्यो येषां याज्ञवल्क्यादीनां तैर्मुनिभिर्मननज्ञालेः । चकारान्मंत्रादिपरेः । मत्स्येंद्र आद्यो येषां जालंधरनाथादीनां तैः । योगिभिः हठाभ्यासिभिः । चकारान्मुद्रादिपरेः । अंगीकृतानि चतुरज्ञीत्यासनानि तन्मध्ये कानिचित् श्रेष्ठानि मया कथ्यंते । यद्य-प्युभयोरिष मननहठाभ्यासो स्तस्तथापि विसष्ठादीनां मननं मुख्यं मत्स्येंद्रादीनां हठाभ्यासो मुख्य इति पृथग्यहणम् ॥ १८ ॥

आषार्थ-विसष्ट आदिकों के संमत जो आसन है उनमें श्रेष्ठ २ आसनों के वर्णनकी प्रतिज्ञा करते हैं कि, विसष्ट है आदिमें जिनके ऐसे मननके कर्ता मुनि-योंने और चकारके पढ़नेसे मंत्रके ज्ञाताओं ने और मत्स्येंद्रहै आदिमें जिनके ऐसे योगियों ( जालंधरनाथ आदि ) ने अर्थात् हठयोगके अस्यासियोंने और चकार के पढ़नेसे मुद्रा आदिके ज्ञाताओं ने अंगीकार किये जो चौराशी ८४ आसन हैं उनमें कितनेक श्रेष्ठ आसनोंको में कहताहूँ यद्यपि दोनोंको मनन और हठयोगका अस्यास था तथापि विसष्ठ आदिकोंका तो मनन मुख्य रहा और मत्स्येंद्र आदिकोंका हठयोगका अस्यास मुख्य रहा इससे दोनोंको पृथक् पृथक् पढ़ाहै ॥ १८॥

जानूवोरंतरे सम्यकृतवा पादतले उभे ॥

ऋजकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥१९॥
तत्र सुकरत्वात्प्रथमं स्वस्तिकासनमाह—जान्वीरिति ॥ जानु
च ऊरुश्च । अत्र जानुशब्देन जानुसानिहितो जंघाप्रदेशो प्राह्मः ।
जंघोवीरिति पाठस्तु साधीयान् । तयोरंतरे मध्ये उभे पाद्योस्तले
तलप्रदेशो कृत्वा ऋजुकायः समकायः यत्र समासीनो भवेत्तदासनं
स्वस्तिकं स्वस्तिकाख्यं प्रचक्षते वदंति । योगिन इति शेषः । श्रीधरेणोक्तम्—' ऊरुजंघांतराधाय प्रपदे जानुमध्यमे । योगिनो यदवस्थानं स्वस्तिकं तादिदुर्बुधाः ॥ ' इति ॥ १९॥

भाषाथ—स्वितिक आसनको कहते हैं कि जानु (गोडे) और जंघाओंके बीचमें चरणतळ अर्थात् दोनों तरवाओंको लगाकर जो सावधानीपूर्वक बैठना उसे स्वस्तिकआसन कहतेहैं॥ १९॥

सन्ये दक्षिणगुरुकं तु पृष्ठपार्थं नियोजयेत् ॥ दक्षिणेऽपि तथा सन्यं गोमुखं गोमुखाकृति॥२०॥

गोमुखासनमाह-सन्य इति ॥ सन्य वामे पृष्ठस्य पार्श्व संप्रदा-यात्कटेरधोभागे दक्षिणं गुल्फं नितरां योजयंत् । गोमुखस्याकृतिर्यस्य तत्ताहशं गोमुखसंज्ञकमासनं भवेत् ॥ २०॥

भाषार्थ-गोमुख आसनको कहते हैं कि, कटिके वामभागमें दहना गुल्फ टकना और दक्षिणभागमें वामटकनेको उगाकर जो गोमुखके समान आकार हो-जाताहै उसे गोमुखआसन कहते हैं ॥ २०॥

एकं पाइं तथैकस्मिन्विन्यसेदुरुणि स्थितम् ॥ इतरस्मिस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् ॥ २१॥

वीरासनमाह एक भिति ॥ एकं दाक्षणं पादम् । तथा पादपूरणे । एकि स्कित्मन्वामोरुणि स्थितं विन्यसेत् । इतरस्मिन्वामे पादे ऊर्हे दक्षिणं विन्यसेत् । तदीरासनमितीरितं कथितम् ॥ २१ ॥

भाषार्थ-बीरासनको कहते हैं कि, एकचरणको वाम जंबापर और दूस-रैको दक्षिण जंबापर रखकर वीरासन होताहै ॥ २१॥

गुदं निरुद्धच गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः॥ कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः॥ २२॥

कूर्मासनमाह - गुद्मिति ॥ गुल्फाभ्यां गुदं निरुद्ध च नियम्य व्युत्क्रमेण यत्र सम्यगाहितः स्थितो भवेत् । एतत्कूर्मासनं भवेत् ॥ इति योगविदो विद्वरित्यन्वयः ॥ २२ ॥

भाषार्थ-कूर्मासनको कहतेहैं दोनों टकनोंसे गुदाको विपरीत क्रमसे अर्थात् दक्षिणसे वामभाग वामसे दक्षिण भागको रोककर जो सावधानीसे बैठजाय उसे कूर्मासन कहते हैं ॥ २२॥

पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूवीरंतरे करो ॥ निवेश्य भूमो संस्थाप्य व्योमस्थंकुक्कुटासनम्२३॥ कुकुटासनमाह-पद्मासनं त्विति ॥ पद्मासनं तु ऊर्वोरुपरि उत्ता-नचरणस्थापनरूपं सम्यक् स्थापियत्वा । जानुपदेन जानुसंनिहिती जंघाप्रदेशः । तच ऊरुश्च जानूरू तयोरंतरे मध्ये करी निवेश्य भूमी संस्थाप्य । करावित्यत्रापि संबध्यते । व्योमस्थं खस्थं पद्मासन-सदृशं यत्तत्कुकुटासनम् ॥ २३ ॥

आषार्थ-अब कुक्कुटासनको कहते हैं कि, प्रमासनको लगाकर अर्थात् जवाओं के उपर उत्तान ( खंडे ) दोनों चरणों को स्थापन करके और जानु (गोडे ) और जंबाओं के मध्यमागमें दोनों हाथों को लगाकर और उन दोनों हाथों को भूमिमें स्थापन करके आकाशमें स्थित रहे प्रमासनके समान जो यह आसन है सो कुक्कुटासन कहाताहै अर्थात् मुरगेके समान स्थिति करनी ॥२ सा

# कुक्कुटासनबंधस्थो दोभ्यां संबध्य कंघराम् ॥ भवेत्कूर्भवदुत्तान एतदुत्तानकूर्भकम् ॥ २४ ॥

उत्तानकूर्मकासनमाह—कुकुटासनेति ॥ कुकुटासनस्य यो वंधः पूर्वश्लोकोक्तस्तिस्मन् स्थितः दोभ्यां वाहुभ्यां कंधरां शीवां संबध्यः कूर्मवहुत्तानो यस्मिन्भवेदेतदासनमुत्तानकूर्मकं नाम ॥ २४ ॥

भाषार्थ-अब कूमीसनको कहतेहैं कि, कुकुटासनके बंधनमें स्थित होकह अर्थात् कुक्कुटासनको उगाकर और दोनों भुजाओंसे कन्धरा (प्रीवा) को भली प्रकार बाँधकर कूमी (कच्छप) के समान उत्तान (सीधा) हो जाय तो वह उत्तानकूमीसन कहाताहै ॥ २४॥

### पादांगुष्टौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावि ॥ धनुराकर्षणं कुर्याद्वनुरासनमुच्यते ॥ २५॥

धनुरासनमाह—पादांग्रष्ठों त्विति ॥ पाणिभ्यां पादयोरंगुर्छों यहीत्वा श्रवणावधि कर्णपर्यतं धनुष आकर्षणं यथा भवति तथा कुर्यात् । गृहीतांगुष्ठमेकं पाणि प्रसारितं कृत्वा गृहीतांगुष्ठमितरं पाणि कर्णपर्यतमाकुंचितं कुर्यादित्मर्थः । एतद्रनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

भाषार्थ-अब धनुरासनको कहते हैं कि, दोनों पादोंके अंगूठोंको हाथोंसे पकडकर श्रवण (कान) पर्यंत धनुषके समान आकर्षण करें ( खींचें ) उसको धनुरासन कहते हैं ॥ २९॥

### वामोरुमूलार्पितदश्तपादं जानोबिहिवेष्टित-वामपादम् ॥ प्रगृद्ध तिष्टेत्परिवर्तितांगः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ॥ २६॥

मत्स्यंद्रासनमाह वामोर्विति ॥ वामोरुम्हेऽपितः स्थापितो यो दक्षपादः तं संप्रदायात्पृष्ठतोगतवामपाणिना गुरुफस्योपितभागे परिगृह्य जानोर्द्क्षिणपादजानोर्विहः प्रदेशे वेष्टितो यो वामपाद्स्तं वामपाद्- जानोर्विहिविष्टितद्क्षिणपाणिनां गुष्ठे प्रगृह्य । परिवर्तितांगः वामभाग्येन पृष्ठतो सुखं यथा स्यादेवं परिवर्तितं परावर्तितमंगं येन स तथा ताहशो यत्र तिष्ठेत् स्थिति कुर्यात्तदासनं मत्स्यंद्रनाथेनोदितं कथितं स्थात् । तदुदितत्वात्तन्नामकमेव वदंति । एवं दक्षोरुम्हार्पित- वामपादं पृष्ठतोमतद्क्षिणपाणिना प्रगृह्य वामजानोर्विहवेष्टितद्क्षपादं दिक्षणपादजानोर्वहिवेष्टितवामपाणिना प्रगृह्य । दक्षभागेन पृष्ठतो सुखं यथा स्यादेवं परिवर्तितांगश्चाभ्यसेत् ॥ २६ ॥

आषार्थ-अब मत्स्येंद्रासनको कहतेहैं कि, वामजंबाके मूळमें दक्षिण पादको रखकर और जानुसे बाहर वाम पादको हाथसे ळपेटकर और पकडकर और पार्रवर्तित अंग होकर अर्थात् वाम भागसे पीठकी तर्फ मुखको करके जिस आसनमें टिकै वह मत्स्येन्द्रनाथका कहा मत्स्येंद्रासन होताहै । इसीप्रकार दक्षिण जंबाके मूळमें वामगादको रखकर और पीठपर गये दक्षिण हाथसे उसको प्रहण करके और वामजानुसे बाहर हाथसे ळपेटे दक्षिणपादको दक्षिण पाटको जानुसे वाहर छपेटे फिर उसको वाम हाथसे प्रहण करके और दक्षिण-भागसे पीठकी तरफ मुखको करके भी हठयोगका अभ्यास कर अर्थात् यह भी एक मत्स्येंद्रासन है ॥ २६॥

मत्स्येंद्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचंडरुग्मंडल-खंडनास्त्रम् ॥ अभ्यासतः कुंडलिनीप्रबोधं चंद्रस्थिरत्वं च द्दाति पुंसाम् ॥ २७ ॥

मत्स्येंद्रासनस्य फलबाह-मत्स्येंद्रेति ॥ प्रचंडं दुःसहं रुजां रोगाणां मंडलं समूहः तस्य खंडने छेदनेऽस्त्रमस्त्रमिव ताहशं मत्येंद्रपीठं मत्यें-द्रासनम् । अभ्यासतः प्रत्यहमावर्तनरूपाद्भ्यासात् पुंसां जठरस्य जठराग्नेः प्रकृष्टां दीप्तिं वृद्धिं ददाति । तथा कुडलिन्या आधारशक्तेः मबोधं निदाभावं तथा चंद्रस्य तालुन उपरिभागे स्थितस्य नित्यं क्षरतः स्थिरत्वं क्षरणाभावं च द्दातीत्यर्थः ॥ २७ ॥

भाषार्थ-अब मत्स्येन्द्रासनके फलको कहतेहैं कि, यह मत्स्येंद्रासन जठ--रामिका दीपन (अधिक ) करताहै क्योंकि यह आसन प्रचंडरोगोंका जो समृह उसके नाशकेलिये अस्त्रके समानहै और कुण्डलिनी जो आधार शक्तिहै उसके प्रबोध (जागरण) अर्थात् निदांके अभावको और तालुके ऊपरके भागमें स्थित जो चंद्र ( नित्यझरेहै ) उसकी स्थिरताको अर्थात् झरनेके अभावको पुरुषोंको देताहै अर्थात् करताहै ॥ २७ ॥

## प्रसार्य पादौ भुवि दंडरूपौ दोभ्यां पदात्रदितयं गृहीत्वा ॥ जानूपरिन्यस्तललाटदेशो वसेदिइं पश्चिमतानमाद्वः ॥ २८॥

पश्चिमतानासनमाह-प्रसार्योति ॥ भुवि भूमौ दंडस्य रूपमिव रूपं ययोस्तो दंडाकारी श्लिष्टगुल्फी प्रसार्य प्रसारिती कृत्वा। दोभ्या-मार्कुंचिततर्जनीभ्यां भुजाभ्यां पदोः पदयोश्चात्रे अत्रभागौ तयोद्धि-तयं द्रयमंगुष्ठप्रदेशयुग्मं बलादाकर्षणपूर्वकं यथा जान्वधोभागस्य मूमेरुत्थानं न स्यात्तथा गृहीत्वा । जानोरुपरिन्यस्तो ललाटदेशो थेन ताहशो यत्र वसेत् । इदं पश्चिमताननामकमासनमादुः ॥ २८॥

भाषार्थ-अब पश्चिमतानासनको कहतेहैं कि, दंडके समानहै रूप जिनका ऐसे और मिछेहैं गुल्फ जिनके ऐसे दोनोंचरणोंको भूमिपर फैलाकर और आकुंचित (सुकडी) है तर्जनी जिनकी ऐसी भुजाओंसे दोनों पादोंके दोनों अग्रमागोंको ग्रहण करके अर्थात् अंग्रुठोंको इसप्रकार पकडकर जैसे जानुओंके अवोभाग भूमिसे ऊपर न उठें और जानुओंके ऊपर रक्खाहै छ्लाट (मस्तक) भाग जिसने ऐसा होकर जहां पुरुष वसे उस आसनको पश्चिमतान आसन कहतेहैं॥ २८॥

इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं पवनं पश्चिमवाहिनं करोति ॥ उद्यं जठरानलस्य कुर्यादुद्रे कार्श्य-मरोगतां च पुंसाम् ॥ २९॥

अथ तत्फलम् इति ।। इति पूर्वोक्तमासनेष्वध्यं मुख्यं पश्चि-मतानं पवनं प्राणं पश्चिमवाहिनं पश्चिमेन पश्चिममार्गेण सुबुम्ना-मार्गेण वहतीति पश्चिमवाही तं ताहशं करोति । जठरानलस्य जठरे योऽनलोऽग्निस्तस्योद्यं वृद्धिं कुर्यात् । उद्रे मध्यप्रदेशे कार्यं कुशतं कुर्यात् । अरोगतामारोग्यं चकारान्नाडीवलनादिसाम्यं कुर्यात् ॥ २९ ॥

भाषार्थ-अब इस आसनके फलको कहतेहैं कि, संपूर्ण आसनोंमें मुख्य यह पश्चिमताननामका आसन प्राणरूप पवनको पश्चिमवाही करताहै अर्थात् सुचुम्ना नाडीके मार्गसे प्राण बहने लगताहै और जठरामिको उत्पन्न कर-ताहै अर्थात् बढाताहै और उदरके मध्यमें क्रशताको करताहै और पुरुषोंकी अरोगता (रोगका अमाव) करताहै और चक्षारसे नाडियोंके बलन आदिकी समताको करताहै ॥ २९॥

घरामवर्षभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभि-पार्थः ॥ उद्यासनो दंडवदुत्थितः स्यानमायूरमे-तत्प्रवदंति पीठम् ॥ ३०॥ अथ मयूरासनमाह-धरामिति ॥ करद्रयेन करयोर्द्रयं युग्मं तेन धरां भूमिमवष्टभ्यावलंक्य प्रसारितांगुली भूमिसंलग्नतली सिन्नहिती करी कृत्वेत्यर्थः । तस्य करद्रयस्य कूर्परयोर्भुजमध्यसंधिभागयोः स्थापिते धृते नाभेः पार्थे पार्थभागी येन स उज्ञासन उज्ञमुन्नतमा-सनं यस्येतादृशः । खे शून्ये दंडवदंडेन तुल्यमुत्थित उर्ध्वं स्थितो यत्र भवति तन्मायूरं मयूरस्येदं तत्संवंधित्वात्तवामकं प्रवदंति । योगिन इति शेषः ॥ ३०॥

आषार्थ-अब मायूरासनको कहते हैं कि, दोनों हाथोंसे भूमिका अवलं-वन करके अर्थात् फैलाये हुये हाथोंसे भूमिका स्पर्श करके और उन हाथोंका जो कूपर ( भुजा, करका संधिमाग ) जिसको मणिबंध वा गद्दा कहते हैं उसके ऊपर नामिके दोनों पार्श्वमागोंको स्थापितकरके वह दंडके समान उठा हुआ उच्चासन होताहै इस आसनको योगीजन मायूर कहते हैं अर्थात् मयूरके समान इसमें स्थिति होताहै ॥ ३०॥

> हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादी-नभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम् ॥ बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं जनयति जठराग्निं जारयेत्कालकृटम् ॥ ३१ ॥

मयूरासनगुणानाह—हरतीति ॥ गुल्मो रोगविशेषः उद्रं जलो-द्रं ते आदिनी येषां भ्रीहादीनां ते तथा तान्सकलरोगान् सकला ये रोगास्तानाशु झटिति हराते नाशयति । श्रीमयूरमासनामिति सर्वत्र संबध्यते । दोषान्वातिपत्तकफानालस्यदांश्चामिभवाते तिरस्करोति । बह्वतिशयितं कदशनं कद्वं यद्धक्तं तदशेषं समस्तं भस्म कुर्या-त्पाचयेदित्यर्थः । जठराग्निं जठरानलं जनयति पादुर्भावयति । काल-कृटं विषं कालकृटवदपकारकान्नं समस्तं जारयेजीणं कुर्यात्पाचयेदि-त्यर्थः ॥ ३१ ॥ भाषार्थ—अब मयूरासनके गुणोंको कहते हैं कि, गुल्म और जलोदर आदि और जो प्लीहा तिल्ली आदि सब रोग हैं उनको शीघ्र हरताहै और संपूर्ण जो बात पित्त कफ आलस्य आदि दोष हैं उनका तिरस्कार करताहै। और अधिक वा कुत्सित अन जो अक्षण करिल्या होय तो उस संपूर्णको भस्म करताहै और जल्राग्निको बढाताहै और कालकूट (विष) को भी जीर्ण करताहै अर्थात् विषके समान अपकार करनेवाला जो अन है उसकोभी पचाताहै॥ ३१॥

### उत्तानं शववद्धभौ शयनं तच्छवासनम् ॥ शवासनं श्रांतिहरं चित्तविश्रांतिकारकम् ॥ ३२ ॥

श्वासनमाहाधेन-उत्तानिमिति ॥ शवेन मृतशरीरेण तुल्यं शवव-दुत्तानं भूमिसंलग्नं पृष्ठं यथा स्यात्तथा शयनं निद्रायामिव सन्निवेशो यत्तच्छवासनं शवाख्यमासनम् । शवासनप्रयोजनमाह । उत्तराधेन । श्वासनं श्रांतिहरं श्रांति हठाभ्यासश्चमं हर्तिति श्रांतिहरं चित्तस्य विश्रांतिविश्रामस्तस्याः कारकम् ॥ ३२॥

भाषार्थ-अब शवासन और उसके फलको कहते हैं कि, शव (मृतके समान) भूमिपर पीठको लगाकर उत्तान (सीधा) शयन निद्राके तुल्य जिसमें हो वह शवासन होताहै। और यह शवासन हठयोगके पारिश्रमको हरताहै और चित्तको विश्रांति (विश्राम) को करताहै अर्थात् इसके करनेसे चित्त स्थिर होजाताहै॥ ३२॥

### चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ॥ तेभ्यश्रतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ॥ ३३॥

वक्ष्यमाणासनचतुष्टयस्य श्रेष्ठत्वं वदन्नाह—चतुरशीतीति ॥ शिवे-नेश्वरेण चतुरिधकाशीतिसंख्याकान्यासनानि कथितानि चकाराचतुर-श्रीतिलक्षणानि च । तदुक्तं गोरक्षनाथेन—'आसनानि च तावंति यावंत्यो जीवजातयः । एतेषामिखलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः ॥ चतुरशीतिलक्षाणि एकेकं समुदाहतम् । ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम् ॥' इति । तेभ्यः शिवोक्तचतुरशीतिलक्षासनानां मध्ये प्रशस्तानि यानि चतुरशीत्यासनानि तेभ्य आदाय गृहीत्वा । सारभूतं श्रेष्ठभूतं चतुष्कमह ब्रवीमीत्यन्वयः ॥ ३३॥

भाषार्थ—अब चार आसनोंकी श्रेष्ठताका वर्णन करते हैं कि, शिवजीने चौरासी आसन कहे हैं और चकारके पढ़नेसे उनके चौरासी लाख लक्षण कहे हैं सोई गोरक्षनाथने कहाहै कि, जितनी जीवोंकी जाति हैं उतनेही आसन हैं इनके संपूर्ण भेदोंको शिवजी जानतेहैं उनमेंभी एक २ चौरासी लक्ष कहाहै तिससे शिवजीने चौरासी आसनहीं किये हैं, उनमें श्रेष्ठ जो चौरासी आसन हैं उनमेंसे लेकर श्रेष्ठ जो चार आसन हैं उनकों में कहताहूँ॥ ३३॥

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥ श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ॥३४॥

तदेव चतुष्कं नाम्ना निर्दिशति—सिद्धिमिति॥ सिद्धं सिद्धासनम्। पद्मं पद्मासनम्, सिंहं सिहासनम्, भद्गं भद्रासनम् इति चतुष्टयं श्रेष्ठ-मितिशयेन प्रशस्यं तत्रापि चतुष्टये सुखे सुखकरे सिद्धासने सदा तिष्ठेत् एतेन सिद्धासनं चतुष्टयेप्युत्कृष्टमिति सूचितम् ॥ ३४॥

भाषार्थ-उन चारोंकेही नामोंको दिखातेहैं कि, सिद्धासन-पश्चासन-सिंहासन और भद्रासन ये चार आसन अत्यंत श्रेष्ठ हैं। उन चारोंमें सुखका कर्ता जो सिद्धासन है उसमें सदैव योगी टिकै-इससे यह सूचित किया कि, इन चारोंमेंभी सिद्धासन उत्तम है॥ ३४॥

योनिस्थानकमंत्रिमूलघटितं कृत्वा हढं विन्यसेनमेद्रेपादमथैकमेव हदये कृत्वा हनुं सुत्थिरम् ॥
स्थाणुः संयमितेंद्रियोऽचलहशा पश्येद्ध्रुवोरंतरं
होतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते॥३५॥
आसनचतुष्टयेप्युत्कृष्टत्वात्प्रथ्नमं सिद्धासनमाह-योनिस्थानकमिति॥ योनिस्थानमेव योनिस्थानकम् । स्वार्थं कप्रत्ययः। गुद्रोपस्थ-

योर्मध्यमप्रदेशे पदं योनिस्थानं तत् अंधिर्वामश्चरणस्तस्य यूलेन पार्षिणभागेन घटितं संलग्नं कृत्वा । स्थानांतरं एकं पादं दक्षिणं पादं मेहेंदियस्योपरिभागे हढं यथास्यात्तथा विन्यसेत् । हृद्ये हृद्यसमीपे हृनुं चिद्धकं सुस्थिरं सम्यक्तिथरं कृत्वा हृनुहृद्ययोश्चतुरंगुलमंतरं यथा भवति तथा कृत्वेति रहस्यम् । संयमितानि विषयेभ्यः परावृत्ता-नींदियाणि येन स तथा । अचला या हक् दृष्टिस्तथा सुवोरंतरं मध्यं पश्येत् । हि प्रसिद्धं मोक्षस्य यत्कपाटं प्रतिबंधकं तस्य भेदं नाशं जनयतीति ताहशं सिद्धानां योगिनाम् । आस्तेऽत्रास्यतेऽनेनेति वा आसनं सिद्धासननामकिमदं भवेदित्यर्थः ॥ ३५॥

भाषार्थ-अब चारों आसनोंमें उत्तम जो सिद्धासन उसके स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, गुदा और छिंग इन्द्रियका मध्यभाग जो योनिस्थान है उससे वाम चरणके मूळ (ऐडी) को मिळाकर और दक्षिण दूसरे पादको दृढ रीतिसे छिंग इन्द्रियके ऊपर रनखे और हृदयके समीपभागमें हुनु (चिबुक वा ठोडी) को मळीप्रकार स्थिर करके अर्थात् हुनु और हृदयका चार अंगुळका अंतर रखकर मळीप्रकार विषयोंसे रोकी हैं इंद्रियें जिसने ऐसा स्थाणु (निश्चळ) योगी अपनी अचल (एकरस) दृष्टिसे अनुकृटीके मध्यभागको देखता रहें । यह मोक्षके कपाट (अवरोध वा रोक) का जो भेदन (नाहा) उसका करनेवाळा योगिजनोंने सिद्धासन कहाहै—अर्थात् सिद्धयोगी इस आसनसे बैठते हैं ॥ ३९॥

## मेड्राडुपरि विन्यस्य सव्यं गुरुफं तथोपरि ॥ गुरुफांतरं च निक्षिप्य सिद्धासनिमदं भवेत्॥३६॥

मत्स्यंदसंमतं सिद्धासनमुक्त्वाऽन्यसंमतं वक्तमाह—मतांतरे त्वित॥
तदेव दर्शयति—मेट्रादिति ॥ मेंद्रादुपस्थादुपर्यूर्ध्वभागे सव्यं वामगुलफं विन्यस्य तथा सव्यवदुपरि मुख्यपादस्योपरि न तु सव्यग्रल्फस्य।
गुल्फांतरं दक्षिणगुल्फं च निक्षिप्य वसेदिति शेषः । इदं सिद्धासनं
मतांतराभिमतमित्यभेद इत्यर्थः॥ ३६॥

भाषार्थ—अब मत्स्येंद्रके संमत सिद्धासनको कहकर अन्य योगियोंके संमत सिद्धासनको कहते हैं कि, मतांतरमें तो यह लिखाहै कि, र्लिंग इंद्रियके ऊपरके भागमें वामगुल्फको रखकर और तैंसेही सन्य (वाम) पादके ऊपर दक्षिण गुल्फको रखकर की तैंसेही सन्य (वाम) पादके ऊपर दक्षिण गुल्फको रखकर वसै तो यह भी किसी २ ने सिद्धासन कहा है ॥ ३६ ॥

### एतित्सद्धासनं प्राहुरन्ये वत्रासनं विदुः॥ सुक्तासनं वदंत्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे॥ ३७॥

तत्र प्रथमं महासिद्धसंमतिमिति स्पष्टीकर्तुमस्येव मतभेदान्नामभेदानाह-एतिदिति ॥ एतत्पूर्वोक्तं सिद्धासनं सिद्धासननामकं प्राहुः ।
केचिदित्यध्याहारः । अन्ये वज्रासनं वज्रासनसंज्ञकं विदुः जानंति ।
एके मुक्तासनं मुक्तासनाभिधं वदंति । परे ग्रुप्तासनं ग्रुप्तासनास्वयं
प्राहुः । अत्रासनाभिज्ञाः । यत्र वामपादपार्षणयोनिस्थाने नियोज्य
दक्षिणपादपार्षणमेद्रादुपरि स्थाप्यते तित्सद्धासनम् । यत्र वामपादपार्षण योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणपादपार्षणमेद्रादुपरि स्थाप्यते
तद्धज्ञासनम् । यत्र तु दक्षिणसव्यपार्षणद्वयमुपर्यधोभागेन संयोज्य
योनिस्थानेन संयोज्यते तन्मुक्तासनम् । यत्र च पूर्ववत्संयुक्तं पार्षणद्वयं मेद्रादुपरि निधीयते तद्धप्तासनिमति ॥ ३७॥

भाषार्थ-इसकोही कोई सिद्धासन कहते हैं और कोई वन्नासन कहते हैं और कोई मुक्तासन और कोई गुप्तासन कहते हैं अर्थात् इस सिद्धासनके ही ये भी नाम हैं और आसनके जो भलीप्रकार ज्ञाता हैं वे इन चारों आसनोंमें यह भेद (फरक) कहते हैं कि जिसमें वाम पादकी पार्ष्ण को लिंगके स्थानपर लगाकर और दक्षिणपादकी पार्ष्ण (एडी) को लिंगके ऊपर रखकर स्थित हो वह सिद्धासन कहाता है और जहां वाम पार्ष्णिको लिंगके स्थानमें और दक्षिण पादकी पार्ष्णिको लिंगके जपर लगाकर स्थित करें वह वज्ञासनभी कहाता है अर्थात् इन दोमें भेद नहीं है और जहां दक्षिण और वाम पादकी दोनों पार्ष्णियों को ऊपर नीचे मिलाकर योनिके स्थानमें लगाकर स्थित है

वह मुक्तासन कहाताहै और जहां पूर्वोक्त रीतिसे मिलाई दोनों पार्ष्णियोंको लिंगसे जपर रखकर स्थितहो वह गुप्तासन कहाताहै ॥ ३७॥

### यमेष्टिव मिताहारमहिंसां नियमेष्टिवव ॥ मुख्यं सर्वासनेष्ट्रेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः॥३८॥

अथ सप्तिः श्लोकेः सिद्धासनं प्रशंसित-यमेष्वित्यादिभिः ॥ यमेषु मिताहारमिव । मिताहारो वक्ष्यमाणः 'सुस्निग्धमधुराहारः ' इत्यादिना । नियमेषु अहिंसामिव । सर्वाणि यान्यासनानि तेषु सिद्धाः एकं सिद्धासनं सुरूयं विदुरिति संबंधः ॥ ३८ ॥

आषार्थ—अब सात श्लोकोंसे सिद्धासनकी प्रशंसा करते हैं कि, जैसे दश प्रकारके यमोंमें प्रमित भोजन मुख्यहै और नियमोंमें अहिंसा मुख्य है इसीप्रकार संपूर्ण आसनोंमें सिद्धासन सिद्धोंने मुख्य कहाहै। और प्रमित भोजन इस वचनसे कहेंगे कि, भली प्रकार स्निग्ध ( चिकना ) और मधुर आदि जो भोजन वह मिताहार कहाताहै॥ ३८॥

### चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत्।। द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥ ३९॥

चतुरशीतीति ॥ चतुरधिकाशीतिसंख्याकानि यानि पीठानि तेषु सिद्धमेव सिद्धासनमेव सदा सर्वदाभ्यसेत् । सिद्धासनस्य सदाभ्यासे हेतुगर्भ विशेषणम् । द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मल-शोधनं शोधकम् ॥ ३९॥

भाषार्थ-चौरासी जो आसन हैं उनमें सदैव सिद्धासनका अम्यास करें क्योंकि यह आसन बहत्तर नाडियोंके मळोंका शोधक है।। ३९॥

आत्मध्यायी मिताहारी यावद्रा दशवत्सरम् ॥ सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाष्ट्रयात्॥ ४०॥

आत्मध्यायीति ॥ आत्मानं ध्यायतीत्यात्मध्यायी मित आ-हारोऽस्यास्तीति मिताहारी यावंतो द्वादश वत्सराः यावद्वादशव- त्सरम् । 'यावद्वधारणे ' इत्यव्ययीभावः समासः । द्वाद्शवत्सर-पर्यतिमित्यर्थः । सदा सर्वदा सिद्धासनस्याभ्यासाद्योगी योगाभ्यासी निष्पत्ति योगसिद्धिमाप्नुयात्प्राप्नुयात् । योगांतराभ्यासमंतरेण सिद्धासनाभ्यासमात्रेण सिद्धि प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ४० ॥

भाषार्थ-आत्माके ध्यानका कर्ता और मिताहारी होकर दशवर्ष पर्यंत सदैव सिद्धासनके अभ्यास करनेसे योगी योगकी सिद्धिको प्राप्त होता है अर्थात् अन्य-योगोंके अभ्यासके विनाही केवल सिद्धासनकेही अभ्याससे सिद्धिको प्राप्त होताहै ॥ ४०॥

## विमन्येवेहुभिः पीठैः सिद्धे सिद्धासने सित ॥ प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुंभके ॥ ४९ ॥

किमन्यैरिति ॥ सिद्धासने सिद्धे सत्यन्यैर्वहुभिः पीठैरासनैः किम् । न किमपीत्यर्थः । सावधाने प्राणानिले प्राणवायौ केवलकुंभके बद्धे सित ॥ ४१ ॥

आषार्थ—सिद्धासनके सिद्ध होनेपर अन्य बहुतसे आसनोंसे क्या फुछ है अर्थात् कुछ नहीं है और इस सिद्धासनसे सावधान प्राणवायुके केवल कुंभक प्राणायाम बॅंधनेपर अन्य सब आसन दृथा समझने ॥ ४१॥

### उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला ॥ तथैकस्मिन्नेव हढे सिद्धे सिद्धासने सित ॥ बंधत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥ ४२ ॥

उत्पद्यत इति ॥ उन्मनी उन्मन्यवस्था सा कलेवाह्नादकत्वाचंद्र-लेखेव निरायासादनायासात्स्वयमेवोत्पद्यत उदेति—तथिति । तथोक्त-प्रकारेणैकस्मिन्नेव सिद्धे दृढे बद्धे सति बंधत्रयं मूलबंधोड्डीयानबंध-जालंधरबंधरूपमनायासात् 'पार्ष्णमार्गेण संपीडच योनिमाकुंचयेहु-दम् ' इत्यादिवक्ष्यमाणमूलबंधादिष्वायासस्तं विनैव स्वयमेवोपजायते स्वत एवोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ४२ ॥ भाषार्थ-और इस सिद्धासनके प्रतापसेही चंद्रमाकी कलाके समान उन्मनी कला विनापरिश्रम उत्पन्न होजाती है और तिसीप्रकार एक दढ सिद्धासनके सिद्ध होनेपर मूलवंध उड्डीयानवंध जालंधरवंधरूप तीनों वंध विनाश्रम स्वयंही होजातेहें अर्थात् पार्ष्णिके मार्गसे योनि (लिंग) को भली प्रकार दवाकर गुदाका संकोच करें इत्यादि वचनोंसे जो मूलवंध आदिमें परिश्रम कहा है उसके किये बिनाही तीनों वंध सिद्ध होजाते हैं ॥ ४२ ॥

नासनं सिद्धसहशं न कुंभः केवलोपमः ॥
न खेचरीसमा सुद्रा न नाद्सहशो लयः ॥ ४३ ॥
नासनिमिति ॥ सिद्धेन सिद्धासनेन सहशमासनम् । नास्तीति
शेषः । केवलेन केवलकुंभकेनोपमीयत इति केवलोपमः कुंभः कुंभको
नास्ति । खेचरीसुद्रासमा सुद्रा नास्ति । नाद्सहशो लयो लयहेतुनास्ति ॥ ४३ ॥

भाषार्थ-सिद्धासनके समान अन्य आसन नहीं है और केवल कुंमकके समान कुंमक नहीं है और खेचरी सुदाके समान सुद्रा नहीं है और नादके समान अन्य ब्रह्मों लयका हेतु नहीं है ॥ ४३॥

#### अथ पद्मासनम् ॥

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ॥ अंग्रष्टौ हृदये निधाय चिब्रुकं नासाग्रमालोकये-देतद्वचाधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ४४

पद्मासनं वक्तुमुपक्रमते-अथेति ॥ पद्मासनमाह-वामोरूप-रिति ॥ वामो य ऊरुस्तस्योपिर दक्षिणम् । चकारः पादपूरणे । संस्थाप्य सम्यगुत्तानं स्थापियत्वा वामं सन्यं चरणं तथा दक्षिणचरण-वह्को दक्षिणो य ऊरुस्तस्योपिर संस्थाप्य पश्चिमेन भागेन पृष्ठभागे-नेति । विधिर्विधानं करयोरित्यर्थात् । तेन कराभ्यां हस्ताभ्यां हढं यथा स्यात्तथा पादांग्रष्ठौ धृत्वा गृहीत्वा। दक्षिणं करं पृष्ठतः कृत्वा। वामोरुस्थितदक्षिणचरणांग्रष्ठं गृहीत्वा वामकरं पृष्ठतः कृत्वा। दक्षिणो-रुस्थितवामचरणांग्रष्ठं गृहीत्वेत्यर्थः। हृद्ये हृद्यसमीपे। सामीपिकाधारे सप्तमी। चिन्नकं हृतुं निधायोरसश्चतुरंग्रलांतरे चिन्नकं निधायोति रहस्यम्। नासायं नासिकायमालोकयेत्पश्येद्यत्रैतद्यमिनां योगिनां व्याधिविनाशं करोतीति व्याधिविनाशकारि पद्मासनमेतन्नामकं प्रोच्यते सिद्धेरिति शेषः॥ ४४॥

भाषार्थ—अब पद्मासनको कहते हैं कि, वाम जंघाके ऊपर सीधे दक्षिण चरणको मलीप्रकार स्थापन करके और तिसीप्रकार सीधे वाम चरणको दक्षिण जंघाके ऊपर मलीप्रकार स्थापन करके और पृष्ठमागसे जो विधि उससे दोनों हाथोंसे दढ रीति चरणोंके अँगूठोंको प्रहण (पकड) कर अर्थात् पृष्ठपर किये दक्षिणहाथसे वाम जंघापर स्थित दक्षिण चरणके अँगूठेको प्रहण करके और पृष्ठपर किये वाम हाथसे दक्षिण जंघापर स्थित वाम चरणके अँगूठेको प्रहण करके और इदयके समीप चार अंगुलके अंतर चिबुक (हनु वा ठोडी) रखकर अपनी नासिकाके अप्रभागको देखतारहै अर्थात् ऐसी स्थिति जिसमें हो यह योगियोंको संपूर्ण व्याधियोंका विनाशकारक पद्मासन सिद्धोंने कहाहै अर्थात् इस आसनके लगानेसे संपूर्ण व्याधि नष्ट होती हैं ॥ ४४ ॥

## उत्तानी चरणी कृत्वा ऊरुसंस्थी प्रयत्नतः ॥ ऊरुमध्ये तथीत्तानी पाणी कृत्वा तती दशी ॥४५॥

मत्स्येंद्रनाथाभिमतं पद्मासनमाह—उत्तानाविति ॥ उत्तानो ऊरु-संलग्नपृष्ठभागौ चरणौ पादौ प्रयत्नतः प्रकृष्टाचत्नादूरुसंस्थावूर्वाः सम्यक् तिष्ठत इत्यूरुसंस्थौ ताहशौ कृत्वा । अर्वोर्मध्ये रुऊमध्ये । तथा चार्थे । पाणी कराबुत्तानौ कृत्वा । अरुसंस्थोत्तानपादोभयपा-िष्णसंलग्नपृष्ठं सन्यं पाणिम्रत्तानं कृत्वा तदुपरि दक्षिणं पाणि चोत्तानं कृत्वेत्यर्थः । ततस्तद्नंतरं हशौ हष्टी ॥ ४५ ॥ भाषार्थ-अब मत्स्येंद्रनाथके कहे पद्मासनको कहते हैं कि, उत्तान चरणोंको बड़े यत्नसे जंघाओंपर स्थित करके अर्थात् जंघाओंपर छगा है पृष्ठभाग जिनका ऐसे चरणोंको उत्तम यत्नसे जंघाओंपर स्थित करके और जंघाओंके मध्यमें उत्तान (सीधे) हाथोंको रखकर तात्पर्य यहहै कि, जंघाओंपर स्थित जो चरणोंकी दोनों पार्षण उसमें छगा है पृष्ठभाग जिसका ऐसे वामहाथको उत्तान करके और उसके जपर दक्षिण पार्षणको उत्तान करके और फिर दृष्टि (नेत्रों) को ॥ ४९ ॥

नासामे विन्यसेद्राजदंतमूले तु जिह्नया॥ उत्तंभ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः॥४६॥

नासाय इति । नासाये नासिकाये विन्यसे दिशेषण निश्चलतया न्यसे दित्यर्थः ॥ राजदंतानां दंष्ट्राणां सन्यदक्षिणभागे स्थितानां मूले उभे मूलस्थाने जिह्नया उत्तंभ्य ऊर्ध्व स्तंभियत्वा । गुरुमुखादवगं-तन्योऽयं जिह्नावंधः चित्रुकं वक्षसि निधायोति शेषः । शनैर्मदंमंदं पवनं वायुमुत्थाप्य । अनेन मूलवंधः प्रोक्तः । मूलवंधोऽपि गुरुमुखादेवावगंतन्यः । वस्तुतस्तु जिह्नावंधेनेवायं चरितार्थं इति हठर-हस्यविदः ॥ ४६ ॥

भाषार्थ-अपनी नासिकाके अग्रभागमें निश्चलरूपसे लगा दे और राज-दतों (दाड) के मूलोंको जिह्वासे ऊपर स्तमंन (थांमना) करके और चिबुकको वक्षस्थलपर रखकर यह जिह्वाका वंधन गुरुके मुखसे जानने योग्य है-और शनै: २ पवनको उठाकर इससे मूल बंध कहा है यह भी गुरुके मुखसेही जानने योग्यहै हठरहस्य (सिद्धांत वा तत्व) के ज्ञाता तो यह कहते हैं कि, जिह्वाके वंबसेही मुलबंध होसक्ता है ॥ ४६॥

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ॥ ४७॥ इदमिति ॥ एवं यत्रास्यते तिद्दं पद्मासनं पद्मासनाभिधानं प्रोक्तम् । आसनज्ञीरिति शेषः । कीदृशं सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण



नाइनं येनकेनापि भाग्यहीनेन दुर्लभम् । घीमता भुवि भूमी लभ्यते शाप्यते ॥ ४७॥

आषार्थ—इस पूर्वोक्त प्रकारसे आसन लगाकर जहां बैठे वह सपूर्ण व्याधि-योंका नाशक योगिजनोंने पद्मासन कहा है और यह दुर्लभ आसन जिसकिसी बुद्धिमान् मनुष्योंको पृथिवीमें मिलता है अर्थात् विरलाही कोई इसको जानता है। अथवा जिस किसी मूर्खको दुर्लभ है और बुद्धिमान्को तो भूमिके विषे मिलसकता है। ४७॥

कृत्वा संपुटितो करें। दृढतरं बद्धा तु पद्मासनं गाढं वक्षसि सित्रघाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेति ॥ वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं न्यंचन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ४८॥

एतच महायोगिसंमतिमित स्पष्टियतुमन्यद्पि पद्मासने कृत्यविशेषमाह—कृत्वेति ॥ संप्रिटितौ संप्रिटीकृतौ करावुत्संगस्थाविति
श्लोषः । हटतरमितिश्येन हटं सुस्थिरं पद्मासनं वध्वा कृत्वेत्यर्थः । चित्रुकं
हत्तुं गाढं हटं यथा स्यात्तथा वक्षसि वक्षःसमीपे संनिधाय संनिहितं
कृत्वा चतुरंगुलांतरेणेति योगिसंमदायाज्ञ्ञेयम् । जालंघरवंधं कृत्वेत्यर्थः । तत्स्वस्वेष्टदेवतारूपं ब्रह्म वा । 'ओंतत्सिदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' इति भगवदुक्तेः । चेतिस चित्ते ध्यायन् चितयन् । अपानमिनलम् अपानवायुं उध्वं प्रोत्सारयन्मूलवंधं कृत्वा
सुषुम्नामार्गण प्राणमूध्वं नयन् पूरितं पूरकेण अंतर्धारितं प्राणं न्यंचन्नीचैरधोंचन् गमयन् । अंतर्भावितण्यर्थोऽचितः । प्राणापानयोरेक्यं कृत्वेत्यर्थः । नरः प्रमानतुलं बोधं निरुपमज्ञानं शक्तिप्रभावाच्छकिराधारशक्तिः कुंडिलिनी तस्याः प्रभावात्सामर्थ्यादुपैति प्रामोति ।
प्राणापानयोरेक्ये कुंडिलिनीबोधो भवति। कुंडिलिनीबोधे सुषुम्नमार्गण
प्राणो ब्रह्मरंध्रं गच्छित । तत्र गते चित्तस्थैर्यं भवति चित्तस्थैर्यं संयमादात्मसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

भाषार्थ-यह पद्मासन बड़े २ योगियोंको संमत है इस बातको स्पष्ट करते हुये ग्रंथकार पद्मासनके विषे अन्य भी कृत्यको कहते हैं कि, दोनों हाथोंको संपुटित करके उत्संग (गोदी) में स्थित करके और दढरीतिसे पद्मासनको बाँधकर और चिबुकको दढ रीतिसे वक्षःस्थलके समीप करके—यह चार अंगुडका अंतर योगियोंकी संप्रदायसे जानना—अर्थात इस पूर्वोक्त प्रकारसे जालंधर बंधको करके उसर अपने इष्टदेव वा ब्रह्मका चित्तके विषे वारंवार ध्यान करता हुआ योगी ओं तत सत् यह तीन प्रकारका नहानिर्देश ( रूप ) कहाहै क्योंकि यह भगवान्ने गीतामें कहा है। अपानवायुको जपरको प्रोत्सारित (चढाता) करता और मूळ बंधको करके सुषुम्नाके मार्गसे प्राणवायुको ऊपरको चढाता हुआ और पूरित किये अर्थात् पूरक प्राणायामसे अंतर्धारण किये प्राणवायुको नीचे गमन करता हुआ-अर्थात् प्राण और अपानकी एकताको करके मनुष्य शक्ति (आधारशक्ति कुंडलिनी) के प्रभावसे सर्वोत्तम ज्ञानको प्राप्त होता है-अर्थात् प्राण अपानकी एकताके होनेसे कुंडिलनीका बोध ( प्रकाश ) होता है कुंडिलिनीका बोध होनेपर सुषुम्नाके मार्गसे प्राण ब्रह्मरंध्रमें प्राप्त होजाता है और उसमें जानेसे चित्तको स्थिरता होजाती है-चित्तकी स्थिरता होनेपर संयमसे आत्माका साक्षात्कार होता है अर्थात् आत्मज्ञान होजाता है। भावार्थ यह है कि, दोनों हाथ संपुटित-और भलीपकार दृढ पद्मासन लगाय और अपने बक्ष:स्थलपर चिबुकको लगाकर और चित्तमें वारंवार इष्टदेवका ध्यान करता हुआ और अपान वायुको ऊपरको पहुँचता और पूरित किये प्राण वायुको नीचेको करता हुआ मनुष्य राक्तिके प्रभावसे उत्तम ज्ञानको प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

## पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ॥ मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः॥ ४९॥

पद्मासन इति-पद्मासने स्थितो योगी योगाभ्यासी पूरितं पूर-केणांतनीतं मारुतं वायुं सुपुम्नामार्गेण मूर्धानम् । नीत्वेति शेषः । धारयेतिस्थरीकुर्यात्स सुक्तः । अत्र संशयो नास्तीत्यन्वयः ॥ ४९ ॥

भाषार्थ-पद्मासनमें स्थित योगका अभ्यासी नाडीकेद्वारा प्रारित अर्थात् पूरकसे अंत (मध्यमें ) गीत किये वायुको सुषुम्राके मार्गसे मस्तक पर्यत पहुँचाकर जो स्थिर करे वह मुक्त है इसमें संशय नहीं है॥ ४९॥

#### अथ सिंहासनम्।

### गुल्को च वृषणस्याधः सीवन्या पार्श्वयोः क्षिपेत्॥ दक्षिणे सन्यग्रल्फं तु दक्षगुल्फं तु सन्यके ॥ ५० ॥

सिंहासनमाह-गुरुफो चेति ॥ वृषणस्याधः अधोभागे सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभयभागयोः क्षिपेत्मेरयेत्स्थापयेदिति यावत्। गुल्फस्थापनप्रकारमेवाह-दक्षिण इति । सीवन्या दक्षिणे भागे सव्यगुरुफं स्थापयेत् सव्यके सीवन्याः सव्यभागे दक्षिणगुरुफं स्थापयेत् ॥ ५० ॥

भाषार्थ-अब सिंहासनका वर्णन करते हैं कि, वृषणों (अंडकोष) के नीचे सीवनी नाडीके दोनों पार्श्वभागोंमें गुल्फोंको लगावे और दक्षिण पार्श्वमें वाम गुल्फको और वाम पार्धमें दक्षिणगुल्फको छगावै॥ ५०॥

### हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांग्रलीः संप्रसार्य च ॥ व्यात्तवक्रो निरीक्षेत नासायं सुसमाहितः ॥ ५१ ॥

हस्ताविति ॥ जान्वोरुपरि हस्तौ तु संस्थाप्य सम्यक् जानुसं-लग्नतली यथा स्यातां तथा स्थापियत्वा । स्वांगुलीः हस्तांगुलीः संप-सार्य सम्यक् प्रसारियत्वा । व्यात्तवक्रः संप्रसारितललजिह्नमुखः सुस-माहितः एकायचित्तः नासायं नासिकायं यस्मिन्निरीक्षेत ॥ ५१ ॥

भाषार्थ-और जानुओं के जपर हाथों के तलों को भलीप्रकार लगाकर और अपने हाथोंकी अंगुलियोंको प्रसारित करके अर्थात् फैलाकर—चंचल है जिह्या जिसमें ऐसे मुखको वा ( खोछ ) कर मलीप्रकार सावधान हुआ मनुष्य अपनी नासिकाके अग्रमागको देखे ॥ ५१॥

### सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिषुंगवैः॥ बंधित्रतयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम्॥ ५२॥

सिंहासनिमिति । एतिंसहासनं भवेत् । कीदृशं योगिपुंगवैः योगिश्रेष्ठैः पूजितं प्रस्तुतमासनेषूत्तमं सिंहासनं वंधानां मूलवंधादीनां त्रितयं तस्य संधानं संनिधानं कुरुते ॥ ५२ ॥

भाषार्थ-योगियोंमें जो श्रेष्ठ उनका पूजित यह सिंहासन होताहै और संपूर्ण आसनोंमें उत्तम यह आसन मूलवंब आदि तीनों बंधोंके संधान (संनिधान वा प्रकट) को करता है ॥ ५२॥

#### अथ भदासनम् ।

गुल्फो च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥ सन्यगुल्फं तथा सन्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥ ५३॥

भद्रासनमाह-गुरुफाविति ॥ वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभयतः । गुरुफो पाद्यंथी क्षिपेत् । क्षेपणप्रकारमेवाह-सव्यगुरुफामिति । सव्ये सीवन्याः पार्श्वे सव्यगुरुफं क्षिपेत् । तथा पाद्पूरणे । दक्षगुरुफं तु दक्षिणे सीवन्याः पार्श्वे क्षिपेत् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ-अब भदासनका वर्णन करते हैं कि, वृषणोंके नीचे सीवनीके दोनों पार्श्वभागोंमें इसप्रकार गुल्फोंको रक्खे कि, वामगुल्फको सीवनीके वाम-पार्श्वमें और दक्षिणगुल्फको दक्षिणपार्श्वमें लगाकर स्थित करे। ५३॥

## पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्धा सुनिश्चलम्॥ भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम्॥ ५४॥

पार्श्वपादाविति ॥ पार्श्वपादौ च पार्श्वसमीपगतौ पादौ पाणिभ्यां भुजाभ्यां दृढं बद्धा । परस्परसंलग्नागुलिभ्यामुद्रसंलग्नतलाभ्यां पाणिभ्यां बद्धेत्यर्थः । एतद्भद्रासनं भवेत् । कीदृशं सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनम् ॥ ५४ ॥ भाषार्थ-और सीवनीके पार्श्वभागोंके समीपमें गये पादोंको भुजाओंसे हढ बांधकर अर्थात् परस्पर मिलीहुई जिनकी अंगुलि हों और जिनका तल हृदयपर लगा हो ऐसे हाथोंसे निश्चल रीतिसे थामकर जिसमें स्थित हो संपूर्ण ज्याधियोंका नाशक वह भद्रासन होताहै ॥ ९४॥

## गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः ॥ एवमासनबंधेषु योगींद्रो विगतश्रमः ॥ ५५ ॥

गोरक्षेति ॥ सिद्धाश्च ते योगिनश्च सिद्धयोगिनः इदं भद्रासनं गोरक्षासनिमत्याहुः।गोरक्षेण प्रायशोऽभ्यस्तत्वाद्गोरक्षासनिमति वदंति । आसनान्युक्तानि । तेषु यत्कर्तव्यं तदाह । एविमति । एवमुक्तेष्वासन् नवंधेषु वंधनप्रकारेषु विगतः श्रमो यस्य स विगतश्रम आसनानां वंधेषु श्रमरहितः । योगिनामिद्रो योगीदः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ-और सिद्ध जो योगी हैं वे इसकोही गोरक्षासन कहते हैं अर्थात् पूर्वीक्त गोरक्षनाथने प्रायः इसका अभ्यास किया है इससे इसको गोरक्षासन कहते हैं—आसनोंको कहकर उनके कर्तव्यको कहते हैं कि, इसप्रकार आस-नोंके बांधनेमें विगत (नष्ट) हैं श्रम जिसका ऐसा योगीन्द्र (क्षेष्ठ-योगी)—॥ ५५॥

## अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनिकयाम् ॥ आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा॥ ५६॥

अभ्यसिद्ति ॥ नाडिकानां नाडीनां गुद्धिम् । 'प्राणं चेदि-डया पिबेन्नियमितम्' इति वक्ष्यमाणरूपा मुद्रा आदिर्यस्याः सूर्य-भेदादेस्ताहशीम् । पवनस्य प्राणवायोः क्रियां प्राणायामरूपां चाभ्यसेत् । अथ हठाभ्यसनक्रममाह—आसनिमिति ॥ आसनमुक्तलक्षणं चित्रं नानाविधं कुंभकं 'सूर्यभेदनमुज्जापी ' इत्यादिवक्ष्यमाण्यम् । मुद्रा इत्याख्या तस्य तन्मुद्राख्यं महामुद्रादिरूपकरणं हठसिद्धौ प्रकृष्टोपका-रकम् । तथा चार्थे ॥ ५६ ॥ आप्यार्थ—नाडियोंकी द्युद्धिका अभिलाषी और नियमित ( एके ) प्राणको इडा नामकी नाडीसे पीवे आगे कहीं हुई यह मुद्राहे आदिमें जिसके ऐसी प्राणवायुकी किया (प्राणायाम ) का अभ्यास करें। अब हठाभ्यासके क्रमको कहते हैं कि, पूर्वोक्त आसन और चित्र (नानाप्रकारका ) कुंभक प्राणायाम और मुद्राहे नाम जिसका ऐसा करण ये हठ सिद्धिमें प्रकृष्ट ( उत्तम ) उपकारी हैं इस इलोकमें तथाशब्द चशब्दके अर्थमें हैं॥ ९६॥

अथ नादानुसंघानमभ्यासानुक्रमो हरे।।
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः॥
अब्दादृध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा॥५७॥

अथेति ॥ अथेतत्रयानुष्ठानानंतरं नादस्यानाहतव्यनेरनुसंघानमनु-चितनं हठे हठयोगेऽभ्यासोऽभ्यसनं तस्यानुक्रमः पौर्वापर्यक्रमः । हठसिद्धेरविधमाह—ब्रह्मचारीति । ब्रह्मचर्यवान् मिताहारो वक्ष्यमाणः सोऽस्यास्तीति मिताहारी त्यागी दानशीलो विषयपरित्यागी वा योगपरायणः योगाभ्यसनपरः । अन्दाद्धर्षाद्ध्वं सिद्धः सिद्धहठो भवेत् । अत्रोक्तेऽथे विचारणा स्याच वेति संश्यप्रयुक्ता न कार्या । एतिन्निश्चितमेवेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ-इन पूर्वोक्त आसन आदि तीनोंके करनेके अनंतर नादका अनु-संग्रान (चितन) अर्थात् कानोंको दबाकर जो अनाहत ताडनाके विना च्यिन सदैव अतः होती रहतीहै उसका विचार यह संपूर्ण हठयोगमें अभ्यासका क्रम है अर्थात् इस क्रमसे हठयोगका अभ्यास करे । अब हठयोगकी सिद्धिकी अवधिको कहतेहैं कि ब्रह्मचारी और प्रमित भोजी त्यागी ( दानी वा विषयोंका त्यागी ) योगमें परायण ( योगका अभ्यासी ) मनुष्य एक वर्षके अनंतर सिद्ध होजाताहै इसमें यह विचार नहीं करना कि होगा वा न होगा अर्थात् निश्चयसे सिद्ध होजाताहै ॥ ५७॥

सुस्मिग्धमधुहारश्च चतुर्थांशविवर्जितः ॥ भुज्यते शिवसंप्रीत्ये मिताहारः स उच्यते ॥ ५८॥ पूर्वश्लोक मिताहारीत्युक्तं तत्र योगिनां कीह्यो मिताहार इत्य-पेक्षायामाह—सुक्तिग्धेति ॥ सुक्तिग्धोऽतिस्तिग्धः स चासौ मधुरश्च ताह्य आहारश्चतुर्थाशिवविजितश्चतुर्थभागरिहतः । तदुक्तमभियुक्ते— 'द्वौ भागौ पूरयेद्त्रैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् । वायोः संचरणार्थाय चतुर्थ-मवशेषयेत् ' इति । शिवो जीव ईश्वरो वा । 'भोक्ता देवो महेश्वरः ' इति वचनात् । तस्य संप्रीत्ये सम्यक्पीत्यर्थयो भुज्यते स मिता-हार इत्युच्यते ॥ ५८ ॥

भाषार्थ-पूर्व रलोकमें जो मिताहारी कहाहै उसके लिये योगियों के मिता-हारको कहतेहें कि, भलीप्रकार क्लिग्ध (चिकना) और मधुर जो आहार वह चतुर्थाशसे रहित जिस भोजनमें शिवजी (जीव वा ईश्वर) के प्रीतिके अर्थ भक्षण किया जाय वह मिताहार कहाताहै सोई इस वचनसे पंडितोंने कहाहै कि, उदरके दो भाग अन्नसे पूर्ण करें (भरें) और एक भागको जलसे पूर्णकरें और चौथे भागको प्राण वायुके चलनेके लिये शेष रक्ष और देव जो महेश्वर वह भोक्ताहै देह नहीं ॥ ९८ ॥

कट्रम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाकसीवीरतैलिल-सर्पपमद्यमत्स्यान् ॥ आजादिमांसद्धितककुलत्थ कोलिपिण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥ ५९ ॥ अथ योगिनामपथ्यमाह द्राम्याम्-कट्टिति ॥ कटु काखेल हत्यादि अम्लं विचाफलादि तीक्ष्णं मरीचादि लवणं प्रसिद्धम उष्णं

अथ योगिनामपथ्यमाह द्वाभ्याम्-काँद्वाति ॥ कटु कारवेल इत्यादि अम्लं चिंचाफलादि तीक्षणं मरीचादि लवणं मिसद्धम् उष्णं गुडादि हरीतज्ञाकं पत्रज्ञाकं सौवीरं कांजिकं तेलं तिलसर्पपादि-स्नेहः तिलाः मिसद्धाः सर्पपाः सिद्धार्थाः मद्यं सुरा मत्स्यो झषः। एपामितरेतरहंदः । एतानपथ्यानाहः । अजस्येदमाजं तदादिर्यस्य सौकरादेस्तदाजादि तच्च तन्मांसं चाजादिमांसं दिध दुग्धपरिणाम-विशेषः तकं गृहीतसारं दिध कुल्त्यादिर्दिद्लविशेषः कोलं कोल्याः फलं बद्रम् । 'कर्कधूर्वदरी कोलिः' इत्यमरः । पिण्याकं तिलिपंडं हिंगु रामठं लग्नुनम् । एषामितरेतरदंदः । एतान्याद्यानि यस्य

तत्तथा । आद्यशब्देन पलांडुग्टंजनमादकद्रव्यमाषान्नादिकं ग्राह्मम् । अपथ्यमहितम् । योगिनामिति शेषः । आहुर्योगिन इत्यध्याहारः ५९॥

भाषार्थ-अब दो श्लोकोंसे योगियोंके अपध्यको कहतेहैं कि, करेला आदि कटु और इमली आदि अम्ल (खट्टा) और मिर्च आदि तिक्ष्ण लवण और गुढ आदि उष्ण और हरित शाक (पत्तोंका शाक) सौवीर (कांजी) तैल तिल मदिरा मत्स्य इनको अपध्य कहते हैं और अजा (बकरी) आदिका मांस दही तक (मठा) कुल्थी कोल (बेर) पिण्याक (खल) हींग लहसन ये सब है आद्य (पूर्व) जिनके ऐसे पलांडु (सल्जम) गाजर मादक द्रव्य उडद ये सब योगीजनोंने योगियोंके अपध्य कहे हैं ॥ ९९॥

### भोजनमहितं विद्यात्युनरस्योष्णीकृतं रूक्षम् ॥ अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम्६०॥

भोजनिमिति ॥ पश्चादिमसंयोगेनोच्णीकृतं यद्भोजनं स्पोदनरोटिकादि रूक्षं घृतादिहीनम् अतिश्चितं ठवणं यस्मिस्तदित्ठवणं
यदा ठवणमतिकांतमित्ठवणं चाक्कवा इति ठोके प्रसिद्धं शाकं
यवक्षारादिकं च। ठवणस्य सर्वथा वर्जनीयत्वादुत्तरपक्षः साधुः । तथा
दत्तात्रेयः—'अथ वर्ज्यानि वक्ष्यामि योगविष्नकराणि च। ठवणं सर्वपं
चाम्छमुयं तीक्षणं च रूक्षकम् ॥ अतीव भोजनं त्याज्यमितिनद्रातिभाषणम् । दिते । स्कंदपुराणेऽपि—'त्यजेत्कद्वम्ठठवणं क्षीरभोजी
सदा भवत् दे इति । अम्छयुक्तमम्छद्वयेण युक्तम् । अम्छद्वव्येण युक्तमित त्याज्यं किम्रत साक्षादम्छम् । अत्र तृतीयपद्दं
पछ्छं वा तिर्छापंडमिति केचित्पर्ठति तस्यायमर्थः । पछ्छं मांसं
तिर्छापंडं पिण्याकं कदशनं कदन्नं यावनारुकोद्दवादि शाकं विहितेतरशाकमात्रम् । उत्कटं विदाहि मिरचीति छोके प्रसिद्धम् ।
मिरचा इति हिंदुस्थानभाषायाम् । कदशनादीनां समाहारद्देः।
अतिरुवणादिकं वर्ज्यं वर्जनाईम् । दुष्टमिति पाठे दुष्टं पूतिपर्युषितादिं।
अहितमिति योजनीयम् ॥ ६० ॥

भाषार्थ-और इस योगीको ये भोजन सिहतहैं कि, अमिक संयोगसे पुनः ( दुबारा ) उष्ण किया जो दाल चावल आदि और रूखा अर्थात छूत आदिसे रहित जिसमें अधिक लवण हो वा जो लवणका भी अवलंबनकारी हो जैसे चाकूवा नामका शाक वा जौंका खार इन दोनों पक्षोंमें इससे उत्तरपक्ष श्रेष्ठहैं कि, लवण सर्वथा वर्जितहैं सोई दत्तात्रेयने कहा है कि, इसके अनंतर वर्जितोंको और इस योगमें विप्तकारियोंको कहताहूं कि लवण सरसों अम्ल उम्र ( सौहांजना ) तीक्ष्ण रूखा अत्यन्त भोजन ये भोजन और अत्यन्त निद्रा और अत्यंत भाषण ये त्याज्य हैं । स्कंदपुराणमें भी लिखा है कि, कटु अम्ल लवण इनको त्यागदे और सदैव दूधका भोजन करें । अम्लसे युक्त भी पदार्थ त्यागने योग्यहैं तो साक्षात अम्ल क्यों न होगा । इसमें तीसरा पद कोई यह पढते हैं कि, पललं वा तिलपिंड उसका यह अर्थ है कि, मांस और खलको वर्जदे और कुत्सित अल ( यावनाल कोदूआदि ) और शास्त्रोक्तसे अल शाक और उत्कट ( विदाहि ) जिससे उदरमें जलन हो ऐसे मिर्च आदि ये सब अति लवण आदि वर्जितहैं । और वर्ज्य इसके स्थानमें दुष्ट यह पाठ होय तो वह दुष्ट पूर्ति ( दुर्गिक्ष ) और पर्युषित ( वासी ) आदिमी अहितहें ॥ ६०॥

विह्मिपिथसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ॥ ६१ ॥ तथाहि गोरक्षवचनम् "वर्जयेहुर्जनप्रांतं विह्मिपिथसेवनम् । प्रातःस्नानोपवासादि कायक्केशविधि तथा" ॥

एवं योगिनां सदा वर्जान्युक्त्वाभ्यासकाले वर्जान्याहाधेन—
वद्गीति ॥ विहश्च स्त्री च पंथाश्च तेषां सेवा विहसेवनस्त्रीसंगतीर्थयात्रागमनादिरूपास्तासां वर्जनमादावभ्यासकाल आचरेत् । सिद्धेऽभ्यासे तु कदाचित् । शीते विहसेवनं गृहस्थस्य ऋतौ स्वभार्यागमनं
तीर्थयात्रादौ मार्गगमनं च न निषद्धिमत्यादिपदेन सूच्यते । तत्र
प्रमाणं गोरक्षवचनमवतारयाति—तथाहीतिं तत्पठाति—वर्जयेदिति ।
दुर्जनमांतं दुर्जनसमीपवासम् । दुर्जनप्रीतिमिति क्वित्पाठः । विहस्ती-

पंथिसेवनं व्याख्यातं प्रातःस्नानं उपवासश्चादिर्यस्य फलाहारादेः तच तयोः समाहारद्वेदः । प्रथमाभ्यासिनः प्रातःस्नाने शीतविकारोत्पत्तेः । उपवासादिना पित्ताद्युत्पत्तेः । कायक्केशविधि कायक्केशकरं विधि क्रियां बहुसूर्यनमस्कारादिरूपां बहुभारोद्वहनादिरूपां च । तथा समु-चये । अत्र प्रतिपदं वर्जयेदिति क्रियासंबंधः ॥ ६१ ॥

भावार्थ-इसप्रकार योगियोंको जो सदैव कालमें वर्जित हैं उनको कहकर योगके समयमें जो वर्जित हैं उनको कहते हैं कि, विह स्त्री मार्ग इनकी सेवा स्थित स्थान क्षेत्रको सेवा स्त्रीसंग तीर्थयात्रागमन इनका वर्जन अभ्यासके समयमें करे और अभ्यासके सिद्ध होनेपर कदाचित्ही वर्जिद शीतकालमें अग्निका सेवन गृहस्थको ऋतुके समय स्वभार्यागमन और तीर्थयात्रा आदिमें मार्ग गमन निषिद्ध नहीं है यह आदि पदसे सूचित किया । उसमें प्रमाणरूप गोरक्षका वचन कहते हैं कि, दुर्जनके समीपका वास और कहीं यह पाठहै कि, दुर्जनके संग प्रीति और अग्नि स्त्री मार्ग इनका सेवन और प्रात:कालसान और उपवास आदि । यहां आदि पदसे फलाहार और कायाके क्षेत्रकों विधिकों अर्थात् अनेक-वार सूर्यनमस्कार आदिकों और अधिक भारका लेजाना आदिको वर्जदे इस क्षोकमें तथा पद समुचयका बोधक है ॥ ६१॥

गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनात्रं क्षीराज्यखंडनव-नीतिसतामधूनि ॥ ग्रुंठीपटोलकफलादिकपंचशाकं मुद्रादि दिव्यमुद्रकं च यमीद्रपथ्यम् ॥ ६२ ॥

अय योगिपथ्यमाह-गोधूमेत्यादिना ॥ गोधूमाश्च शालयश्च यवाश्च पाष्टिकाः षष्टचा दिनैये पच्यंते तंदुलविशेषास्ते शोभनमन्नं पवित्रानं श्यामाकनीवारादि तच्चेतेषां समाहारद्वंद्वः । क्षीरं दुग्धमाल्यं यृतं खंडः शकरा नवनीतं मिथतद्धिसारं सिता तीव्रपदी खंडशर्क-रेति लोके प्रसिद्धा मिसरीति हिंदुस्थानभाषायाम् । मधु क्षोद्रमेषा-मितरेतरद्वंद्वः । शुंठी प्रसिद्धा पटोलफ्लं परवर इति भाषायां प्रसिद्धं शाकं तदादिर्यस्य कौशातक्यादेस्तत्पटोलकफलादिकं "शेषाद्विभाषा"

इति कप्पत्ययः। पंचानां शाकानां समाहारः पंचशाकम्। तदुक्तं वैद्येके-'सर्वशाकमचाक्षुष्यं चाक्षुष्यं शाकपंचकम् । जीवंतीवास्तुमू-ल्याक्षी मेवनाद्युनर्नवां ।। इति । सुद्रा द्विद्रविशेषा आदिर्यस्य तन्मुद्रादि आदिपदेन आढकी याह्या। दिन्यं निर्देशमुद्कं जलम्। यम एवामस्तीति यमिनः तेष्विद्रो देवश्रेष्ठो योगींद्रस्तस्य पथ्यं हितम् ॥ ६२ ॥

आषार्थ-अब योगियोंके पथ्यका वर्णन करते हैं कि, गेहूँ शालि (चावल) जौ और षाष्ट्रिक ( सांठी ) और पवित्र अन्न ( इयामाक नीवार आदि ) दूध घी खांड नौनी घी सिता ( मिसरी ) मधुर ( सहत ) सूँठ पटोल फल ( पर-वल ) आदि, पांच शाक मूंग आदि, आदि पदसे आढको और दिन्य जल अर्थात् निर्दोष जल ये योगियोंमें जो इंदहें उनके पथ्य हैं वैद्यकमें भी ये पांच शाक पथ्य कहे हैं कि, संपूर्ण शाक अचाक्षुष्यहें अर्थात् नेत्रोंको हितकारी नहीं हैं किंतु ये पांच शाकही चाक्षुष्य हैं कि, जीवन्ती वास्तु (बथुवा) मूल्याक्षि मेवनाद और पुनर्नवा ॥ ६२॥

### पुष्टं सुमधुरं सिग्धं गन्यं धातुप्रपोषणम् ॥ मनोभिलिषतं योग्यं योगी भोजनमाचरेत्।।६३॥

अथ योगिनो भोजननियममाह-पृष्टमिति ॥ पुष्टं देहपुष्टि-करमोदनादि सुमधुरं शर्करादिसहितं स्निग्धं सघृतं गव्यं गोदुग्ध-चृतादियुक्तं गव्यालाभे माहिषं दुग्धादि श्राह्मम् । धातुपपोषणं लड्डुकापूर्पाद मनोभिल्षितं प्रष्टादिषु यन्मनोरुचिकरं तदेव योगिना भोक्तव्यम् । मनोभिलिषतमिष किमविहितं भोक्तव्यं नेत्याह-योग्य-मिति । विहितमेवेत्यर्थः । योगी भोजनं पूर्वोक्तविशेषेण विशिष्टमा-चरेत्कुर्यादित्यर्थः । न तु सक्तुभितान्तादिना निर्वाहं कुर्यादिति भावः ॥ ६३ ॥

आषार्थ-अब योगीके भोजनोंका नियम कहते हैं कि ओदन आदि देह पुष्टिकारक और शर्करा आदि मधुर और घृतसहित भोजन और दुग्ध धृत

आदि गन्य यदि गौके घृत आदि न मिळे तो भैंसके ग्रहण करने और धातुपोपक ( छड्डू पूआ आदि ) इनमें जो अपने मनको वाञ्छित हो उस योग्य अर्थात् शास्त्रविहित भोजनको योगी करै और सत्तु भुने अन्न आदिसे निर्वाह न करै ॥ ६३॥

## युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ॥ अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतंद्रितः ॥६४॥

योगाभ्यासिनो वयोविशेषारोग्याद्यपेक्षा नास्तीत्याह—युवेति ॥
युवा तरुणः वृद्धो वृद्धावस्थां प्राप्तः अतिवृद्धोऽतिवार्द्धकं गतो वा ॥
अभ्यासादासनकुंभकादीनामभ्यसनाित्सिद्धं समाधितत्फलरूपामाः
मोति । अभ्यासप्रकारमेव वदन्विशिनष्टि—सर्वयोगेष्विति । सर्वेषु
योगेषु योगांगेष्वतंदितोऽनलसः । योगांगाभ्यासाित्सिद्धिमामोतीत्यर्थः । जीवनसाधने कृषिवाणिज्यादौ जीवनशब्दप्रयोगवत्साक्षात्परंपरया वा योगसाधनेषु योगांगेषु योगशब्दप्रयोगः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—अब इस बातका वर्णन करते हैं कि, योगके अभ्यासीको अवस्था विशेष और आरोग्य आदिकी अपेक्षा नहीं है कि, युवा हो दृद्ध वा अतिदृद्ध हो रोगी हो वा दुर्वल हो अभ्याससे आसन कुंभक आदिके करनेसे समाधि और उसके फलको प्राप्त होता है। अभ्यासके स्वरूपको कहते हैं कि, संपूर्ण जो योगके अंग उनमें आलस्य न करै यहां योगके साधन योगांगोंमें इसप्रकार योग शब्दका प्रयोग है जैसे जीवनके साधन कृषि वाणिज्य आदिमें जीवन-शब्दका प्रयोग होताहै॥ ६४॥

## कियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादिकयस्य कथं भवेत्॥ न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते॥ ६५॥

अभ्यासादेव सिद्धिर्भवतीति द्रहयन्नाह द्राभ्याम् क्रियायुक्त-स्येति ॥ क्रिया योगांगानुष्ठानरूपा तया युक्तस्य सिद्धियोगसिद्धिः स्यात् । अक्रियस्य योगांगानुष्ठानरहितस्य कथं भवेन्न कथमपीत्यर्थः। नतु योगशास्त्राध्ययनेन योगसिद्धिः स्यान्नेत्याह-नेति ॥ शास्त्रस्य योगशास्त्रस्य पाठमात्रेण केवलेन पाठेन योग्यस्य सिद्धिर्न प्रजायते नैव जायत इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

भाषार्थ-अब अम्याससे सिद्धि होती है इस वातको दृढ करनेके छिये दो २ स्त्रोकोंको कहते हैं कि, योगांगोंके करनेमें जो युक्त उस पुरुषको योग-सिद्धि होती है और जो योगांगोंको नहीं करता उसको योगीकी सिद्धि नहीं होती कदाचित् कहो कि, योगशास्त्रके पढनेसे सिद्धि हो जायगी सो ठीक नहीं क्योंकि योगशास्त्रके केवल पढनेसे योगसिद्धि नहीं होती ॥ ६९॥

### न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा।। क्रियेव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥ इइ ॥

निति ॥ वेषस्य काषायवस्त्रादेः धारणं सिद्धेयाँगसिद्धेः कारणं न । तस्य योगस्य कथा वा कारणं न । किं तर्हि सिद्धेः कारणमि-त्यत आह-क्रियेवेति ॥ ६६ ॥

भाषार्थ-गेरुसे रंगे वस्त्र आदिका धारण सिद्धिका कारण नहीं और योगशास्त्रको कथा भी सिद्धिका कारण नहीं यह सत्य है इसमें संशय नहीं ॥ ६६ ॥

पीठानि कुंभकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च।। सर्वाण्यपि इठाभ्यासे राजयोगफलावधि ॥ ६७ ॥ इति श्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयोगी-न्द्रविरचितायां हठयोगप्रदीपिकायामासनवि-धिकथनं नाम प्रथमोपदेशः ॥ १॥

योगांगानुष्ठानस्यावधिमाह-पीठानीति ॥ पीठान्यासनानि चित्रा अनेकविधाः कुंभकाः सूर्यभेदादयः दिव्यान्युत्कृष्टानि कारणानि महामुद्रादीनि हठसिद्धी प्रकृष्टोपकारकत्वं कारणत्वं हठाभ्यासे सर्वाणि पीठकुंभककरणानि राजयोगफलावधि राजयोग एव फलं तद्वधि तत्पर्यतं कर्तव्यानीति शेषः॥ ६७॥

इति श्रीहठमदीपिकायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां टीकायां प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

भाषार्थ-अन योगांगोंके करनेकी अवधिको कहते हैं कि, पूर्वोक्त आसन और अनेक प्रकारके कुंगक आदि प्राणायाम महामुद्रा आदि दिव्य करण ये संपूर्ण हठयोगके अन्यासमें राजयोगके फल्पर्यंत करने योग्य हैं अर्थात् ये राजयोगमें प्रकृष्ट उपकारक हैं क्योंकि प्रकृष्ट जो उपकारक वहीं करण होताहै ॥ ६०॥

इति श्रीसहजानंदसंतानचिन्तामणिस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितहठयोगप्रदी-पिकायां लाँखप्रामनिवासि पं मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृतिसहि-तायामासनविधिकथनं नाम प्रथमोपदेशः ॥ १॥

#### अथ द्वितीयोपदेशः २.

### अथासने हढे योगी वशी हितमिताशनः ॥ गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ १॥

अथासनोपदेशानंतरं प्राणायामान्वक्तुमुपक्रमते—अथिति ॥ अथेति मंगलार्थः । आसने हटे साति वशी जिताक्षः हितं पथ्यं च तन्मितं च पूर्वीपदेशोक्तलक्षणं तत्ताहशमशनं यस्य स हिन्नमिताशनः ग्रुरुणोप-दिष्टो यो मार्गः प्राणायामाभ्यासप्रकारस्तेन प्राणायामान् वक्ष्यमाणा-न्सम्यग्रत्साहसाहसंघैर्यादिभिरभ्यसेत् । हटे स्थिरे ककुटादिविवर्जिते सिद्धासनादाविति वा योजना ॥ १॥

भाषार्थ—आसनोंके उपदेशको कहकर प्राणायामोंके कहनेका प्रारंभ करते हैं । इस स्रोकमें अधशब्द मंगलके लिये है वा अनंतरका वाचकहै इसके अनंतर आसनोंकी दढता होनेपर जीती हैं इंद्रियें जिसने हित (पथ्य) और पूर्वोक्त प्रिमित है भोजन जिसका ऐसा योगी गुरुके उपदेश किये मार्गसे आगे वर्णनिकये प्राणायामोंका भलीप्रकार अभ्यास करै—अर्थात् उत्साह—साहस—धीरता आदिसे प्राणायामोंके करनेमें मनको लगावै॥ १॥

## चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥ योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥२॥

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते ' इति महदुक्तेः प्रयोजना-भावेन प्रवृत्त्यभावात्प्राणायामप्रयोजनमाह—चले वात इति ॥ वाते चले सित चित्तं चलं भवेत् । निश्चले वाते निश्चलं भवेचित्तमित्यत्रापि संबध्यते । वाते चित्ते च निश्चले योगी स्थाणुत्वं स्थिरदीर्घजी-वित्वमिति यावत् । ईशत्वं वाभोति । ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निरो-ध्योत्कुंभयेत् ॥ २ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि, प्रयोजनके विना मंद भी प्रवृत्त नहीं होता-इस महान् पुरुषोंके वचनसे प्रयोजनके अभावसे प्राणायामों में योगीकी प्रवृत्ति नहीं होगी—इसिंख्ये प्राणायामोंका प्रयोजन कहते हैं कि, प्राणवायुके चलायमान होनेसे चित्तभी चलायमान होता है—और प्राणवायुके निश्चल होनेपर चित्त भी निश्चल होता है—और प्राणवायु और चित्त इन दोनोंके निश्चल होनेपर योगी स्थाणुरूपको प्राप्त होता है अर्थात् स्थर और दीई कालतक जीता है तिससे योगी प्राणवायुका निरोध करे अर्थात् कुंभकप्राणायामोंको करे। २ ॥

# यावद्वायुः स्थितो देहे तावजीवनमुच्यते ॥ मरणं तस्य निष्कांतिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ३॥

यावदिति ॥ देहे शरीरे यावत्कालं वायुः प्राणः स्थितः ताव-त्कालपर्यतं जीवनमुच्यते लोकैः । देहपाणसंयोगोस्येव जीवनपदार्थ-त्वात् । तस्य प्राणस्य निष्कांतिर्देहादियोगे मरणमुच्यते । ततस्त-स्माद्वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥ भाषार्थ-जबतक दारीरमें प्राणवायु स्थित है तबतकही जगत् जीवनको कहता है क्योंकि देह और प्राणका जो संयोग है वहीं जीवन कहाता है और उस प्राणवायुका जो देहसे वियोग (निकसना) उसकोही मरण कहते हैं तिससे जीवनके लिये प्राणवायुके निरोध (रोकना) रूप प्राणायामको करे ॥ ३॥

## मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः॥ कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत्॥४॥

मलशुद्धेहंठसिद्धिजनकत्वं व्यतिरेकेणाह—मलाकुलास्विति ॥ नाडीषु मलेराकुलासु व्याप्तासु सतीषु मारुतः प्राणो मध्यगः सुषु-म्नामार्गवाही नेव स्यात् । अपि तु शुद्धमलास्वेव मध्यगो भवतीत्यर्थः। उन्मनीभाव उन्मन्या भावो भवनं कथं स्यान्न कथमपीत्यर्थः। कार्यस्य कैवल्यरूपस्य सिद्धिनिष्पत्तिः कथं भवेन्न कथंचिदपीत्यर्थः॥ ४॥

भाषार्थ—अब मलकी ग्रुद्धि हठयोगसिद्धिका जनक है इस बातको निषेधमुखसे वर्णन करते हैं कि, जबतक नाडी मलसे व्याकुल (व्याप्त ) हैं तबतक
प्राण मध्यम नहीं होसकता अर्थात् सुपुम्ना नाडीके मार्गसे नहीं चल सकता
किंतु मलगुद्धि होनेपरही मध्यम होसकता है तो मलसेयुक्त नाडियोंके विद्यमान
रहते उन्मनीभाव कैसे होसकता है और मोक्षरूप कार्यकी सिद्धि कैसे होसकी
है अर्थात् नहीं होसकी । सुपुम्नानाडीके प्राणसंचार होनेको उन्मनीभाव
कहते हैं ॥ ४॥

## शुद्धिमेति यदा सर्व नाडीचकं मलाकुलम् ॥ तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ५॥

अन्वयेनापि मलगुद्धेईठिसिद्धिहेतुत्वमाह-गुद्धिमेतीति ॥ यदा यस्मिन्काले मलैराकुलं व्याप्तं सर्व समस्तं नाडीनां चकं समूहः गुद्धि मलराहित्यमेति प्राप्नोति तदेव तस्मिन्नेव काले योगी योगाभ्यासी प्राणस्य यहणे क्षमः समर्थों जायते ॥ ५ ॥ भाषार्थ-और मलोंसे व्याकुल संपूर्ण नाडियोंका समूह जब शुद्धिकों प्राप्त होता है उसी कालमें योगी प्राणवायुके संप्रहण ( रोकना ) में समर्थ होता है, इस क्लोंकसे यह बात वर्णनकी कि, अन्वयसेही मलशुद्धि-हठयोग सिद्धिकी हेतु है अर्थात् इन पूर्वीक्त अन्वयव्यतिरेक कारणोंसे योगी मलशु-द्धिकेलिये प्राणायामोंका सदैव अभ्यास करें॥ ९॥

### प्राणायामं ततः कुर्यात्रित्यं सात्त्विकया घिया ॥ यथा सुषुत्रानाडीस्था मलाः शुद्धि प्रयांति च॥६॥

मलशुद्धिः कथं भवतीत्याकांक्षायां तच्छोधंकं प्राणायाममाह-प्राणा-यामिति ॥ यतो मलशुद्धं विनापाणसंग्रहणे क्षमो न भवति ततस्त-स्मादीश्वरप्राणिधानोत्साहसाहसादिपयत्नाभिभूतविक्षेपालस्यादिराज-सतामसधर्मया सास्विकया प्रकाशपसादशीलया धिया बुद्धचा नित्यं प्राणायामं कुर्यात् । यथा येन प्रकारेण सुषुम्नानाडचां स्थिता मलाः शुद्धिप्रपगमं प्रयांति नश्यंतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

भाषार्थ-अब मल्शुद्धिके हेतु प्राणायामको कहते हैं जिसकारण योगी मल्शुद्धिके विना कारणोंके संग्रहणमें समर्थ नहीं होता तिससे सान्त्रिक बुद्धिसे प्राणायामको नित्य करे अर्थात् ईश्वरका प्रणिधान उत्साह साहस आदि यत्नोंसे तिरस्कारको प्राप्त भये हैं विक्षेप आल्स्य आदि रजोगुणी धर्म जिसके ऐसी सान्त्रिक अर्थात् प्रकाशमान और प्रसन्न बुद्धिसे सदैव प्राणायाममें उसप्रकार तत्पर रहे जिसप्रकारसे सुष्मना नाडीमें स्थित संपूर्ण मल्शुद्धिको प्राप्त होय अर्थात् नष्ट होजाय ॥ ६॥

### बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चंद्रेण पूरयेत् ॥ धारियत्वा यथाशिक भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ७॥

मलज्ञोधकप्राणायामप्रकारमाह द्राभ्याम् बद्धपद्मासन इति ॥ बद्धं पद्मासनं येन ताहज्ञो योगी प्राणं प्राणवायुं चंद्रेण चंद्रनाडचे-डया पूरयेत् । ज्ञाक्तिमनतिकम्य यथाज्ञाक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा । भूयः पुनः सूर्येण सूर्यनाडचा पिंगलया रेचयेत् । बाह्यवायोः प्रयत्न-विशेषादुपादानं पूरकः । जालंधरादिबंधपूर्वकं प्राणिनरोधः कुंभकः। कुंभितस्य वायोः प्रयत्नविशेषाद्रमनं रेचकः । प्राणायामांगरेचक-पूरकयोरेवेमे लक्षणे इति । 'भस्नावलोहकारस्य रेचपूरी ससंभ्रमी ' इति गौणरेचकपूरकयोर्नाव्याप्तिः। तयोर्लक्ष्यत्वाभावात् ॥ ७॥

भाषार्थ-अब मलके शोधक प्राणायामके प्रकारको कहते हैं कि, बांधा है पद्मासन जिसने ऐसा योगी प्राणवायुंको चंद्रनाडी (इडा ) से पूर्ण करें अर्थात् चढावे फिर उसको अपनी शिक्तके अनुसार धारण करके अर्थात् कुंभक प्राणायाम करके फिर सूर्यकी नाडी (पिंगला ) से प्राणवायुका रेचन करें अर्थात् छोडदे। बाहरकी वायुका जो प्रयत्न विशेषसे प्रहण उसे पूरक कहते हैं और जालंधर आदि बंधपूर्वक जो प्राणोंका निरोध उसे कुंभक कहते हैं और कुंभित प्राणवायुका जो प्रयत्न विशेषसे गमन उसे रेचक कहते हैं ये रेचक और पूरकके लक्षण उन्हीं रेचक पूरकोंके हैं जो प्राणायामोंके अंग हैं इससे वचनमें गौण रेचक पूरक कहे हैं उनमें अन्याप्ति नहीं क्योंकि वे लक्ष्यही नहीं कि लोहकारकी भस्त्राके समान रेचक और पूरकको संभ्रमसे करें ॥ ७॥

### प्राणं सूर्येण चाकुष्य पूरयेदुद्रं शनैः ॥ विधिवत्स्तंभकं कृत्वा पुनश्चंद्रेण रेचयेत् ॥ ८॥

प्राणिमिति ॥ सूर्येण सूर्यनाडचा पिंगलया प्राणमाकृष्य गृहीत्वा इनिर्मदंमंदमुद्रं जठरं पूरयेत् । विधिवद्वंधपूर्वकं कुंभकं कृत्वा पूनर्भू-यश्चंद्रेणेडया रेचयेत् ॥ ८॥

भाषार्थ-और सूर्यकी नाडी पिंगलासे प्राणका आकर्षण ( खींचना ) करके शनैः शनैः उदरको पूरणकरे फिर विधिसे कुंभक (धारण ) करके चंद्र-माकी इडा नामकी नाडीसे रेचन करै अर्थात् प्राणवायुको छोडदे॥ ८॥

येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः॥
रेचयेच ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः॥ ९॥

उक्ते प्राणायामे विशेषमाह—येनेति ॥ येन चंद्रेण सूर्येण वा त्यजेद्रेचयेत्तेन पीत्वा तेनैव पूरियत्वा । अतिरोधतोऽतिशायितेन रोधेन स्वेदकंपादिजननपर्यंतेन । सार्वविभक्तिकस्तिसिछ् । येन पूरक-स्ततोऽन्येन शने रेचयेन्न तु वेगतः । वेगाद्रेचने बलहानिः स्यात् । येन पूरकः कृतस्तेन रेचको न कर्तव्यः । येन रेचकः कृतस्तेनैव पूरकः कर्तव्य इति भावः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—अब उक्त प्राणायाममें विशेष विधिको कहते हैं कि, जिस चंद्रमा वा सूर्यको नाडीसे प्राणवायुका त्याग (रेचन) करे उसी नाडीसे पान (पूरन) करके अत्यंतरोधन (रोकना) से अर्थात् स्वेद और कम्पके पर्यत धारण करें। फिर जिससे पूरक कियाहो उससे अन्य नाडीसे शनै: शनै: रेचन करें वेगसे नहीं क्योंकि वेगसे रेचन करनेमें बडकी हानि होती है अर्थात् जिस नाडीसे पूरक किया हो उससे रेचक न करे और जिससे रेचक कियाहो उसीसे पूरकको तो करछे॥ ९॥

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचये-त्पीत्वा पिंगळया समीरणमथो बद्धा त्यजेद्धामया॥ सूर्याचंद्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां शुद्धानाडिगणा भवंति यमिनां मासत्रयादृर्ध्वतः १०

वद्धपद्मासन इत्याद्यक्तमर्थ पिंडीकृत्यानुवद्दनप्राणायामस्यावांतर् फलमाह—प्राणमिति ॥ चेदिड्या वामनाडचा प्राणं पिवेतपूरये-चाई नियमितं कुंभितं प्राणं भूयः पुनरन्यया पिंगलया रेचयेत् ॥ पिंगलया दक्षनाडचा समीरणं वायुं पीत्वा पूरियत्वाथो पूरणानंतरं बद्धा कुंभियत्वा वामयेडया त्यजेद्रेचयेत् । सूर्यश्च चंद्रमाश्च सूर्या-चंद्रमसो तयोः "देवताद्वंदे च" इत्यानङ् । अनेनोक्तेन विधिना प्रकारेण सदा नित्यमभ्यासं चंद्रणापूर्य कुंभियत्वा सूर्येण रेचयेत्सू-यंणापूर्य कुंभियत्वा च चंद्रेण रेचयेदित्याकारकं तन्वतां विस्तारयतां यमिनां यमवतां नाडीगणा नाडीसमृहा मासत्रयादूर्ध्वतो मासानां त्रयं तस्मादुपरि गुद्धा मलरहिता भवंति ॥ १०॥

भाषार्थ—पूर्वीक्त आठ रलोकोंसे वर्णन किये तात्पर्यको एकत्र करके अनुवाद करते हुए प्रन्थकार प्राणायामके अवान्तर फलको कहते हैं, यदि योगी
इडासे अर्थात् वामनाडीसे प्राणका पान (पूरन) करे तो नियमित कुंभित
उस प्राणको किर दूसरी पिंगला नाडीसे रेचन करे और यदि पिंगलासे
प्राणको पीवे अर्थात् दक्षिण नाडीसे वायु पूरण करे तो उस प्राणवायुको
बांधकर अर्थात् कुंभित करके इडारूप वामनाडीसे प्राणवायुका रेचन करे।
इस पूर्वोक्त सूर्य और चंद्रमाकी विधिसे अर्थात् चंद्रमासे पूर्ण और कुंभक करके
सूर्यसे रेचन करे और सूयसे पूरण और कुंभक करके चंद्रमासे रेचन करे।
इस पूर्वाक्त विधिसे सदैव अभ्यास करते हुए योगिजनोंके नाडियोंके गण
तीनमासके अनंतर ग्रुद्ध होते हैं अर्थात् निर्मल होजाते हैं॥ १०॥

## प्रातर्भध्यंदिने सायमर्घरात्रे च कुंभकान् ॥ शनैरशीतिपर्यंतं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ ११॥

अथ प्राणायामाभ्यासकालं तद्वधि चाह-प्रातिरिति ॥ प्रातरहणोद्यमारभ्य स्योद्याद्धिकात्रयपर्यते प्रातःकाले मध्यंदिने मध्याह्मे
पंचधा विभक्तस्य दिनस्य मध्यभागे सायंसंध्या त्रिनाडीप्रमितार्कास्ताद्धस्ताद्ध्वं चेत्युक्तलक्षणे सन्ध्याकाले रात्रेरधमधरात्रं तस्मिन्नर्धरात्रे रात्रेर्मध्ये मुदूर्तद्वये च शनेरशीतिपर्यतमशीतिसंख्यावधि चतुर्वारं
वारचतुष्टयं 'कालाध्वनोरत्यंतसंयोगे' इति द्वितीया । चतुर्षु कालेष्वेकेकस्मिन्कालेऽशीतिप्राणायामाः कार्याः । अर्धरात्रे कर्तुमशक्तश्चेत्रिसंध्यं कर्तव्या इति संप्रदायः । चतुर्वारं कृताश्चेद्दिनेदिने ३२०
विशत्यधिकशतत्रयपरिमिताः प्राणायामा भवंति । वरत्रयं कृताश्चेचत्वारिशद्धिकशतद्वय २४० परिमिता भवंति ॥ ११ ॥

भाषार्थ-अब प्राणायामके अभ्यास काल और उसकी अवधिको कहते हैं-कि, प्रातःकाल अर्थात् अरुणोदयसे लेकर-सूर्योदयसे तीन वडी दिनचढे तक और मध्याहमें अर्थात् पांच भाग किये दिनके मध्य भागमें और सायंकाल अर्थात् सूर्यास्तसे पूर्व और सूर्यास्तके अनंतर तीन घडीरूप संध्याके समयमें और अर्द्धरात्रमें अर्थात् रात्रिके मध्यभागके दो मुहूतोंमें शनैः शनैः इन पूर्वोक्त चारों कालोंमें चारवार अशीति( ८० ) प्राणायाम करै यदि अर्द्धरात्रमें करनेको असमर्थ होय तो तीन कालमेंही अस्सी २ प्राणायाम करे, चारवार करे तो ( २२० ) तीनसौ बीस प्राणायाम होतेहैं—तीनवार करे तो ( २४० ) दोसौचालीस होते हैं ॥ ११ ॥

# कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे॥ उत्तमे स्थानमामोति ततो वायुं निबंधयेत्॥१२॥

कनिष्ठमध्यमोत्तमानां प्राणायामानां क्रमेण व्यापकविशेषमाह-कनीयसीति ॥ कनीयसि कनिष्ठे प्राणायामे स्वेदः प्रस्वेदो भवेद्भ-वति । स्वेदानुमेयः कनिष्ठः । मध्यमे प्राणायामे कंपो भवति । कंपा-नुमेयो मध्यमः । उत्तमे प्राणायामे स्थानं ब्रह्मरंध्रमाप्नोति । स्थान-प्राप्त्यनुमेय उत्तमः। ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निबंधयेन्नितरां बंधयेत्। कनिष्ठादीनां रुक्षणमुक्तं हिंगपुराणे—"प्राणायामस्य मानं तु मात्राद्वा-दशकं स्मृतम् । नीचो द्वादशमात्रस्तु सकुदुद्धात ईरितः ॥ मध्यमस्तु द्विरुद्धातश्चतुर्विश्वतिमात्रकः । मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्धातः षद्त्रिशन्मात्र उच्यते ॥ प्रस्वेदकंपनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम् । आनंदो जायते चात्र निद्रा धूमस्तथैव च ॥ रोमांचो ध्वनिसंविज्ञिरंगमोटनकंपनम् । श्रमण-स्वेदजलपाद्यं संविन्मूर्छा जयेद्यदा ॥ तदोत्तम इति प्रोक्तः प्राणायामः सुशोभनः ।" इति ॥ धूमश्चित्तांदोलनम् । गोरक्षोऽपि-'अधमे द्वादश प्रोक्ता मध्यमे दिग्रणाः स्मृताः । उत्तमे त्रिग्रणा मात्राः प्राणायामे द्विजोत्तमैः ॥' उद्घातलक्षणं तु-'प्राणेनोत्सर्पमाणेन अपानः पीडचते यदा। गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्धातलक्षणम् । ' मात्रामाह-याज्ञ-वल्क्यः-'अंग्रुष्ठांगुलिमोशं त्रिस्त्रिजीनुपरिमार्जनम् । तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते ॥' स्कंदपुराणे-एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामो

निगद्यते । ' एतद्वचाख्यातं योगचितामणी-'निद्रावशंगतस्य पुंसी यावता कार्छनैकः श्वासो गच्छत्यागच्छति च तावत्कालप्राणायामस्य मात्रेत्युच्यत इति ॥ अर्धश्वासाधिकद्वादशश्वासावाच्छिन्नः कालः <mark>प्राणायामकालः । षड्भिः श्वासैरेकं पलं भवति । एवं च सार्धश्वासपल-</mark> द्वयात्मकः कालः प्राणायामकालः सिद्धः । सार्धदाद्शमात्रामितः याणायामो यः स एवोत्तमः प्राणायाम इत्युच्यते'। न च पूर्वोदाहत-िलंगपुराणगोरक्षवाक्यविरोधः । तत्र द्वाद्शमात्रकस्य प्राणायामस्या-धमत्वोक्तिरिति शंकनीयं 'जानु पद्किणीकुर्यात्र द्वतं न विलंबितम् । प्रद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते ॥' इति स्कंदपुराणात् । 'अंग्रुष्टांग्रिलिमोक्षं च जानोश्च परिमार्जनम् । प्रद्याच्छोटिकां यावत्ता-वन्मात्रेति गीयते ॥' इति च स्कंदपुराणात् । 'अंग्रुष्ठो मात्रा संख्यायते तदा' ॥ इति दत्तात्रेयवचनाञ्च । लिंगपुराणगोरक्षादिवाक्येष्वेकच्छोटि-कावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षितत्वात् । याज्ञवल्क्यादिवाक्येषु छोटिकात्रयावच्छित्रस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षणात् त्रिगुणस्याधम-स्योत्तमत्वं तत्राप्युक्तमित्यविरोधः । सर्वेषु योगसाधनेषु प्राणायामो मुख्यस्तित्सद्धौ प्रत्याहारादीनां सिद्धेः । तद्सिद्धौ प्रत्याहाराद्य-सिद्धेश्व । वस्तुतस्तु प्राणायाम एव प्रत्याहारादिशब्दैनिगद्यते । तथा चोक्तं योगचिंतामणी-प्राणायाम एवाभ्यासक्रमेण वर्धमानः प्रत्या-हारध्यानधारणासमाधिशब्दैरुच्यत इति । तदुक्तं स्कंद्पुराणे-"प्राणा-यामदिषद्केन प्रत्याहार उदाहतः । प्रत्याहारदिषद्केण धारणा परिकीर्तिता ॥ भवेदीश्वरसंगत्यै ध्यानं द्वादशधारणम् । ध्यानद्वाद-<mark>शकनव समाधिराभिधायते ॥ यत्समाधौ परं ज्योतिरनंतं स्वप्नका-</mark> शकम् । तस्मिन्दृष्टे कियाकांडयातायातं निवर्तते ॥ '' इति ॥ तथा-धारणा पंचनाडीभिध्यानं स्यात्पष्टिनाडिकम् । दिनद्वादशकेन े : प्राणसयमात् ' इति च । गोरक्षादिभिरप्येवमेवो-क्तम् । अत्रैवं व्यवस्था । किंचिदूनाई चत्वारिंशदिपलातमकः किन्छ-प्राणायामकालः । अयमेवैकच्छोटिकावच्छिनस्य कालस्य मात्रात्व-

विवक्षया द्वादशमात्रकः कालः । किंचिदूनचतुरशीतिविपलात्मको मध्यमप्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रा-त्वविवक्षया चतुर्विदातिमात्रकः कालः । पंचविदात्युत्तरशतविपला-त्मक उत्तमः प्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया षट्त्रिंशन्मात्रककालः । छोटिकात्रयाविच्छनस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया तु द्वादशमात्रक एव । वंधपूर्वकं पंचवि-श्चत्युत्तरशतविपलपर्यतं यदा प्राणायामस्यैर्थं भवति तदा प्राणो ब्रह्मरंधं गच्छति । ब्रह्मरंधं गतः प्राणो यदा पंचविंशतिपलपर्यतं तिष्ठति तदा प्रत्याहारः । यदा पंचघटिकापर्यतं तिष्ठति तदा धा-रणा। यदा षाष्ठिघटिकापर्यतं तिष्ठति तदा ध्यानम् । यदा द्वादश-द्निपर्यंतं तिष्ठति तदा समाधिर्भवतीति सर्व रमणीयम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ-अब कनिष्ठ मध्यम उत्तम रूप तीन प्रकारके प्राणायामोंमें क्रमसे ब्यापक जो विशेष उसका वर्णन करते हैं-कि किनष्ठ प्राणायाममें स्वेद होता है अर्थात प्राणायाम करते पसीना भाजाय तो वह प्राणायाम कनिष्ठ ( निक्रष्ट ) जानना और मध्यम प्राणायाममें कम्प होता है अर्थात् देहमें कम्प हो जाय तो वह प्राणायाम मध्यम होताहै-और उत्तम प्राणायाम करनेसे योगी ब्रह्मरंध्ररूप उत्तम स्थानको प्राप्त होता है—अर्थात् ब्रह्मरंध्रमें वायु पँहुचजाय तो उत्तम प्राणायाम जानना तिससे प्राणवायुका निरंतर बंधन करै अर्थात् रोकै। किनष्ठ आदि प्राणायामोंका लक्षण लिंगपुराणमें कहाहै कि, प्राणायामका अमाण द्वादरा १२ मात्राका कहाहै, एकबार है प्राणवायुका उद्घात ( उठाना ) जिसमें ऐसा द्वादशमात्राका प्राणायाम नीच होता है और जिसमें दोवार उद्घातहो वह चौवीस मात्राका प्राणायाम मध्यम होताहै और जिसमें तीनवार उद्घात होय वह छत्तीस ३६ मात्राका प्राणायाम मुख्य होता है और तीनोंमें क्रमसे प्रस्वेद, कम्पन और उत्थान होते हैं । और प्राणायामोंमें आनंद निदा और चित्तका आंदोलन रोमांच ध्वनिका ज्ञान अंगका मोटन और कम्पन होते हैं और जब योगी श्रम खेद भाषण संवित् (ज्ञान) च्छी इनको जीतळे तब वह शोभन प्राणायाम उत्तम कहा है। गोरक्षने भी कहाहै कि अधमप्राणायाम द्वादश, मध्यममें चौवीस, उत्तममें ३६ छत्तीस मात्रा द्विजो-त्तमोंने कही हैं। उद्घातका लक्षण तो यह कहा है कि, जपरको चढतेहुए प्राणसे जब अवानवायु पीडित होता है और ऊवरको गया प्राण छौटता है यह उद्घातका लक्षण है, मात्राकी संज्ञा याज्ञवल्क्यने यह कहीहै कि, अंगुष्ठ और अंगुळीको तीनवार मोक्ष (वजाना वा त्याग) और तीनवार जानुका मार्जन अर्थात् गौडेपर हाथफेरना और तीनताल इनको बुद्धिमान् मनुष्य मात्रा कहतेहैं। स्कंदपुराणमें लिखाहै कि, एक श्वासकी जो मात्रा उसे प्राणायाम कहतेहैं अर्थात् शयन करते हुए मनुष्यका श्वास जितने कालसे आवे वा जाय उतना काल प्राणायामकी मात्रा कहाता है। आधे श्वाससहित द्वादश श्वासके कालको प्राणा-यामका काल कहते हैं। छःश्वासका एक पल होता है इससे आधेश्वाससहित दौ पळका जो काळ वही प्राणायामका काळ सिद्ध हुआ साढे बारह मात्राहै प्रमाण जिसका वहीं प्राणायाम उत्तम प्राणायाम कहाता है, कदाचित् कोई शंका करे कि, जिस पूर्वोक्तिलिंगपुराणके वचनमें द्वादशमात्राका अधम प्राणायाम कहा है उसका विरोध होगया सो ठीक नहीं क्योंकि जानुको न शीव्र न विलम्बसै प्रदक्षिणा करके एक चुटकी बजावे इतनेमें जितना काल लगे उतने कालको मात्रा कहते हैं अंगुष्ठ और अंगुलिका मोक्ष जानुका मार्जन और चुटकी बजाना जितने कालमें होंय उसे मात्रा कहते हैं। अंगुष्ठ जो है सो मात्राका बोबक है। इन स्कंदपुराण और दत्तात्रेयके वचनोंसे एक छोटिका (शिखा) युक्त जो काल वह मात्रा प्रतीत होता है और याज्ञवल्क्य आदिके वचनोंमें तीन छोटिका युक्त कालको मात्रा कहाहै इससे त्रिगुणितको त्रिगुणित अधमको उत्तमता वहाँ भी कहींहै इससे कुछ विरोध नहीं । संपूर्ण योगके साधनोंमें प्राणायाम मुख्य है क्योंकि प्राणायामकी सिद्धिमें प्रत्याहार आदि सिद्ध होते हैं और प्राणायामकी असिद्धिमें प्रत्याहार सिद्ध नहीं होते । सिद्धान्त तो यह है कि प्राणायामही प्रत्या-हार शब्दोंसे कहा जाता है। सोई योगचिंतामणिमें कहाहै कि, अम्यासके क्रमसे बढता हुआ प्राणायामही प्रत्याहार ध्यान धारणा समाधि शब्दसे कहा जाताहै सोई स्कंदपुराणमें कहा है कि, द्वादशप्राणायामोंका प्रत्याहार और द्वादश

प्रत्याहारोंकी धारणा और ईश्वरके संगमके लिये द्वादश धारणाओंका एक ध्यान होता है और द्वादशध्यानोंकी समाधि इसिलये कहाती है कि, समाधिमें अनंत स्वप्रकाशक ज्योति ( ब्रह्म ) दीखता है जिसके दीखनेसे कर्मकाण्ड और जन्म मरण निवृत्त होजाते हैं। और पांच नाडियोंकी धारणा और छः नाडि ( घडि ) योंका ध्यान होताहै। और बारहदिन प्राणायाम करनेसे समाधि होतीहै इस वचनसे गोरक्षआदिनेभी ऐसेही कहा है । यहां यह व्यवस्था है कि जिसमें कुछ कम ४२ विपलहों यह किनष्ट प्राणायामका कालहै भीर यहीं एक छोटिकाके कालको जब मात्रा कहते हैं तब द्वादश पलक्रप होताहै और कुछ कम चौराशी ८४ विपलका मध्यम प्राणायामका कालहै और यहीं पूर्वोक्त मात्राके प्रमाणसे २४ चौवीसमात्राका होताहै और १२५ सवासौ विपलका उत्तम प्राणायामका काल होताहै और पूर्वोक्त मात्राके प्रमाणसे छत्तीस ३६ मात्राका होताहै और जब तीन छोटिकाके कालको मात्रा मानते हैं तबतो यहभी द्वादश मात्राका होताहै। जब वंधप्वक सवासौ विपछ पर्यंत प्राणायामकी स्थिरता होजाय तब प्राण बहारंध्रमें चला जाताहै बहारंध्रमें गया प्राण जब २५ पछ पर्यंत टिकजाय तब प्रत्याहार होताहै और जब पांचघटिका पर्यंत टिकजाय तब धारणा होती है और जब ६० घडी पर्यंत टिकजाय तब ध्यान होताहै और जब प्राण १२ बारह दिन तक ब्रह्मरंधमें टिकजाय तब समाधि होती है इससे संपूर्ण रमणीय है अर्थात् पूर्वोक्त कोई दोष नहीं । भावार्थ यह है कि किनष्ठ प्राणायाममें स्वेद मध्यममें कंप होता है और उत्तम प्राणायाममें प्राण ब्रह्मरंघमें पहुँचताहै इससे योगी प्राणायामका बंधन करे ॥ १२॥

### जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्॥ हढता लधुता चैव तेन गात्रस्य जायते॥ १३॥

प्राणायामानभ्यसतः स्वेदे जाते विशेषमाह जलेनेति ॥ श्रमात्प्राणायामाभ्यासश्रमाज्जातं तेन जलेन प्रस्वेदेन गात्रस्य शरीरस्य
मर्दनं तेलाभ्यंगवदाचरेत्कुर्यात् । तेन मर्दनेन गात्रस्य दृढता दादश्र लघुता जाड्याभावो जायते प्रादुर्भवति ॥ १३ ॥ भाषार्थ-अब प्राणायामके अभ्याससे स्वेद होनेपर विशेष कहते हैं कि प्राणायामके परिश्रमसे उत्पन्न हुआ जो जल उससे अपने गात्रोंका मर्दन करें उससे शरीरकी दढता और लघुता होती है अर्थात् जडता नहीं रहती ॥ १३॥

## अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥ ततोऽभ्यासे हडीभूते न ताहङ्नियमग्रहः॥ १२॥

अथ प्रथमोत्तराभ्यासयोः क्षीरादिनियमानाह-अभ्यासकाल इति ॥ क्षीरं दुग्वमाज्यं वृतं तद्यक्तं भोजनं क्षीराज्यभोजनम् । शाक-पार्थिवादिवत्समासः । केवले कुंभके सिद्धेऽभ्यासो दृढो भवति । स्पष्टमन्यत् ॥ १४॥

भाषार्थ-अब पहिले और पिछले अन्यासोंमें दुग्ध आदिके नियमोंका वर्णन करतेहैं कि, पहिले अभ्यासकालमें दुग्ध और वीसहित भोजन श्रेष्ठ कहा है फिर अभ्यासके टढ होनेपर अर्थात् कुंभकके सिद्ध होनेपर पूर्वीक्त नियममें आप्रह न करें ॥ १४ ॥

### यथा सिंहो गजो ज्यात्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः ॥ तथैव सेवितो वायुरन्यथा हंति साधकम् ॥ १५ ॥

सिंहादिवच्छनैरेव प्राणं वद्ययेत्र सहसेत्याह—यथेति ॥ यथा येन प्रकारेण सिंहो मृगेंद्रो गजो वनहस्ती व्याद्यः द्यार्द्द्रेटः दानैः दानैरेव वदयः स्वाधीनो भवेत्र सहसा तथेव तेनैव प्रकारेण सेवितोऽभ्यस्तो वायुः प्राणो वद्यो भवेत् । अन्यथा सहसा गृह्यमाणः साधकमभ्या-रिसनं हंति सिंहादिवत् ॥ १५ ॥

भाषार्थ-सिंह आदिके समान शनै: २ प्राणको वशमें करै शीव न करै इस बातका वर्णन करतेहैं जैसे सिंह गज (वनका हाथी) व्याव (शार्कूछ) ये शनै: २ ही वशमें होसकते हैं शीव्र नहीं, तिसी प्रकार अभ्यास किया प्राण शनै: २ ही वशमें होताहै शीव्रता करनेसे सिंह आदिके समान साधकको अपने समान नष्ट करदेता है ॥ १९॥

## प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।। अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्रवः॥ १६॥

युक्तायुक्तयोः फलमाह-प्राणायामेति ॥ आहारादियुक्तिपूर्वको जालंधरादिबंधयुक्तिविशिष्टः प्राणायामी युक्त इत्युच्यते । तेन सर्व-रोगक्षयः सर्वेषां रोगाणां क्षयो नाज्ञो भवेत्। अत्युक्त उक्तयुक्तिराहिती योऽभ्यासस्तद्यक्तेन प्राणायामेन सर्वरोगससुद्भवः सर्वेषां रोगाणां सम्यग्रद्भव उत्पत्तिर्भवेत् ॥ १६ ॥

आषार्थ-अब युक्त और अयुक्त प्राणायामोंके फल कहते हैं। आहार आदि और जाळंधर आदि बंध इनकी युक्तियोंसहित जो प्राणायाम उसे युक्त कहते हैं। उस युक्त प्राणायामके करनेसे संपूर्ण रोगोंका क्षय होजाताहै और अयुक्त प्राणायामके अभ्याससे अर्थात् पूर्वीक्त युक्तिरहित प्राणायामके करनेसे संपूर्ण रोगोंकी उत्पत्ति होती है ॥ १६॥

## हिका श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ॥ भवंति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥१७॥

अयुक्तेन प्राणायामेन के रोगा भवंतीत्यपेक्षायामाह हिक्किति ॥ हिकाश्वासकासा रोगविशेषाः शिरश्च कर्णौ चाक्षिणी च शिरः कर्णाक्षित्रिरःकर्णाक्षिणि वेद्नाः शिरःकर्णाक्षिवेद्ना विविधा नाना-विधा रोगा ज्वराद्यः पवनस्य वायोः प्रकोपतो भवंति ॥ १७ ॥

आषार्थ-अब अयुक्त प्राणायाम करनेसे जो रोग होते हैं उनका वर्णन करते हैं कि हिका ( हुचकी ) धास कास और शिर नेत्र कर्ण इनकी पीडा और अवर आदि नानाप्रकारके रोग प्राणगयुके कोक्से होते हैं ॥ १७॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ॥ युक्तं युक्तं च बधीयादेवं सिद्धिमवाष्ट्रयात् ॥ १८॥ यतः पवनस्य प्रकोषतो विविधा रोगा भवंत्यतः किं कर्तव्यमत आह-युक्तं युक्तिमिति ॥ वायुं युक्तं त्यजेत् । रेचनकाले शनैःशनैरेव रेचयेन्न वेगत इत्यर्थः । युक्तं युक्तं न चाल्पं नाधिकं च पूरयेत् । युक्तं युक्तं च जालंधरवंधादियुक्तं वश्लीयात्कुंभयेत् । एवमभ्यसेचे-तिसद्धं हठसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

भाषार्थ-जिससे वायुके कोपसे अनेकरोग होते हैं इससे जो योगीको कर्तव्यहै उसका वर्णन करतेहैं कि युक्तियुक्त प्राणवायुको त्यागे अर्थात् रेचनके समयमें दानैः र ही प्राणका रेचन करे शीप्र न करें और युक्त र ही वायुको पूर्णकरे अर्थात् न अल्प न अधिक और जालंधर बंध आदि युक्त वायुको युक्त र ही बांधे अर्थात् कुंभक करें इस प्रकार योगी अभ्यास करें तो हठयोगकी सिद्धिको प्राप्त होताहै ॥ १८॥

# यदा तु नाडीशुद्धिः स्थात्तथा चिह्नानि बाह्यतः॥ काथस्य कृशता कांतिस्तदा जायेत निश्चितम् १९॥

युक्तं प्राणायामंमभ्यसतो जायमानाया नाडी गुद्धेर्रुक्षणमाह् द्धाभ्याम् ॥ यदात्विति ॥ यदा तु यस्मिन्काले तु नाडीनां गुद्धिर्मल-राहित्यं स्यात्तदा बाह्यतो बाह्यानि । सार्वविभक्तिकस्तिसः । चिह्नानि लक्षणानि तथा शब्देनां तराण्यपि चिह्नानि भवंतीत्यर्थः । तान्येवाह— कायस्योति ॥ कायस्य देहस्य कृशता कार्श्य कांतिः सुरुचिनिश्चितं जायेत ॥ १९ ॥

भाषार्थ-युक्त प्राणायामके अभ्यासीको जो सिद्धि होती है उसके लक्षण दोश्लोकोंसे कहते हैं कि जिस कालमें नाडियोंकी ग्रुद्धि होती है उस समय बाह्य और भीतरके ये चिह्न होते हैं कि कायाकी कुराता और कांति (तेज) उस समय निश्चयसे होते हैं ॥ १९॥

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ॥ नादामिन्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् २०॥ यथेष्ठमिति ॥ वायोः प्राणस्य यथेष्टं बहुवारं धारणं क्रंभकेषु । अनलस्य जठराग्नेः प्रदीपनं प्रकृष्टा दीप्तिनीदस्य ध्वनेरभिव्यक्तिः प्राकटचमारोग्यमरोगता नाडिशोधनान्नाडीनां शोधनान्मलराहित्या-जायते ॥ २० ॥

आवार्थ-यथेष्ट ( अनेकबार ) वायुका जो धारणहै वह जठरामिको भली प्रकार दीपनहै अर्थात् जठरामिके दीपनसे यथेष्ट वायुके धारणके अनुमान करना और नादकों जो अभिन्यिक्त अर्थात् अन्तर्धानिको प्रतीति और रोगोंका अभाव यह नाडियोंके शोधनसे अर्थात् मलरहित करनेसे होताहै ॥ २०॥

### मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कमाणि समाचरेत् ॥ अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥२१॥

मेद्आद्याधिक्ये उपायांतरमाह मेदःश्लेष्माधिक इति ॥ मेदश्र श्लेष्मा च मेदःश्लेष्माणौ तावधिको यस्य स ताद्यः पुरुषः। पूर्वं प्राणायामाभ्यासात्प्राङ्ग तु प्राणायामाभ्यासकाले । षट् कर्माणि वध्य-माणानि समाचरेत्सम्यगाचरेत् । अन्यस्तु मेदःश्लेष्माधिक्यरहितस्तु तानि षट् कर्माणि नाचरेत् तत्र हेतुमाह दोषाणां वातिषत्तकफानां समस्य भावः समभावः समत्वं तस्मादोषाणां समत्वादित्यर्थः ॥२१॥

भाषार्थ-मेदा आदि जिस पुरुषके अधिक हों उसके छिये अन्य उपायका वर्णन करते हैं कि, जिस पुरुषके मेदा और श्लेष्मा अधिक होय वह पुरुष प्राणायामके अन्याससे पहिले छः कमोंको करें। और मेदा और श्लेष्माकी अधिकतासे जो रहितहो वह उन छः ६ कमोंके दोषोंकी समानता होनेसे न करें।। २१॥

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्नाटकं नौलिकं तथा ॥ कपालभातिश्चेतानि षद् कर्माणि प्रचक्षते ॥ २२॥

यद् कर्माण्युपदिशति-धौतिरिति॥ स्पष्टम्॥ २२॥

आषार्थ-छः कमोंको वर्णन करतेहैं कि, धौता १ बस्ति २ नेति ३ त्राटक ४ नौलिक ९ और कपालभाति ६ बुद्धिमानोंने ये छः कर्म योगमार्गमें कहे हैं ॥ २२ ॥

कर्मषद्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ॥ विचित्रग्रुणसंधायि पूज्यते योगिपुंगवैः ॥ २३॥

इदं रहस्यमित्याह—कर्मषट्किमिति ॥ घटस्य शरीरस्य शोधनं मलापनयनं करोतीति घटशोधनकारकिमद्मुद्दिष्टं कर्मणां षट्कं घौत्यादिकं गोप्यं गोपनीयम् । यतः ॥ विचित्रग्रुणसंधायीति ॥ विचित्रं विलक्षणं गुणं पट्कर्मरूपं संधातुं कर्तुं शीलमस्येति विचित्रग्रुणसंधायि योगिपुंगवेयोगिश्रेष्ठेः पूज्यते सित्क्रयते । गोपनाभावे तु षट्कर्मकमन्येरि विहितं स्यादिति योगिनः पूज्यत्वाभावः प्रसर्जेति विवित्ते भावः ॥ एतेनदमेव कर्मषट्कस्य मुख्यं फलमिति सचितम् । मेदःश्लेष्मादिनाशस्य प्राणायामरिपि संभवात् । तदुक्तम् । 'षट्कर्मः योगमाभोति पवनाभ्यासतत्परः । ' इति पूर्वोत्तरग्रंथस्याप्येवमेव स्वारस्याञ्च ॥ २३ ॥

भाषार्थ—ये छः कर्म गुत करने योग्य हैं और देहको शुद्ध करतेहैं और विचित्रगुणके संधानको करतेहैं इससे योगियोंमें श्रेष्ट इनकी प्रशंसा करते हैं यदि ये गुत न रक्खे जाँय तो अन्यभी इनको करसकेंगे तो योगियोंकी पूज्यता न रहेगी—इससे योगियोंको सर्वोत्तम बनानाही षट्कर्मका फळ है—क्योंकि मेदा क्रिज्मका नाश तो प्राणायामोंसेभी होसकता है सोई इस बचनमें छिखा है कि प्राणायामके अभ्यासमें तत्पर मनुष्य षट्कर्मके योगको प्राप्त होताहै। पूर्व और उत्तर प्रथकीभी इसी प्रकार संगति होसकती है ॥ २३॥

तत्र धौतिः।

चतुरंगुलविस्तारं इस्तपंचदशायतम् ॥ गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्श्यसेत् ॥ पुनः त्रत्याहरेचैतदुदितं धौति कर्म तत् ॥ २४॥ यौतिकमीह-चतुरंगुलामिति ॥ चतुर्णामंगुलानां समाहारश्रतुरंगुलं चतुरंगुलं विस्तारो यस्य तादृशं हस्तानां पंचद्शैरायतं दीर्घ सिक्तं
जलाई किचिदुष्णं वस्त्रं पटं तच्च सूक्ष्मं नूतनोष्णीषादेः खंडं प्राह्मम् ।
गुरुणोपदिशो यो मार्गी वस्त्रयसनप्रकारस्तेन शनैर्मदंमंदं किचितिकचिद्रसेत् । दितीये दिने हस्तद्रयं तृतीये दिने हस्तत्रयम् । एवं दिनवृद्धचा हस्तमात्रमधिकं यसेत् ॥ २४॥

भाषार्थ-अब छःमें घौति कर्मको कहते हैं कि चार अंगुल-जिसका विस्तार हो और १५ पंद्रह हाथ जो आयत (दीर्घ) हो-अर्थात् चार अंगुल चौडा और पंद्रह हाथ लंबा जो वस्त्र उसको उष्ण जलसे सीचकर-गुरुके उपदेश किये मार्गसे शनै: २ प्रसे अर्थात् प्रथम दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ, इसप्रकार एक २ हाथकी वृद्धिसे उसके प्रसनेका अभ्यास करें और वह वस्त्र भी सूक्ष्म लेना उचित है उस वस्त्रके प्रान्त (छोर) को अपनी डाढोंमें मलीप्रकार दावकर नौली कर्मसे उदरमें टिक उस वस्त्रकों मलीप्रकार चलाकर उस वस्त्रका शनै: २ प्रत्याहरण करें जर्थात् निकाले। यह सिद्धोंने घौतीकर्म कहा है। २४॥

कासश्वासष्टीहकुष्टं कफरोगाश्च विंशतिः॥ धौतिकर्मप्रभावेन प्रयांत्येव न संशयः॥ २५॥ नाभिद्वजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं वस्तिकर्म तत्॥२६॥

पुनिरिति ॥ तस्य प्रांतं राजदंतमध्ये हठे संलग्नं कृत्वा नौलीकर्मणोदरस्थवस्तं सम्यक् चालियत्वा । पुनः शनेः प्रत्याहरेच तदस्तमुद्गिरिनिष्कासयेच । तद्धौतिकमोदितं कथितं सिद्धैः । धौतिकर्मणः
फलमाह-कासश्वासेति ॥ कासश्च श्वासश्च प्रीहश्च कुष्ठं च ।
समाहारद्वंद्वः । कासादयो रोगविशेषाः विश्वातिसंख्याकाः कफरोगाश्च ॥ २५ ॥ धौतिति ॥ धौतिकर्मणः प्रभावेन गच्छंत्येव न

संशयः । निश्चितमेतिद्त्यर्थः । अथ विस्तिकमाह । नाभिद्वेति ॥
नाभिपरिमाणं नाभिद्वम् । परिमाणं द्वच् प्रत्ययः । तिस्मन्नाभिद्वेते नाभिपरिमाणं जले नद्यादितोये पायुर्गुदं तिस्मन्न्यस्तो नालो वंशनाले येन किनिष्ठकाप्रवेशयोग्यरंध्रयुक्तं षडंगुलदीर्घ वंशनालं यहिता चतुरंगुलं पायो प्रवेशयेत् अंगुलिद्वयमितं विहः स्थापयेत् । उत्कटमासनं यस्य स उत्कटासनः । पार्ष्णिद्वये स्फिचौ विन्यस्य पादांगुलिभिः स्थितिरुत्कटासनम् । आधारस्याकुंचनं यथा जलमंतः प्रविशेत्तथा संकोचनं कुर्यात् । अतः प्रविष्टं जलं नौलिककर्मणा चालियत्वा त्यजेत् । क्षालनं विस्तिकमीच्यते । धौतिविस्तिकमिद्वयं भोजनात्प्रागेव कर्तव्यम् । तदनंतरं भोजने विलंबोऽपि न कार्यः । किचिनु । पूर्व मृलाधारेण वायोराकर्षणमभ्यस्य जले स्थित्वा पायौ नालप्रवेशनमंतरेणेव विस्तिकमीभ्यसंति । तथा करणे सर्व जलं विहिर्नायाति । अतो नानारोगधातुक्षयादिसंभवाच्च तथा विस्तिकमीनेव विधेयम् । किमन्यथा स्वात्मारामः पायौ न्यस्तनाल इति वृत्यात् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—अब धौतीकर्मके पलको कहते हैं—कास—धास छीहा-कुष्ठ-और बीस प्रकारके कफरोग धौतीकर्मके प्रभावसे नष्ट होते हैं इसमें संशय नहीं। अर्थात् यह निश्चित हैं। अब बस्तीकर्मको कहते हैं कि, नाभिप्रमाणका जो नदी आर्दिका जल उसमें स्थित गुदाके मध्यमें ऐसे बाँसके नालको रक्खे जिसका छिद्र किनिष्ठिका अंगुलिके प्रवेश योग्य हो और छः अंगुल उस बाँसके नालको लेकर बार अंगुल उसको गुदामें प्रवेश करें और दो अंगुल बाहिर रक्खे और उत्कट आसन रक्खे अर्थात् दोपार्थिंगयोंसे ऊपर अपने स्भिच (चूतड) पार्टोकी अङ्गुलियोंसे बैठनेको उत्कट आसन कहते हैं। उक्त आसनसे बैठाहुआ मनुष्य आधाराकुंचन करें अर्थात् जैसे वंशनालके द्वारा वंशनालमें जल प्रविष्ट हो तैसे आकुंचन करें। भीतर प्रविष्ट हुए जलको नौली कर्मसे चलाकर त्याग दे—इस उदरके क्षालन (धोना) को बस्तिकर्म कहते हैं—ये धौति बस्ति दोनों कर्म अर्थान् करने और इनके करनेके अन्तर भोजनमें विलंबभी न करना। कोई

तो पहिले मूलाधारसे प्राणवायुके आकर्षण (खींचना) का अन्यास करके और जलमें स्थित होकर गुदामें नाल प्रवेशके विनाही बस्तिकर्मका अन्यास करते हैं—उस प्रकार बस्तिकर्म करनेसे उदरमें प्रविष्टहुआ संपूर्ण जल बाहर नहीं आसक्ता और उसके न आनेसे धातुक्षय आदि नानारोग होते हैं—इससे उसप्रकार बस्तिकर्म न करना क्योंकि अपनी गुदामें रक्खा है नाल जिसने ऐसे स्वात्माराम अन्यथा क्यों कहते ? ॥ २९॥ २६॥

# गुल्मप्लीहोद्रं चापि वातिपत्तकफोद्रवाः ॥ विस्तकमप्रभावेन क्षीयंते सकलामयाः ॥ २७ ॥

वस्तिकर्मगुणानाह द्वाभ्याम् गुल्मप्लीहोद्रमिति ॥ गुल्मश्र ध्रीहश्च रोगविशेषावुद्रं जलोद्रं च तेषां समाहारद्वंद्वः । वातश्च पित्तं च कफश्च तेभ्य उद्भवा एकैकस्माद्वाभ्यां सर्वेभ्यो वा जाताः सकलाः सर्व आमया रोगा वस्तिकर्मणः प्रभावः सामर्थ्यं तेन क्षीयंते नश्यंति ॥ २७॥

भाषार्थ-अब बस्तिकर्मके गुणोंको दो इलोकोंसे वर्णन करते हैं-कि बस्ति-कर्मके प्रभावसे गुल्म (गुम ) प्लीहा-उदर-(जलोदर ) और वात-पित्त-कफ इनके द्वन्द्व वा एकसे उत्पन्न हुए संपूर्ण रोग नष्ट होते हैं ॥ २७॥

## धारिविद्यांतःकरणप्रसादं दद्याच कांतिं द्हनप्र-दीतिम् ॥ अशेषदोषोपचयं निद्दन्यादभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म ॥ २८॥

धातिवाति ॥ अभ्यस्यमानमनुष्ठीयमानं जले वस्तिकर्म जलवस्ति-कर्म ॥ कर्त् । द्यादनुष्ठातुरिति दोषः । धातवो 'रसासङ्मांसमेदोऽ स्थिमज्ञाशुक्राणि धातवः' इत्युक्ता इंद्रियाणि वाक्पाणिपाद्पायूप-स्थानि पंच कर्मेंद्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघाणानि पंच ज्ञानेंद्रि-याणि च अंतःकरणानि मनोबुद्धिचत्ताहंकारक्ष्पाणि तेषां परिताप-विक्षेपद्योकमोहगौरवावरणदेन्यादिराजसतामसध्मविनिवर्तनेन सुख- प्रकाशलाधवादिसात्तिकधर्माविर्भावः प्रसादस्तं कांति द्युति दहनस्य जठराग्नेः प्रदीप्तिं प्रकृष्टां दीप्तिं च तथा । अशेषाः समस्ता ये दोषा वातिषत्तकफास्तेषामुपचयम् । एतद्पचयस्याप्युपलक्षणम् । उपच्यापचयौ निहन्यानितरां हन्यात् । दोषसाम्यरूपमारोग्यं कुर्या-दित्यर्थः ॥ २८ ॥

आषार्थ-अभ्यास कियाहुआ यह बस्तिकर्म करनेवाले पुरुषके धातु अर्थात् रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, श्रुक्त, और वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, ये पांच कर्मेन्द्रिय. श्रोत्र—त्वक्—जिह्या—श्राण—चक्षुः ये पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन बुद्धि चित्त अहंकार रूप अंतः करण इनकी प्रसन्नताको करताहै अर्थात् इनके परिताप विक्षेप शोक मोह गौरव आवरण दैन्य आदि रजोगुण तमोगुण धर्मोंको दूर करके मुखका प्रकाश लाघव आदि सात्विक धर्मोंको प्रकट करताहै और देहकी कांति और जठराग्निको दीप्तिको देताहै—और संपूर्ण—जो—त्रात—पित्त कफ आदि दोष हैं उनकी वृद्धिको नष्ट करताहै—और इन दोषोंके अपचय (न्यून—ता) कोभी नष्टकरताहै—अर्थात् दोषोंकी साम्यरूप आरोग्यताको करताहै ॥२८॥

#### अथ नेतिः।

## सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्।। सुखात्रिर्गमयेचैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ २९॥

अथ नेतिकर्माह—सूत्रमिति ॥ वितस्ति वितस्तिमतं वितस्तिः रित्युपलक्षणमधिकस्यापि । यावता स्त्रेण सम्यक् नेतिकर्म भवेता-वद् याह्यम् । सुक्षिग्धं सुष्टु क्षिग्धं ग्रंथ्यादिरहितं स्त्रं तच्च नवधा दशधा पंचदशधा वा गुणितं सुदृढं याह्यम् । नासा नासिका सैव नालः सच्छिद्रत्वात्तिस्मन्प्रवेशयेत् । मुखान्निर्गमयेनिष्कासयेत् । तत्मकारस्त्वेवम्—स्त्रप्रांतं नासानाले प्रवेश्येतरनासापुटमंग्रुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात् । पुनश्च सुखेन रेचयेत् । पुनःपुनरेवं कुर्वतो सुखे स्त्रप्रां-तमायाति । तत्स्त्रप्रांतं नासावाहःस्थस्त्रप्रांतं च गृहीत्वा शने-श्वालयेदिति । चकारादेकस्मिन्नासानाले प्रवेश्येतरस्मिन्निर्गमयोदि- त्युक्तं तत्प्रकारस्त्वेकस्मिन्नासानाले स्त्रप्रांतं प्रवेश्येत्रनासापुटमंगुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात्पश्चादितरनासानालेन रेचयेत् । पुनःपुनरेवं कुर्वत इतरनासानाले स्त्रप्रांतमायाति तस्य पूर्ववचालनं कुर्यादिति । अयं प्रकारस्तु बहुवारं कुर्वतः कदाचिद्रवति । एषोक्ता सिद्धैरणिमा-दिगुणसंपन्नेः । तदुक्तम्-'अवाप्ताष्टगुणेश्वर्याः सिद्धाः सद्धिनिरूपिताः' इति । नेतिनिगयते नेतिरिति कथ्यते ॥ २९ ॥

भाषार्थ-अव नैतिकर्मका वर्णन करते हैं कि, वितस्ति (विलायद) परिति—भर्लीप्रकार स्निग्ध (चिकने) सूत्रको नासिकाके नालमें प्रविष्ट करके मुखमेंको निकाल दे यह सिद्धोंने नेति कही है। यहां जितने सूत्रसे नेतिकर्म होसके उतना सूत्र लेना कुछ वितस्तिका नियम नहीं । और वह सूष नव दश वा पंद्रह तारका छेना-उस नेति करनेका प्रकार तो इसप्रकार है कि, सूत्रके प्रान्तभागको नासाके नालमें प्रविष्ट करके और दूसरी नासाके पुटको अंगुलिसे रोककर-पूरकप्राणायाम करे-फिर मुखसे वायुका रेचन करे-वारंवार इसप्रकार करते हुए मनुष्यके मुखमें सूत्रका प्रान्त आजाता है-मुखमें आये सूत्रके प्रान्त ( छोर ) को और नासिकाके बाहर टिके सूत्रप्रान्तको हानै: २ चलावे इसको नेति कर्म कहते हैं-और चकारके पढनेसे एक नासिकाके नालमें प्रवेश करके दूसरी नासिकाके नालमें प्रवेश करले यह समझना. उसका प्रकार यहहै कि, एक नासिकाके नालमें सूत्रके प्रांतको प्रवेश करके इतर नासिकाके पुटको अंगुलिसे दाबकर पूरक प्राणायान करे किर इतर नासिकाके नालसे प्राणका रेचन करे। वारंवार इसप्रकार करते हुए मनुष्यकी दूसरी नासिकाके नालमें सूत्रका प्रांत आजाताहै—उसका पूर्वके समानहीं चालन करे परन्तु यह प्रकार बहुतबार करनेवाले पुरुषको कदाचित्ही होता है। अणिमा आदि गुणोंसे युक्त सिद्धोंने यह नेति कही है-सोई इस वचनसे कहा है कि, जिनको अणिमा आदि आठ पकारका ऐश्वर्य होवे वे सज्जनोंने सिद्ध कहे हैं ॥ २९॥

कपालशोधनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ॥ जञ्जधर्वजातरोगोघं नेतिराशु लिहंति च ॥ ३०॥

नेतिगुणानाह-कपालशोधिनीति॥ कपालं शोधयति शुद्धं मलरहितं करोतीति कपालशोधिनी । चकारान्नासानालादीनामपि । एवदाब्दोऽवधारणे । दिव्यां सुक्ष्मपदार्थयाहिणीं दृष्टि प्रकर्षेण ददा-तीति दिव्यदृष्टिपदायिनी नेतिकिया जत्रुणोः स्कंधसंध्योरूर्ध्वमुप-रिभागे जातो जत्रूर्ध्वजातः स चासौ रोगाणामोधश्च तमाग्र झटिति निहांति । चकारः पादपूरणे । ' स्कंधो भुजिहारोंऽसोऽस्त्री संधी तस्यैव जञ्जणि । ' इत्यमरः ॥ ३०॥

भाषार्थ-अब नेतिके गुगोंको कहते हैं कि, यह नेतिक्रिया कपालको ग्रुद्ध करती है और चकारसे नासिका आदिके मलको दूर करती है और दिन्य दृष्टिको देती है और जतुके अर्थात् स्कंधकी संधिके जवरहे भागके रोगोंका जो समूह उसको शीव्र नष्ट करती है, क्योंकि इस अमरकोशमें स्कंध भुजा शिर इनकी संविको जत्रु कहाहै ॥ ३०॥

#### अथ त्राटकम्।

## निरीक्षेत्रिश्चलहशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः॥ अश्रसंपातपर्यंतमाचार्येस्नाटकं स्मृतम् ॥ ३१ ॥

त्राटकमाह-निरीक्षेदिति॥ समाहितः एकाग्रचित्तः निश्चला चासौ हक् च हष्टिस्तया स्दमं च तह्नद्धं च स्दमल्द्यमश्रूणां सम्यक् पातः पतनं तत्पर्यतम् । अनेन निरीक्षणस्यावधिरुक्तः । निरीक्षेत्प-इयेत् । आचार्यैर्मत्स्येदादिभिरिदं त्राटकं त्राटककर्म स्मृतं कंथितम् ॥ ३१॥

भाषार्थ-अब त्राटकका वर्णन करते हैं कि, समाहित अर्थात् एकाम्रचित हुआ मनुष्य निश्चल दृष्टिसे सूक्ष्म लक्ष्यको अर्थात् छन्नुपदार्थको तबतक देखे जवतक अश्रुपात न होत्रे यह मत्स्येन्द्र आदि आचार्योंने त्राटक कर्म कहा है॥३१॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तंद्रादीनां कपाटकम् ॥ यनतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥ ३२॥

(00)

त्राटकगुणानाह-मोचनिमिति ॥ नेत्रस्य रोगा नेत्ररौंगास्तेषां मोचनं नाशकं तंद्रा आदियें पामालस्यादीनां तेषां कपाटकं कपाटनं वद्तर्धायकमभिभावकमित्यर्थः । तंद्रा तामसश्चित्तवृत्तिविशेषः । त्राटकं त्राटकारूयं कर्म यहातः प्रयत्नतः प्रयत्नाद्वोप्यं गोपनीयम् । गोपने दृष्टांतमाह-यथेति ॥ हाटकस्य सुवर्णस्य पेटकं पेटी इति लोके प्रसिद्धं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् ॥ ३२ ॥

आषार्थ-अब त्राटकके गुण कहते हैं कि, यह त्राटक कर्म नेत्रके रोगोंका नाशक है और तंद्रा आउस्य आदिका कपाट है अर्थात् कपाटके समान तंद्रा आदिका अंतर्द्धान ( तिरस्कार ) करताहै तमोगुणी जो चित्तकी वृत्ति उसे तंद्रा कहते हैं। यह त्राटककर्म इसप्रकार यत्नसे गुप्त करने योग्य है जैसे सुवर्णकी पेटी जगत्में गुंत करने योग्य होती है ॥ ३२ ॥

#### अथ नौलिः।

अमंदावर्तवेगेन तुंदं सव्यापसव्यतः॥ नतांसो भामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥३३॥

अथ नौलिकर्माह-अमंदेति ॥ नतौ नम्रीभूतांवंसौ स्कंधौ यस्य स नतांसः पुमानमंदोऽतिशयितो य आवर्तस्तस्येव जलभ्रमस्येव वेगो जवस्तेन तुंदमुद्रम् । 'पिचंडकुक्षी जठरोद्रं तुंदं स्तनौ कुचौ । इत्यमरः । सन्यं चापसन्यं च सन्यापसन्ये दक्षिणवामभागी तयोः सन्यापसन्यतः । सप्तम्यर्थे तसिः । भ्रामयेद् भ्रमंतं प्रेरयेत् । सिद्धे-रेषा नौलिः मचक्ष्यते कथ्यते ॥ ३३ ॥

भाषार्थ-अब नौलिका वर्णन करते हैं कि, नवाये हैं कांघे जिसने ऐसा मनुष्य अत्यंत है वेग जिसका ऐसे आवर्त ( जलभ्रमर ) के समान वेगसे अपने तुंद ( उदर ) को सन्य भीर अपसन्य ( अर्थात् ) दक्षिणवामभागोंसे अमाने सिक्रोंने यह नौलिकर्म कहाहै ॥ ३३॥

### मंदाग्निसंदीपनपाचनादिसंघापिकानंदकरी सदैव॥ अशेषदोषामयशोषणी च हठिकया मौलिरियं च नौलिः॥ ३४॥

नौलिगुणानाह—मंदाग्नीति ॥ मंद्श्रासावग्निर्जठराग्निस्तस्य दीपनं सम्यग्दीपनं चपाचनं च भुक्तान्नपरिपाकश्च मंदाग्निसंदीपनपाचने ते आदिनी यस्य तन्मंदाग्निसंदीपनपाचनादि तस्य संधापिका विधात्री । आदिशब्देन मलगुद्धचादि । सदैव सर्वदेवानंदकरी सुखकरी । अशेषाः समस्ताश्च ते दोषाश्च वाताद्य आमयाश्च रोगास्तेषां शोषणी शोषणकर्त्री । हठस्य क्रियाणां थोत्यादीनां मोलिमोलिरिवोत्तमा धोतिवस्त्योनोलिसापेक्षत्वात् । इयमुक्ता नौलिः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ-अब नौलिके गुणोंको कहते हैं कि, मंदामिका भलीप्रकार दीपन और अन्न आदिका पाचन और सर्वदा आनंद इनको यह नौलि करती हैं और अशेष (समस्त) जो वात आदि दोष और रोग इनका शोषण (नाश) करतीहै और यह नौलि घौति आदि जो हठयोगकी किया हैं उन सबकी नौलि (उत्तम) रूप है। इह।

## मब्रावछोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ॥ कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥ ३५॥

अथ कपालभाति तहुणं चाह—अस्त्राविद्ति ॥ लोहकारस्य अस्त्राप्तेर्धमनसाधनीभूतं चर्म तह्नतं भ्रमेण सह वर्तमानौ ससंभ्रमाव-मंदी यो रेचपूरी रेचकपूरको कपालभातिरिति विख्याता । कीह्शी कफदोपविशोपणी कफस्य दोषा विंशतिभेदिभिन्नाः । तहुक्तं निदाने— 'कफरोगाश्च विंशतिः ' इति । तेषां विशोषणी विनाशिनी ॥ ३५ ॥

भाषार्थ-अब कपालभाति और उसके गुणोंको कहते हैं कि, छोहकारकी भस्त्राके समान संस्मासे अर्थात् एकवार अत्यंत शीवतासे रेचक पूरक प्राणायामको करना वह योगशास्त्रमें कफदोषका नाशक कपालभाति विख्यात है।। ३५॥

## षट्कमिनिर्गतस्थोल्यकफदोषमलादिकः॥ प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्धचित ॥३६॥

षट्कर्मणां प्राणायामत्वोपकारकत्वमाह-षट्कर्मिति ॥ षट्कर्मभिर्धोतिप्रभृतिभिर्निर्गताः । स्थोल्यं स्थूलस्य भावः स्थूलत्वम् ।
कफदोषा विश्वतिसंख्याका मलाद्यश्च यस्य स तथा 'शेषादिभाषा'
इति कप्रत्ययः । आदिशब्देन पित्तादयः । प्राणायामं क्र्यात् ।
ततस्तस्मात्षद्कर्मपूर्वकात्प्राणायामादनायासेनाश्रमेण सिद्ध्यति ।
योग इति शेषः । षट्कर्मांकरणे तु प्राणायामे श्रमाधिक्यं स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

आषार्थ—अब इन छः पूर्वोक्त कमोंको प्राणायामकी उपकारकताका वर्णन करते हैं कि, घौति आदि छः कमोंसे दूर भये हैं स्थूछता बीस प्रकारके कफदोष और मछ पित्त आदि जिसके ऐसा पुरुष षट्कम करनेके अनंतर प्राणायाम करे तो अनायाससे (विनापरिश्रम) प्राणायाम सिद्ध होताहै। यदि षट्कमोंको न करके प्राणायामोंको करे तो अधिक अधिक परिश्रम होताहै इससे षट्कमेंके अनंतरही प्राणायाम करना उचित है॥ ३६॥

### त्राणायामेरेव सर्वे प्रशुष्यंति मला इति ॥ आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम्॥३०॥

मतभेदेन षट्कर्मणामनुपयोगमाह—प्राणायामैरिति ॥ प्राणा-यामैरेव । एवराब्दः षट्कर्मव्यवच्छेदार्थः । सर्वे मलाः प्रशुष्यंति । मला इत्युपलक्षणं स्थोल्यकफापत्तादीनाम् इति हेतोः केषांचिदा-चार्याणां याज्ञवल्क्यादीनामन्यत्कर्म षट्कर्म न संमतं नाभिमतम् । आचार्यलक्षणमुक्तं वायुपुराणे । 'आचिनोति च शास्त्रार्थमाचरे स्थाप-येदापि । स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥ दिति ॥ ३७ ॥

भाषार्थ-अब मतभेदसे छः कर्मके अनुपयोगको कहते हैं कि, प्राणायामके करनेसेही संपूर्ण मल शुब्क होते हैं और स्थील्य कफ आदिकी निवृत्तिभी प्राणाया-

मौंसेही होसकती है इससे किन्ही किन्ही आचार्योंको प्राणायामोंसे अन्य जो धौति आदि कर्म हैं वे सम्मत नहीं हैं। वायुपुराणमें आचार्यका लक्षण यह कहाहै कि, जो शास्त्रके अर्थका संप्रह करें और शास्त्रोक्तको स्वयं करें और अन्योंसे कराबै वह आचार्य कहता है।। ३७॥

### उद्रगतपदार्थमुद्रमंतिपवनमपानमुदीर्थं कंठनाले ॥ क्रमपरिचयवश्यनाडिवका गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः॥ ३८॥

गजकरणीमाह—उद्रगतामिति ॥ अपानं पवनमपानवायुं कंठनाले कंठो नाल इव कंठनालस्तिस्मिन्नुदीर्थोतिक्षप्योदरे गतः प्राप्तः
स चासौ पदार्थश्च भुक्तपीतान्नजलादिस्तं परयोद्धमंत्युद्धिरंति यया
योगिन इत्यध्याहारः । क्रमेण यः परिचयोऽभ्यासस्तेनावश्यं स्वाधीनं नाडीनां चक्रं यस्यां सा तथा । सा क्रिया हठज्ञेईठयोगाद्यभिन्नैर्गजकरणीति निगद्यते कथ्यते । क्रमपरिचयवश्यनाडिमार्ग
इति कचित्पाठस्तस्यायमर्थः क्रमपरिचयेन वश्यो नाडचाः शंखिन्याः
मार्गः कंठपर्यतो यस्यां सा तथा ॥ ३८॥

भाषार्थ—अब गजकरणीका वर्णन करते हैं कि, अपान वायुको जपरको उठाकर अर्थात् कंठके नालमें पहुँचाकर उदरमें प्राप्त हुये अन जल आदि पदार्थको जिससे योगीजन उद्दमन करते हैं इसका कमसे जो अभ्यास तिससे वशीभूत (स्वाधीन) है नाडियोंका समृह जिसके ऐसी उसिक्रयाका नाम हठयोग्योंके ज्ञाता आचार्योंने गजकरणी कहा है और कहीं क्रमपिरचय नाडिमार्ग यहभी पाठहै। उसका यह अर्थ है कि, क्रमसे किये अभ्याससे वशीभूत है शंखिनी नाडीका कंठपर्यंत मार्ग जिसमें ऐसी गजकरणी कहातीहै॥ ३८॥

त्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ॥ अभूवत्रंतकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥ ३९॥ प्राणायामोऽवश्यमभ्यसनीयः सर्वोत्तमेरभ्यस्तत्वान्महाफलत्वान् बोति स्चयन्नाह चतुर्भिः ॥ ब्रह्माद्य इति ॥ ब्रह्मा आद्येषां ते ब्रह्माद्यस्तेऽपि । किमुतान्य इत्यर्थः । त्रिद्शाः देवाः अंतयतीत्यं-तकः कालस्तस्माद्ध्यमंतकभयं तस्मात्पवनस्य प्राणवायोरभ्यासो रेचकपूरककुंभकभेदभिन्नप्राणायामानुष्ठानरूपस्तिस्मस्तत्परा अवहिता अभूवन्नासन् । तस्मात्पवनमभ्यसेत्पाणमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ-अब प्राणायामके अवश्य अभ्यास और सर्वोत्तमों के कर्तव्य और फलका वर्णन करते हैं कि, ब्रह्मा आदि देवताभी अंतकके भयसे अर्थात् काल जीतनेके लिये प्राणवायुके अभ्यासमें तत्पर हुये अर्थात् रेचक कुंभक पूरक भेदोंसे भिन्न २ जो प्राणायाम उनके करनेमें सावधान रहे तिससे प्राणायामके अभ्यासको अवश्य करें ॥ ३९॥

### यावद्वदो मरुद्देहे यावचित्तं निराकुलम् ॥ यावदृष्टिर्भुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ४० ॥

यावदिति ॥ यावद्यावत्कालपर्यतं मरुत्याणानिलो देहे श्रीरे वदः श्वासोच्छ्वासिकयाशून्यः । यावचित्तमंतःकरणं निराकुलमवि- क्षिप्तं समाहितम् । यावद्भुवोर्मध्ये दृष्टिरंतःकरणवृत्तिः । दृश्चिरत्र ज्ञानसामान्यार्थः । तावत्तावत्कालपर्यतं कलयतीति कालोंऽतकस्त-समाद्भयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः । तथा च वक्ष्यति—'खाद्यते न च कालेन वाध्यते न च कर्मणा । साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥' इति । स्वाधीनो भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

भाषार्थ—यावत्कालपर्यत प्राणवायु रारीरमें बद्ध है अर्थात् धास और उच्छाम कियासे शून्य है और इतने अंत:करण निराकुल अर्थात् विक्षेपरहित वा सावधान है और इतने अुकुटियोंके मध्यमें अंत:करणकी वृत्ति है तावत्कालपर्यत कालसे भय किसीप्रकार नहीं होसकताहै अर्थात् योगी स्वाधीन होजाताहै सोई आगे कहेंगे कि, उस योगीको कोई खा नहीं सकता न कोई कम बांध सकता न कोई उसे साधसकता जो योगी समाधिसे युक्त है ॥ ४०॥

#### विधिवत्त्राणसंयामैनांडीचके विशोधिते ॥ सुषुम्रावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥ ४१ ॥

विधिवदिति ॥ विधिवत्प्राणसंयामेरासनजारुंधरवंधादिविधियुक्तप्राणायामेर्नाडीचके नाडीनां चकं समृहस्तस्मिन्विशोधिते निर्मेरे
सित मारुतो वायुः सुषुम्ना इडापिंगलयोर्मध्यस्था नाडीः तस्या वदनं
सुखं भिस्वा सुखादनायासादिशति । सुषुम्नांतरिति शेषः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—विधिर्वेक अर्थात् आसन जालंबरबंध आदि पूर्वेक किये हुए प्राणायामोंसे नाडियोंके समूहके भलीपकार शोधन हुयेपर प्राणवाय हडा और पिंगलाके मध्यमें वर्तमान सुपुम्ना नाडीके मुखको भलीप्रकार भेदन करके सुपुमाके मुखमें सुखसे प्रविष्ट होजाताहै॥ ४१॥

## मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ॥ यो मनः सुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी॥४२॥

मारुत इति ॥ मारुते प्राणवायौ मध्ये सुषुम्नामध्ये संचारः सम्यक्चरणं गमनं मूर्धपर्यतं यस्य स मध्यसंचारस्तिस्मन् सित मनसः स्थिर्यं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो जायते प्राहुर्भवति । यो मनसः सुस्थिरी-भावः सुष्ठुस्थिरीभवनं सेव मनोन्मन्यवस्था । मनोन्मनीज्ञब्द उन्मनी-पर्यायः । तथाप्रे वक्ष्यति—' राजयोगः समाधिश्च' इत्यादिना ॥४२॥

आषार्थ—जब प्राणवायुका सुषुम्राके मध्यमें संचार होनेपर मनकी स्थिरता होजातीहै अर्थात् ध्यान करने योग्य वस्तुके आकारकी वृत्तियोंका प्रवाह रोजाताहै वह जो मनका भलीप्रकार स्थिर होजानाहै उसकोही मनोन्मनी अबस्था कहतेहैं यहाँ मनोन्मनी शब्द उन्मनीका पर्याय है यही बात राजयोग और समाधियोगसे आगे कहेंगे॥ ४२॥

तित्सद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुवैति कुंभकान् ॥ विचित्रकुंभकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाष्ट्रयात्॥४३॥ विचित्रेषु कुंभकेषु प्रवृत्ति जनियतुं तेषां मुख्यफलमवांतरफलं चाह—तित्सिद्धय इति ॥ विधानं कुंभकानुष्ठानप्रकारस्तजानंतीति विधानज्ञास्तित्सद्धये उन्प्रन्यवस्थासिद्धये चित्रान्स्यभेदनादिभेदेन नानाविधानकुंभकान्कुर्वति । विचित्राश्च ते कुंभकाश्च विचित्रकुंभकान्स्तेपामभ्यासादनुष्ठानाद्विचित्रामणिमादिभेदेन नानाविधां विल-क्षणां वा जनमौषधिमंत्रतपोजाताम् । तदुक्तं भागवते—' जनमौषधित-पोमंत्रैर्यावतीरिह सिद्धयः । योगेनाभोति ताः सर्वा नान्यैर्यागर्गात् ष्रजेत् ॥ 'इति । आप्नुयात्प्रत्याहारादिष्रंपरयेति भावः ॥ ४३ ॥

भाषार्थ-विचित्र कुंभकप्राणायामों में प्रवृत्ति होनेके छिये उनके मुख्य कि और अवान्तरफलको कहते हैं—कुंभक प्राणायामकी विधिके ज्ञाता योगी-जन उन्मनी अवस्थाकी सिद्धिके लिये अनेक प्रकारके अर्थात् सूर्यभेदन आदिसे भिन्न २ प्राणायामोंको करते हैं, क्योंकि विचित्र कुंभकप्राणायामोंके अन्याससे विचित्रहीं सिद्धिको प्राप्त होजाता है अर्थात् जन्म, औषधी, मंत्र, तप इनसे उत्पन्न हुई विलक्षण सिद्ध कुंभक प्राणायामोंसे होतीहै । सोई भागवतमें कहाहै कि, उत्तम जन्म औषधी तप और मंत्र इनसे जितनी सिद्धि होतीहै उन सबको योगी योगसे प्राप्त होताहै और अन्य कमोंसे योगकी गति प्राप्त नहीं होती और उस गतिकी प्राप्ति प्रत्याहार आदिकी परम्परासे समझनी ॥ ४३॥

## अथ कुंभकभेदाः।

सूर्यभेदनमुजायी सीत्कारी शीतली तथा।।
भिक्तिका श्रामरी सूच्छी मितिली तथा।।
अथाष्टकुंभकानामभिनिर्दिशाति—सूर्यभेदनमिति॥ स्पष्टम्॥४४॥
भाषार्थ-भव भाठ कुंभक प्राणायामीको नाम छेडेकर दिखातेहैं कि, सूर्य-

भाषाथे—अब भाठ कुमक प्राणायामाका नाम छळकर दिखातह कि, सूर्य-भदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, मिश्रका, आमरी, मूर्च्छा, प्लाविनी ये आठप्रकारके कुंमकप्राणायाम जानने ॥ ४४ ॥

#### पूरकांते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिधः॥ कुंभकांते रेचकादौ कर्तव्यस्तुह्विनायकः॥ ४५॥

अथ हठसिद्धावनन्यसिद्धां पारमहंसीं सर्वकुंभकसाधारणयुक्तिन्माह त्रिभिः ॥ पूरकांत इति ॥ जालंधर इत्यभिधा नाम यस्य स जालंधराभिधो बंधो बधाति याणवायुमिति बंधः कंठाकुंचन-पूर्वकं चिबुकस्य हृदि स्थापनं जालंधरबंधः पूरकांते पूरकस्यांते पूरकानंतरं झटिति कर्तव्यः । तुझब्दात्कुंभकादाबुिड्डियानकस्तु कुंभन्कांते कुंभकस्यांते किंचित्कुंभकशेषे रेचकस्यादी रेचकादी रेचका-त्युर्व कर्तव्यः । प्रयत्नविशेषण नाभिप्रदेशस्य पृष्ठत आकर्षणमुिड्डिन्यानवंधः ॥ ४५ ॥

आषार्थ-अव हठिसिद्धिके विषे परमहंसों की उस सर्वकुंभक साधारण युक्तिकों तीन रहोकों से कहते हैं जो अन्यसे सिद्ध न होसके कि, पूरकप्राणायामक अंतमें जालंधरहै नाम जिसका वह बंध करना अर्थात् कंठके आकुंचनको करके चिद्य-किको हृदयमें स्थापनरूप जालंधरबंधसे प्राणवायुका बंधन करें और तुराब्दसे कुंभककी आदिमें भी जालंधर बंध करें और कुंभकके अंतमें अर्थात् कुंभकके किंचित् रोप रहनेपर और रेचकप्राणायामकी आदिमें उड्डियान बंधकों करें प्रयत्न विशेषसे नाभिप्रदेशका पीठसे जो आकर्षण उसे उड्डियानबंध कहते हैं ॥ ४५ ॥

#### अधस्तात्कुंचनेनाशु कंटसंकोचने कृते ॥ मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥४६॥

अधस्तादिति ॥ कंठस्य संकोचनं कंठसंकोचनं तस्मिन्कृते साति जालंधरवंधे कृते सतीत्यर्थः । आश्वव्यवहितोत्तरमेवाधस्ताद्धः मदेशादाकुंचनेनाधाराकुंचनेन मूलवंधनेत्यर्थः । मध्ये नाभिमदेशे पश्चिमतः पृष्ठतस्तानं तानुनमाकर्षणं तेनोडियानवंधेनेत्यर्थः । उक्त-रीत्या कृतेन वंधत्रयेण प्राणो वायुर्बह्मनाडीं सुषुम्नां गच्छतीति अझनाडिगः सुषुम्नानाडिगामी स्यादित्यर्थः । अत्रेदं रहस्यम् । यदि श्रीगुरुमुखाजिहावंधः सम्यक् परिज्ञातस्तर्हि जिहावंधपूर्वकेन जालंधरवंधेनेव शाणायामः सिध्यति । वायुप्रकोपेनेवमधातुवपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नतेत्यादीनि सर्वाणि लक्षणानि जायंत इति मूल् बंधोिड्डियानवंधो नोपयुक्तो । तयोजिहावंधपूर्वकेण जालंधरवंधेनान्यथा सिद्धत्वात् । जिहावंधो न विदितश्चेद्धस्तात्कुंचनेनेति श्लोकोक्तरीत्या पाणायामाः कर्तव्याः । त्रयोऽपि वंधा गुरुमुखा-ज्ञातव्याः । मूलवंधस्तु सम्यग्ञातो नानारोगोत्पाद्कः । तथा हि । यदि मूलवंधे कृते धातुक्षयो विष्टंभोऽप्रिमांद्यं नाद्मांद्यं गुटिकास-मृहाकारमजस्येव पुरीषं स्यात्तदा मूलवंधः सम्यक् न ज्ञात इति बोध्यम् । यदि तु धातुपुष्टिः सम्यक् मलग्रुद्धिरप्रिदीप्तिः सम्यक् नादाभिव्यक्तिश्च स्यात्तदा ज्ञेथं मूलवंधः सम्यक् जातः इति ॥ ४६ ॥

भाषार्थ-कंडका संकोचन करनेपर अर्थात् जाउंचर वंच किये पीछे शीमहीं नीचेके प्रदेशसे आकुंचन होनेसे अर्थात् आकुंचनसे मूळवंच होनेसे हुआ जो मध्यमें पश्चिमतान अर्थात् पृष्ठसे नामिप्रदेशमें प्राणका आकर्षण रूप उड़ियान वंधसे प्राण बसनार्थागत होजाता है। सुपुम्ना नाडीमें पहुँच जाताहै, यहां यह रहस्य अर्थात् गोप्य वस्तु है कि, यदि गुरुपुखसे जिह्नावंच मळीपकार जानिल्या होय तो जिह्नावंघके करनेके अनंतरही जाळंघर वंचसे प्राणायाम सिद्ध होताहै अर्थात् वायुके प्रकोपनसेही धातुओंकी प्रसन्ता देहमें छशता और मुखकी प्रसन्ता आदि संपूर्ण छक्षण होजाताहै इससे मूळवंघ उड़ियान वंच करनेका कुछ उपयोग नहीं और जिह्नावंघ न जाना होय तो इस इलोकमें उक्त रीतिसे प्राणा-याम करने और ये तीनों वंच गुरुपुखसे जानने योग्य है, वर्थोक मळीपकार न जाना हुआ मूळवंघ नानारोगोंको पैदा करताहै सोई दिखाते हैं कि, यदि मूळक बंघ कियेपर धातुका क्षय विष्टंभ मंदाप्रि नादकी मंदता और गुटिकाके समुहकेसा है आकार जिसका ऐसा बक्तीके समान पुरीष ( मळ ) होय तो यह जानना कि, मूळवंघ मळीपकार नहीं हुआ और यदि धातुओंकी पुष्टि मळीपकार मळाड़िक और अग्निका दीपन और मळीपकार नादकी प्रकटता होय तो यह

जानना कि, मूळबंघ भळीप्रकार हुआहै. भावार्थ यह है कण्ठके संकोच कियेपर नीचेके प्रदेशसे प्राणके आकुंचनसे पश्चिमतान करनेपर नाभिप्रदेशमें पृष्ठसे प्राणके आकर्षणसे प्राण सुषुम्नामें पहुँच जाताहै ॥ ४६॥

## अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कठाद्धो नयेत् ॥ योगी जराविमुक्तः सन्षोडशाब्द्वयो भवेत् ॥४७॥

अपानिमिति ॥ अपानमपानवायुमूर्ध्वमुत्याप्याधाराकुंचनेन प्राणं प्राणवायुं कंठाद्धः अधोभागे नयत्प्रापयेद्यः स योगी योगोऽन्स्यास्ति अभ्यस्यत्वेनिति योगी योगाभ्यासी जरया वार्धक्येन विमक्तो विशेषेण मुक्तः सन् । षोडशानामन्दानां समाहारः षोड्शान्दं षोडशान्दं वयो यस्य स तादृशो भवेत् । यद्यपि 'पूरकांते तु कर्तव्यः' इत्यादिना त्रयाणां श्लोकानामेक एवार्थः पर्यवस्यति तथापि 'पूरकांते तु कर्तव्यः' इत्यनेन वंधानां काल उक्तः । अधस्तात्कुंचनेन ' इत्यनेन वंधानां स्वरूपमुक्तम् । 'अपानमूर्ध्वन् मुत्याप्य ' इत्यनेन वंधानां फलमुक्तमिति विशेषः । जालंधरवंधे मुल्वंधे च कृते नाभरधोभाग आकर्षणाख्यो बंध उद्वियानवंधो भवत्यवेत्यासमञ्श्लोके नोक्तः । तथाचोक्तं ज्ञानेश्वरेण गीताषष्ठाध्या-यव्याख्यायाम् । 'मूलवंधे जालंधरवंधे च कृते नाभरधोभाग आकर्षणाख्यो वंध उद्वियानवंधो म्वत्यवेत्यासमञ्श्लोके नोक्तः । तथाचोक्तं ज्ञानेश्वरेण गीताषष्ठाध्या-यव्याख्यायाम् । 'मूलवंधे जालंधरवंधे च कृते नाभरधोभाग आकर्षणाख्यो वंधः स्वयमेव भवति ' इति ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—अपानवायुको ऊर्च (ऊपर) को उठाकर आधाराकुंचनसे प्राणबायुको जो कंठके अधोभागमें स्थापन करें वह योगी जरासे विमुक्त होताहै और
बोड़रा वर्षकाहें देह जिसका ऐसा होताहे. यद्यपि पूर्वोक्त तीनों इठोकोंका अंतमें
एकहीं अर्थ होताहै तथापि (पूरकान्ते) इस प्रथम इठोकसे बंधोंका समय कहाहै
और (अधस्तात्कुंचनेन) इस दूसरे इठोकसे बंधोंका स्वरूप कहा (अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य) इस तीसरे इठोकसे बंधोंका फल कहाहै यह विशेष जानना और जालंधरबंध और मूलबंध करनेपर नाभिके भागमें आकर्षण नामका बंध जो उड़ियान बंधहे वह स्वयंही होजाताहै इससे इस इठोकमें नहीं कहा, सोई ज्ञानेश्वरके

गीतामें छठे अध्यायकी ज्यास्यामें कहाहै मुलबंध जालंबरिकये पीछे आकर्षण नामका बंब स्वयंही होजाताहै॥ ४७॥

#### अथ सूर्यभेदनम् ।

# आसने सुखदे योगी बद्धा चैवासनं ततः ॥ दक्षनाद्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ॥४८॥

'' योगाभ्यासक्रमं वक्ष्ये योगिनां योगसिद्ध्ये । उपःकाले समुत्था<mark>य</mark> प्रातःकालेऽथवा बुधः ॥ १ ॥ गुरुं संस्मृत्य शिरासि हृद्ये स्वेष्टदेव-ताम् । शौचं कृत्वा दंतशुद्धि विद्ध्याद्धस्मधारणम् ॥ २ ॥ शुचौ देशे मेठ रम्ये प्रतिष्ठाप्यासनं मृदु । तत्रोपविश्य संस्मृत्य मनसा ग्रुरुमी-श्वरम् ॥ ३ ॥ देशकालौ च संकीत्यं संकल्प्य विधिपूर्वकम् । अदे-त्यादि श्रीपरमेश्वरशसादपूर्वकं समाधितत्फलसिद्धचर्थमासनपूर्वकान् प्राणायामादीन् करिष्ये । अनंतं प्रणमेद्देवं नागेशं पीठसिद्धये ॥४॥ मणिश्चाजत्कणासहस्रविधृतविश्वंभरामंडलायानंताय नागराजाय नमः। ततोऽभ्यसेदासनानि श्रमे जाते शवासनम् । अन्ते समभ्यसेत्तनु श्रमाभावे तु नाभ्यसेत् ॥ ५ ॥ करणीं विपरीताख्यां कुंभकात्पूर्वम-भ्यसेत् । जालंधरप्रसादार्थं कुंभकात्पूर्वयोगतः ॥ ६ ॥ विधायाचेमनं कृत्वा कर्मागं प्राणसंयमम् । योगींद्रादीन्नमस्कृत्य कौर्माच शिववा-क्यतः ॥ ७॥ " कूर्मपुराणे शिववाक्यम्—" नमस्कृत्याथ योगींद्रान्स-शिष्यांश्च विनायकम् । गुरुं चैवाथ मां योगी युंजीत सुसमाहितः ॥ ॥ ८॥ बद्धाभ्यासे सिद्धपीठं कुंभकाबंधपूर्वकम् । प्रथमे दश कर्त-ट्याः पंचवृद्धचा दिनेदिने ॥ ९ ॥ कार्या अशीतिपर्यतं कुंभकाः सुस-माहितैः । योगीदः प्रथमं कुर्यादभ्यासं चंद्रस्ययोः ॥ १०॥ अनुलोम-विलोमाख्यमेतं पारुर्मनीपिणः । सूर्यभेदनमभ्यस्य वंधपूर्वकमेकधीः ॥ ॥ ११ ॥ उजायिनं ततः कुर्यात्सीत्कारीं शीतलीं ततः । भिक्षकां च समभ्यस्य कुर्यादन्यान्नवापरान् ॥ १२ ॥ मुद्राः समभ्यसेद्भद्ध

गुरुवकाद्यथाकमम् । ततः पद्मासनं वद्धा कुर्यान्नादानुचितनम् ॥ १३ ॥ अभ्यासं सकलं कुर्यादिश्वरार्पणमाहतः । अभ्यासादुत्थितः स्नानं कुर्यादुष्णेन वारिणा ॥ १४ ॥ स्नात्वा समापयेन्नित्यं कर्म संक्षेपतः सुधीः । मध्याद्वेऽपि तथाभ्यस्य किंचिद्विश्रम्य भोजनम् ॥ १५ ॥ कुर्वीत योगिनां पथ्यमपथ्यं न कदाचन। एलां वापि लवंगं वा भोजनांते च भक्षयेत् ॥ १६ ॥ केचित्कर्पूरमिच्छंति तांबूलं शो-भनं तथा । चूर्णेन रहितं शस्तं पवनाभ्यासयोगिनाम् ॥ १७ ॥ इति चितामणेर्वाक्यं स्वारस्यं भजते नहि । केचित्पदेन यस्माचु तयोः श्रीतोष्णहेतुना ॥ १८ ॥ भोजनानंतरं कुर्यानमोक्षशास्त्रावलोकनम् । पुराणश्रवणं वापि नामसंकीर्तनं विभोः ॥ १९ ॥ सायंसंध्याविधि कृत्वा ये।गं पूर्ववद्भ्यसेत् ॥ यदा त्रिघटिकाशेषो दिवसोऽभ्यासमा-चरेत् ॥ २० ॥ अभ्यासानंतरं कार्या सायसंध्या सदा बुधैः । अर्थ-रात्रे हठाभ्यासं विद्ध्यात्पूर्ववद्यमी ॥ २१ ॥ विपरीतां तु करणीं सायंकालार्धरात्रयोः । नाभ्यसेद्वोजनादृर्ध्वं यतः सा न प्रशस्यते ॥ ॥ २२ ॥ " अथोद्देशानुक्रमणं कुंभकान्विवक्षस्तत्र प्रथमोदितं सूर्यभे-दनं तहुणांश्राह त्रिभि:-आसन इति ॥ सुखं ददातीति सुखदं तस्मिन्सुखदे । ' शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्यु-च्छितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ' इत्युक्तलक्षणे विविक्तदेशे सुखासनस्थः ग्रुचिः 'समग्रीवशिरःशरीरम्' इति श्रुतेश्च चैलाजिन-कुशोत्तर आसने । आस्तेऽस्मिन्नित्यासनम् । आस्यतेऽनेनेति वा तस्मिन् योगी योगाभ्यासी । आसनं स्वस्तिकवीरसिद्धपद्माद्यन्यतमं मुख्यत्वात्सिद्धासनमेव वा बद्धा बंधनेन संपाद्येव कृत्वैवेत्यर्थः । तत आसनवंधानंतरं दक्षा दक्षिणभागस्था या नाडी पिंगला तया वहिःस्थं देहाङ्कहिर्वर्तमानं पवनं वायुं शंनैमेदंमंद्माकृष्य पिंगलया मेदंमंदं पूरकं कृत्वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

भाषार्थ-अब सूर्यभेदन आदि आठ कुंभकोंके वर्णन करनेके अभिलाषी आचार्य सबसे प्रथम जो सूर्यभेदन उसका वर्णन करते हैं और हम कुछ योगा- भ्यासका क्रम यहांपर लिखते हैं कि योगियोंकी योगसिद्धिके लिये योगाभ्यासको कहते हैं उससे अर्थात् प्राप्त:कालमें उठकर और शिरपर अपने गुरुका और हृदयमें अपने इष्टदेवका वर्णन करके दंतधावन और भस्मधारण करे शुद्धदेश और रमणीय मठमें कोमल आसन विलाकर उसपर बैठकर और ईश्वर और गुरुका मनसे स्मरण करके देश और कालका कथन करके अर्थात् विधिपूर्वक संकल्प करके कि. अद्यत्यादि श्रीपरमेश्वरको प्रसन्नतापूर्वक समाधि और उसके फलकी सिद्धिके लिये आसनपूर्वक प्राणायामोंको करताहूं और आसनकी सिद्धिके लिये अनंत जो नागेश देवहैं उनको प्रणाम करैं कि, मिणयोंसे शोभायमान सहस्रों फणोंपर धारण कियाहै विश्वमंडल जिसने ऐसे अनंत नागराजको नमस्कारहै। फिर आसनोंका अभ्यासकर और परिश्रम होय तो श्वासन करे और उसका अन्तर्मे अम्यास करें और श्रम न होय तो श्रवासनका अम्यास न करें और विवरी-तहै नाम जिसका ऐसी करणीका कुंभकरें पूर्व अन्यास करें जालंघरकी प्रसन्ता (सिद्धि) के लिये कुंभकते पूर्व आचमन करके कर्मका अंग जो प्राणसंयम उसको करैं । कूर्मपुराणमें शिवके वचनानुसार योगींद्रोंको नमस्कार करके, कूर्मपुराणमें शिवका वाक्य यह है कि, शिष्योंसहित योगींद्र और गणेश गुरु और मुझ शिवजीको नमस्कार करके मलीप्रकार सावधान हुआ योगी योगा-भ्यासकरे और अभ्यासके समय कुंभकसे बंधपूर्वक सिद्ध पीठ (आहन) बांवकर पहिलेदिन दश प्राणायाम करै। फिर दिन दिनमें (प्रतिदिन) पांच २ की वृद्धिसे प्राणायामकरे इस प्रकार अस्सी प्राणायामोंको भलीप्रकार साववान मनुष्य करें । प्रथम योगीन्द्र चंद्र और सूर्थका अभ्यास करें और बुद्धिमान् मनुष्योंने यह अनुलोम विलोमरूपसे दोप्रकारका कहाहै और एकाप्रबुद्धि होकर न्नंध पूर्वक सूर्यभेदनका अभ्यास करके फिर उज्जायीको करै फिर सीत्कारी और ज्ञीतलीको करे फिर भिन्नकाका अभ्यास करके अन्य प्राणायामको करे वा न करे और प्राणोंको बांघकर गुरुमुखसे कहे ऋमके अनुसार मुद्राओंका मलीप्रकार अन्यासकरे फिर प्रशासनको बांधकर नादका अनुचितन (स्मरण) करे और - आदरपूर्वक ईश्वरार्पणबुद्धिसे संपूर्ण अम्यासको करै और अभ्याससे उठकर उष्ण जलसे म्नानकरे और संक्षेपसे किये नित्यके कर्मको स्नान करके बुद्धिमान् मनुष्य समाप्त करें और मध्याह्रमें भी तिसीप्रकार अभ्यास करनेक अनंतर कुछ विश्राम करके भौजन करे। योगियोंको पथ्य भोजन करावे अपथ्य कदापि न करावे। इलायची वा लौंग भोजनके अंतमें भक्षण करें और कोई आचार्य कपूर और सुंदर तांबु छके भोजनको कहते हैं और प्राणायामके अभ्यासी योगियोंको चूनेसे रहित तांबूल श्रेष्ठ होताहै केचित्पदके पढनेसे यह चितामणिका वचन उत्तम नहीं है क्योंकि चंद्र और सूर्य शीत उष्णके हेतु हैं भोजनके अनंतर मोक्ष-शास्त्रको देखे ( विचारे ) और जब तीन घटी दिन रोष रहे तब फिर अभ्यास करै और अभ्यासके अनंतर बुद्धिमान् मनुष्य सायंसध्याको करै फिर योगी अर्द्धरात्रके समय पूर्वके समान हठयोगका अभ्यास करें और सायंकाल और अर्द्धरात्रके समयमें विषरीत करणीका अम्यास न करें, क्योंकि भोजनके अनंतर विपरीतकरणी श्रेष्ठ नहीं कही है । अब प्रासंगिकको समाप्त करके स्रोकार्थको कहते हैं कि, सुखदायी आसनपर योगी पूर्वीक्त अधीत् शुद्ध देशमें न अत्यंत जंचा और न अत्यंत नीचा और जिसपर क्रमसे वस्त्र मृगचर्न बिछेहों ऐसे आसनको बांधकर जिसमें "प्रीवा शरीर शिर ये समान रहै" इस श्रुतिके अनुसार ऐसे आसनको बांधकर अर्थात् स्वस्तिक वीर सिद्ध पद्म कोईसे आसनसे बैठकर फिर दक्षिण नाडी (पिंगला) से देहसे बाहर वर्तमान जो पवन उसको शनै: २ खींचकर अर्थात् विंगला नाडीसे पूरकप्राणायामको करके ॥ ४८ ॥

#### आकेशादानखायाच निरोधावधि कुंभयेत्॥ ततः शनैः सव्यनाडचा रेचयेत्पवनं शनैः ॥४९॥

आकेशादिति ॥ केशाना मर्यादीकृत्याकेशं तस्मान्नखायाना मर्यादीकृत्येत्यानखायं तस्मान्न निरोधस्य वायोरवरोधस्यावधिर्मर्यादा मर्यादीकृत्येत्यानखायं तस्मान्न निरोधस्य वायोरवरोधस्यावधिर्मर्यादा यस्मिन्कर्मणि तत्तथा कुंभयेत् । केशपर्यतं नखायपर्यतं च वायोनि-रोधो यथा भवेत्तथातिप्रयत्नेन कुंभकं कुर्यादित्यर्थः । ननु 'हठानि-रुद्धः पाणोऽयं रोमकूपेषु निःसरेत् । देहं विदारयत्येष कुष्ठादि जनयत्यपि ॥ ततः प्रत्यापितव्योऽसो क्रमेणारण्यहस्तिवत् । वन्यो गजो गजारिर्वा क्रमेण मृदुतामियात् ॥ करोति शास्त्रनिर्देशान्न च तं

षरिलंघयेत् । तथा प्राणी हिद्स्थोऽयं योगिनां अमयोगतः ॥ यहीतः सैव्यमानस्तु विश्रंभमुपगच्छाते ' इति वाक्यविरुद्धमिति प्रयत्नेन कुंभकं कुर्यादिति कथमुक्तमिति चेन्न । 'हठानिरुद्धः पाणोऽयम् ' इति वाक्यस्य वलाद्चिरेण प्राणज्यं करिष्यामीति बुद्धचारंभः॥ एवंच बह्वभ्यासासक्तपरत्वात्क्रमेणारण्यहस्तिवदिति दृष्टांतस्वारस्याच । अत एव सूर्याचंद्रभसोरभ्यासे धारियत्वा यथाशाक्ति निधारयेदिति निरोधत इति चोक्तं संगच्छते । तस्मात्कुंभकस्त्वतिप्रयत्नपूर्वकं कर्तव्यः । यथायथातियत्नेन कुंभकः क्रियते तथातथा तस्मिन्गुणा-धिक्यं भवेत्। यथायथा च शिथिलः कुंभकः स्यात्तथातथा गुणा-ल्पत्वं स्यात् । अत्र योगिनामनुभवोऽपि मानम् । पूरकस्तु शनैः इनिः कार्यः वेगाद्दा कर्तव्यः । वेगादिष कृते पूरके दोषाभावात । रेचकस्तु शनैः शनैरेव कर्तव्यः । वेगात्कृते रेचके बलहानिप्रसंगात् । 'ततः शनैशनैरेव रेचयेन तु वेगतः ।' इत्याद्यनेकधा यंथकारोक्तेश्च । ततो निरोधावधि कुंभकानंतरं शनैशनैर्मद्ंमंदं सब्ये वामभागे स्थिता नाडी सन्यनाडी तया सन्यनाडचा इडया पवनं वायुं रेच-थेद्धहिनिःसारयेत् । पुनः शनैरित्युक्तिस्तु शनैरेव रेचयेदित्यवधार-णार्था । तदुक्तं-' विस्मये च विषादे च देन्ये चैवावधारणे । तथा मसादने हर्षे वाक्यमेक दिरुच्यते ॥ 'इति ॥ ४९ ॥

भाषार्थ और नखाप्रसे लेकर केशोंपर्यंत जबतक निरोध होय अर्थात् संपूर्ण शरीरमें पवन कक्षजाय तावल्यीत कुंभकप्राणायाम करे कहाचित् कोई शंका करे कि, हठसे रोंका यह प्राण रोमकूपोंके द्वारा निकसजायगा देह कटजायगा वा कुछ आदि रोग होजायँगे तिससे इसको यत्नसे प्रतांतिके द्वारा इसप्रकार रखना चाहिये जैसे वनके हस्तांको वंशमे रखते हैं कि, वनका हाथी वा सिंह कमसे मृदु होजाताहै और श्वामीकी आज्ञाका अवलंघन नहीं करता और शास्त्रोक्त अपने स्वामीकी आज्ञाको करताहै तिसीप्रकार हृदयमें स्थित यह प्राण भी क्रमसेही योगियोंको प्रहण करना चाहिये क्योंकि सेवा करने से प्राण विश्वासको प्राप्त होजाताहै । इस वाक्यके विरुद्ध आपका कथन है

इससे कैसे कहतेहों कि, यत्नसे कुंभकको करें यह किसीकी शंका ठीक नहीं क्योंकि 'हठसे रोकाहुआ प्राण' इस वाक्यका इस बुद्धिसे आरंभहै कि, बळसे चीव्रही में प्राणका जय करूंगा इससे उसके लियेही यह वचनहैं कि, जो बहुत. अम्यास करनेमें असमर्थ है इसीसे क्रमसे वनके हस्तीके समान यह दृष्टान्त भी ठीक लगसकाहै इसीसे सूर्य और चंदमा नाडीके अम्याससे धारण करके ( रोककर ) यथाशक्ति धारण करै यह भी पूर्वोक्त संगत होताहै तिससे अत्यंत प्रयत्नसे कुंभकप्राणायाम करना क्योंकि जैसे जैसे प्रयत्नसे कुंभक किया जाताहै तैसा तैसाही उसमें अधिक गुण होता है और जैसा जैसा शिथिछ होताहै तैसा तैसाही अल्पगुण होताहै और इसमें योगियोंका अनुभव भी प्रमाण है पूरकप्राणायाम तो शनैः वा वेगसे करना क्योंकि वेगसे किये भी पूरकमें दोष नहीं-और रेचक तो हानै: करना क्योंकि वेगसे रेचक करनेमें बलकी हानि होती है तिससे रानै: २ ही रेचक करै वेगसे न करै-इत्यादि अनेक प्रथकारोंकी युक्तिसे पूर्वीक्त शंका ठीक नहीं है-फिर प्राणके निरोध पर्यंत कुंमकके अनंतर सव्य नाडीसे अर्थात् वामभागमें स्थित-इडानाडीके द्वारा प्राणवायुका रानै: २ रेचन करै इस इछोकमें पुन: जो शनै: पद पढ़ा है वह अवधारणके लिये है सोई इस वचनमें कहाहै कि, विस्मय विषाद दीनता और अववारण (निश्चय) इनमें एक राब्दका दोवार निश्चय किया जाता है । भावार्थ यहहै कि नखके अग्रभागसे छेकर केशोंपर्यतकी पवनको रोककर कुंभक कर किर घामभागमें स्थित इडा नाडीसे शनै: २ पवनका रेचन करे ॥ ४९ ॥

#### कपालशोधनं वातदोषमं कृमिदोषहत् ॥ पुनःपुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥ ५०॥

कपालशोधनिमिति ॥ कपालस्य मस्तकस्य शोधनं शुद्धिकरं वातजा दोषा वातदोषा अशीतिप्रकारास्तान् हंतीति वातदोषप्रं क्रमीणामुद्दे जातानां दोषो विकारस्तं हरतीति कृमिदोषहत् ॥ पुनःपुनर्भूयोभूयः कार्यम् । सूर्येणापूर्य कुंभियत्वा चंद्रेण रेचन-मिति रीत्येदमुत्तममुत्कृष्टं सूर्यभेदनं सूर्यभेदनाख्यमुक्तम् । योगिभि-रिति शेषः ॥ ५०॥ भाषार्थ-यह सूर्यभेदन नामका कुंभक मस्तकको गुद्ध करताहै और अस्सी प्रकारके वातदोषोंको हरताहै-और उदरमें पैदाहुआ जो कृमि उनको नष्ट कर-ताहै-इससे यह उत्तम सूर्यभेदन वारंवार करना-अर्थात् सूर्यनाडीसे पूरक और कुंभक करके चंद्रनाडीसे रेचन करे-इस रीतिसे किया हुआ यह सूर्यभेदन योगी-जनोंने उत्तम कहाहै ॥ ९०॥

#### अथोजायी।

### मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः॥ यथा लगति कंठाच हृदयाविध सस्वनम्॥ ५१॥

उज्जायिनमाह सार्धन सुखिमिति ॥ मुखमास्यं संयम्य संयतं कृत्वा सुद्रियत्वेत्यर्थः । कंठातु कंठादारभ्य हृद्याविध हृद्यमविधर्य-स्मिन्कर्भणि तत्त्रथा स्वनेन सिहतं यथा स्यात्तथा । उभे क्रियावि-शेषणे । लगति क्षिष्यति पवन इत्यर्थात् । तथा तेन प्रकारेण नाडीभ्यामिडापिंगलाभ्यां पवनं वायुं शनैर्मद्माकृष्याकृष्टं कृत्वा पूरियत्वेत्यर्थः ॥ ५१॥

आषार्थ—अब डेढ इलोकसे उजायी नामके कुंभकको कहते है मुखका संयमन (दाबना) करके और इडा और पिंगला नाडीसे रानै: रानै: इस प्रकार पवनका आकर्षण करे जिसप्रकार वह पवन कण्ठसे हृद्य पर्यंत राब्द करती हुई लगै ॥५१॥

## पूर्ववत्कुं भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥ श्लेष्मदोषहरं कंठे देहानलिविर्धनम् ॥ ५२ ॥

पूर्वविदिति ॥ प्राणं पूर्ववत्पूर्वण सूर्यभेदनेन तुल्यं पूर्ववत् । 'आकशादानखात्राञ्च निरोधाविध कुंभयेत् ।' इत्युक्तरीत्या कुंभ-यद्रोधयेत् । ततः कुंभकानंतरिमडया वामनाड्या रेचयेत्त्यजेत् । उज्जायगुणानाह सार्धक्षोकन-क्षेष्मदोषहरिमिति ॥ कंठे कंठप्रदेशे क्षेष्मणो दोषाः क्षेष्मदोषाः कासाद्यस्तान् हरतीति श्लेष्मदोष- हरस्तं देहानलस्य देहमध्यगतानलस्य जाठरस्य विवर्धनं विशेषेण वर्धनं दीषनमित्यर्थः ॥ ५२ ॥

आषार्थ-फिर सूर्यभेदनके समान प्राणका कुंभक करे फिर कुंभक करनेके अनंतर इडा वामनाडीसे प्राणका रेचन करें अर्थात् मुखके द्वारा बाहिर देशमें प्रवनको निकासे। अब डेढ इलोकसे उज्जायीके गुणोंको कहते हैं कि कण्ठमें जो इंडेब्म-कफ्के दोवहें उनको हरता है-और जठराधिको बढाताहै-अर्थात् दीपन करता है॥ ५२॥

### नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ॥ गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुंभकम् ५३॥

नाडिति ॥ नाडी शिरा जलं पीतमुद्कमुद्रं तुंद्मासमंतादेहे वर्तमाना धातव आधातवः । एपामितरेतरद्वंदः । तेषु गतः प्राप्तो वोषो विकारस्तं विशेषेण नाशयतीति नाडीजलोदराधातुगतदोष-ं विनाशनम् । गच्छता गमनं कुर्वता तिष्ठता स्थितेन वापि पुंसा उज्जाय्याख्यमुज्जायीत्याख्या यस्य तत् । तु इत्यनेन नास्य वैशिष्ट्यं द्योतयित । कार्यं कर्तव्यम् । उज्जापीति कचित्पाठः । गच्छता तिष्ठता तु वंधरिहतः कर्तव्यः । कुंभकशब्दिश्चितंताः । पुंलिगपाठे तु विशेषणेष्वपि पुंलिंगः पाठः कार्यः ॥ ५३ ॥

आषार्थ—नाडी जलोदर और संपूर्ण देहमें वर्तमान जो घातु इनमें जितने दोषहें उनको नष्ट करताहै—और यह उजायी नामका कुंमक, गमन करते हुए वा बैठे हुए—मनुष्यको भी करने योग्य है अर्थात् इसमें पूर्वीक्त वंधीं की आव-व्यकता नहीं ॥ ५३ ॥

#### अथ सीत्कारी।

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्रे ब्राणेनेव विजृंभिकाम्॥ एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः॥ ५४॥

सीत्कारीकुंभकमाह सित्कामिति ॥ वक्के मुखे सीत्कां सीदेव सीत्का सीदिति शब्दः सीत्कारस्तां कुर्यात् । ओष्ठयोरंतरे संलग्नया जिह्नया सीत्कारपूर्वकं मुखेन पूरकं कुर्यादित्यर्थः । प्राणेनेव नासि-क्येवेत्यनेनोभाभ्यां नासापुटाभ्यां रेचकः कार्य इत्युक्तम् । एवश-ब्देन वक्कस्य व्यवच्छेदः । वक्केण वायोनिःसारणं त्वभ्यासानंतरमापि न कार्यम् । वलहानिकरत्वात् । विजृंभिकां रेचकं कुर्यादित्यत्रापि संबध्यते । कुंभकस्तवनुक्तोऽपि सीत्कार्याः कुंभकत्वादेवावगंतव्यः । अथ सीत्कार्याः प्रशंसा । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यासः पोनःपुन्येनानु छानं स एव योगः योगसाधनत्वात्तेन दितीय एव दितीयकः काम-देवः कंदर्पः । रूपलावण्यातिशयेन कामदेवसादृश्यात् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ-अब सीत्कारी कुंभकका वर्णन करते हैं—तिसीप्रकार सीतकार (सीत्कार) को कर अर्थात् दोनों ओष्ठोंके मध्यमें लगीहुई—जिह्नासे—सीत्कार करताहुआ मुखसे प्राणायाम करें—और प्राणसेही अर्थात् नासिकाके दोनों पुटोंसे रेचक करें—यहां एव शब्दसे यह सूचन किया है कि, मुखसे रेचन न करें और मुखसे वायुका निकासना तो अध्यासके अनंतर भी न करें क्योंकि उससे बलकी हानि होतीहें—यहां विजृंभिका शब्दसे रेचक प्राणायामका प्रहण है—अब सीत्कारीकी प्रशंसाको कहते हैं कि, इस पूर्वोक्त प्रकारके अध्याससे अर्थात् वारम्वार करनेसे रूपयोगसे योगी ऐसा होजाता है मानो दूसरा कामदेव है अर्थात् रूप और शोभामें कामदेवके समान होजाता है ॥ ५४॥

# योगिनीचक्रसामान्यसृष्टिसंहारकारकः ॥ न शुधा न तृषा निदा नैवालस्यं प्रजायते ॥५५॥

योगिनीति ॥ योगिनीनां चकं योगिनीचकं योगिनीसमूहः तस्य सामान्यः संसेव्यः । सृष्टिः प्रपंचोत्पत्तिः संहारस्तल्लयः तयोः कारकः कर्ता । क्षुधा भोक्तिमिच्छा न । तृषा जलपानेच्छा न । निद्रा सुषुप्तिर्न । आलस्यं कायित्तगौरवात्प्रवृत्त्यभावः । कायगी- रवं कफादिना चित्तगोरवं तमोगुणेन । नैव प्रजायते नैव प्रादुर्भवति । एवमभ्यासयोगेनेति प्रजायत इति च प्रतिवाक्यं संबध्यते ॥ ५५ ॥

आषार्थ-योगिनियोंका जो समृह उसके श्लीप्रकार सेवने योग्य होताहै और सृष्टिकी उत्पत्ति और छय ( संसार ) इनका कर्ती होताहै और सीत्कारी प्राणायामके करनेवालेको क्षुघा तृपा और निद्रा आलस्य अर्थात् देह और चित्तके गौरवसे कार्यमें प्रवृत्तिका अभाव उनमें देहका गौरव कफ आदिसे और चित्तका गौरव तमोगुगसे जानना नहीं होते हैं ॥ ९९ ॥

#### भवेत्सत्त्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः॥ अनेन विधिना सत्यं योगींद्रो भूमिमंडले ॥ ५६ ॥

भवेदिति ॥ देहस्य शरीरस्य सत्त्वं वलं च भवेत् । अनेनोक्तेन विधिनाभ्यासविधिना योगींद्रो योगिनामिंद्र इव योगींद्रो भूमिम-डले सर्वेरुपद्रवैर्वर्जितः सर्वोपद्रवर्वर्जितो भवेत्सत्यम् । सर्व वाक्यं सावधारणामिति न्यायाद्यदुक्तं फलं तत्सत्यमेवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

भाषार्थ-और देहका बल बढताहै इस पूर्वीक्त विधिक करनेसे योगीजनोंमें इंद और भूमिके मंडलमें संपूर्ण उपद्रशैंसे रहित होताहै यह सील्कारी कुंभक प्राणायामका फल सत्य है अर्थात् इसमें संदेह नहीं है ॥ ५६॥

#### अथ शीतली ।

#### जिह्नया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुंभसाधनम्।। शनकेर्जाणरंधाभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ॥ ५७ ॥

शीतलीकुंभकमाह-जिह्नयेति ॥ जिह्नयोष्ठयोर्वहिर्निर्गतया विहं-गुमाधरचंचुसदृशया वायुमाकृष्य शनैः पूरकं कृत्वेत्यर्थः । पूर्ववत्सू-र्यभेदनवत्कुंभस्य कुंभकस्य साधनं विधानं कृत्वेत्यध्याहारः । सुधीः शोभना धीर्यस्य सः व्राणस्य रंधे ताभ्यां नासापुटविवराभ्यां शन कैः बानैरेव । ' अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्रावटेः ' इत्यकच् । पवनं वायुं रेचयेत्॥ ५७॥

भाषार्थ—अब शीतली कुंमकका वर्णन करतेहैं कि, ओष्ठोंसे बाहिर निकसी हुई उस जिह्नासे जो पक्षीकी चंचुके समान हो वायुका आकर्षण करके अर्थात् शनै: २ पूरक प्राणायामको करके और फिर सूर्यभेदनके समान कुंमकके साधन विधिको करके शौमन है बुद्धि जिसकी ऐसा योगी नासिकांक छिद्रोंमेंसे शनै: २ पवनका रेचन करे अर्थात् रेचक प्राणायामको करै ॥ ५७॥

#### गुरुमप्लीहादिकात्रोगाञ्ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम् ॥ विषाणि शीतली नाम कुंभिकेयं निहंति हि ॥६८॥

शीतलीगुणानाह-गुलमिति ॥ गुलमश्च छीहश्च गुलमधीहौ रोग-विशेषावादी येषां ते गुलमछीहादिकास्तान् रोगानामयान् ज्वरं ज्वराख्यं रोगं पित्तं पित्तविकारं क्षुधां भोक्तिमच्छां तृषां जलपा-नेच्छां विषाणि सर्पादिविषयजनितविकारान् । शीतली नामेति प्रसिद्धार्थिकमञ्ययम् । इयमुक्ता कुंभिका निहंति नितरां हंति। कुंभशब्दः स्त्रीलिंगोऽपि। तथा च श्रीहर्षः—' उदस्य कुंभीरथ शात-कुंभजा ' इति ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—अब शीतलीके गुणोंको कहते हैं कि, शीतली है नाम जिसका ऐसा यह कुंभक प्राणायाम गुल्म प्रीहा आदि रोग ज्वर पित्त क्षुधा तृषा और सर्प आदिका विष इन सबको नष्ट करताहै अर्थात् इसके कर्ताका देह स्वामाविक शीतल रहताहै ॥ ९८॥

#### अथ भिष्वका।

## डवींरुपारे संस्थाप्य शुभे पादतले उमे ॥ पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५९ ॥

भस्राकुंभकस्य पद्मासनपूर्वकमेवानुष्ठानात्तदादौ पद्मासनमाह—द्ध-वारिति ॥ उपर्युत्ताने ग्रुभे ग्रुद्धे उभे द्वे पादयोस्तलेऽधःप्रदेशे ऊवीः संस्थाप्य सम्यक् स्थापियत्वा वसेत् । एतत्पद्मासनं भवेत् । कीहशं सर्वेषां पापानां प्रकर्षेण नाशनम् । अत्रोपरीत्यव्ययमुत्तानवाचकम् । तथा च कारकेषु मनोरमायाम्-'उपर्युपरि बुद्धीनाम्' इत्यत्रोपरि-बुद्धीनामित्यस्योत्तानबुद्धीनामिति व्याख्यानं कृतम् ॥ ५९ ॥

भाषार्थ-अब पद्मासन और मिल्लका नामसे कुंभक प्राणायामको कहते हैं कि, जंघाओं के उपर दोनों पादों के ग्रुभ (सीधे) तलों को मलीप्रकार स्थापन करके जो टिकना वह पद्मासन सब पापोंका नाशक होता है यहां उपिर यह अव्यय उत्तानका वाची है इसीसे कारक की मनोरमामें कहा है कि, 'उपर्युपिर बुद्धीनां' इसके व्याख्यानमें उत्तान बुद्धियों के उपर २ ईश्वरकी बुद्धि चरती हैं॥ ९९॥

### सम्यक्पद्मासनं बद्धा समग्रीवोद्दं सुधीः ॥ मुखं संयम्य यत्नेन त्राणं त्राणेन रेचयेत् ॥ ६०॥

भिक्षकाकुंभकमाह-सम्यगिति ॥ श्रीवा च उद्रं च श्रीवोद्रम् । श्राण्यंगत्वादेकवद्भावः । समं श्रीवोद्रं यस्य स समग्रीवोद्रः सुस्थिता धीर्यस्य स सुधीः पद्मासनं सम्यक् स्थिरं बद्धा मुखं संयम्य संयतं कृत्वा यत्नेन प्रयत्नेन घ्राणेन घ्राणस्यैकतरेण रंघ्रेण प्राणं शरीरांतः-स्थितं वायुं रेचयेत् ॥ ६०॥

भाषार्थ-मलीप्रकार ऐसे पद्मासनको बांधकर जिसमें प्रीवा और उदर समान (बराबर) हों बुद्धिमान् मनुष्य मुखका संयम (बोचना) करके घ्राणके द्वारा अर्थात् नासिकाके एक छिद्रमेंसे प्राणवायुका रेचन करे ॥ ६०॥

#### यथा लगति इत्कंठे कपालावधि सस्वनम् ॥ वेगेन पूरयेचापि इत्पद्मावधि मारुतम् ॥ ६१ ॥

रेचकप्रकारमाह-यथेति ॥ हच कंठश्च हत्कंठं तिसम् हत्कंठे।
समाहारद्वंद्वः। कपालावधि कपालपर्यतं स्वनेन साहितं सस्वनं यथा
स्यात्तथा येन प्रकारेण लगित । प्राण इति शेषः। तथा रेचयेत्।
हत्पद्ममविधर्यस्मिन् कर्मणि तत् हत्पद्मावधि वेगेन तरसा मारुतं
वायुं पूरयेत्। चापीति पादपूरणार्थम् ॥ ६१॥

भाषार्थ-उस प्राणका इसप्रकार रेचन करे जैसे वह प्राण शब्द सहित हृदय और कंठमें कपाछपर्यंत छगै-फिर वेगसे हृदयके कमछपर्यंत वायुको वारंबार पूर्ण करे अर्थात पूरक प्राणायाम करे ॥ ६१॥

#### पुनर्विरेचयेत्तद्वतपूरयेच पुनः पुनः ॥ यथैव लोहकारेण भन्ना वेगेन चाल्यते ॥ ६२ ॥

पुनिरिति ॥ तद्दत्पूर्ववत्पुनिर्विचेयत्पुनः पुनः पूरयेचेत्यन्वयः । उक्तेऽथे दृष्टांतमाह—यथैवेति ॥ लोहकारेण लोहविकाराणां कर्जा भस्ताग्नेर्धमनसाधनीभूतं चर्म यथैव येन प्रकारेण वेगेन चाल्यते ॥६२॥

भाषार्थ-फिर तिसीप्रकार प्राणवायुका वेगसे रेचन करे और तिसीप्रकार पूर्ण करे अर्थात् पूरक करे और वेभी वारंवार इन्प्रकार वेगसे पूरक रेचक करने जैसे छोहकार भस्त्राको चलाताहै ॥ ६२॥

## तथैव स्वशरीरस्थं चाळयेत्पवनं धिया ॥ यदा श्रमो भवेदेहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥ ६३॥

तथैविति ॥ तथैव तेनैव प्रकारेण स्वदारीरस्थं स्वदारीरे स्थितं पवनं प्राणं धिया बुद्धचा चाल्येत् । रेचकपूरकयोनिरंतरावर्तनेन चाल-नस्यावधिमाह-यदा श्रम इति ॥ यदा यस्मिन् काले देहे द्वारीरे श्रमो रेचकपूरकयोनिरंतरावर्तनेनायासो भवेत्तदा तस्मिन् काले ॥ ६३ ॥

भाषार्थ-तैसेही अपने इार्रारमें स्थित पवनको बुद्धिसे चलावे और रेचक और पूरकको अवधि यह है कि, जब रेचक पूरकके करनेसे हार्रारमें श्रम हो तब सूर्यनाडीसे पूर्ण करें ॥ ६३॥

## यथोदरं भवेत्पूर्णमिनलेन तथा लघु ॥ धारयेत्रासिकां मध्यातर्जनीभ्यां विना हृदम्॥ ६४॥

यथेति ॥ यथा येन प्रकारेण पवनेन वायुना लघु क्षिप्रमेवोद्दं पूर्ण भवेत्तथा तेन प्रकारेण सूर्यनाडचा पूरयेत् । 'लघुक्षिप्रमरं द्वतम्'

इत्यमरः । पूरकानंतरं यत्कर्तव्यं तदाह—धारयेदिति ॥ मध्यतर्जनी-भ्यां मध्यमातर्जनीभ्यां विनांग्रष्ठानामिकाकनिष्ठिकाभिनांसिकां दृढं धारयेत् । अंग्रुष्ठेन दक्षिणनासापुटं निरुध्यानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासापुटं निरुध्य नासिकां दृढं गृह्णीयादित्यर्थः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—जिसप्रकार पवनसे शीव्रही उदर पूर्ण हो ( भर ) जाय है तिसी-प्रकार सूर्यनाडीसे पूर्ण करें । अब पूरकके अनंतर जो कर्तव्य है उसका वर्णन करते हैं कि—मध्यमा और तर्जनी अंगुलियोंके विना अर्थात् अंगुष्ठ अनामिका किनिष्ठिका इन तीनोंसे वाम नासिकाके पुटको दृढतासे रोककर प्राणवासुको प्रहण करे अर्थात् कुंभक प्राणायामसे धारण करें ॥ ६४॥

## विधिवत्कुंभकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ॥ वातिपत्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ६५ ॥

विधिवादिति ॥ वंधपूर्वकं कुंभकं कृत्वेडया चंद्रनाडचाऽनिलं वायुं रेचयेत् । भस्नाकुंभकस्यैवं परिपाटी । वामनासिकापुटं दक्षिणमुजानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य दक्षिणनासिकापुटेन भस्नावदेगेन
रेचकपूरकाः कार्याः । श्रमे जाते तेनैव नासापुटेन पूरकं कृत्वांगुष्ठेन दक्षिणं नासापुटं निरुध्य यथाज्ञाक्ति कुंभकं धारयेत् । पश्चादिडया रेचयेत् । पुनर्दक्षिणनासापुटमंग्रुष्ठेन निरुध्य वामनासिकापुटेन भस्नावज्झटिति रेचकपूरकाः कर्तव्याः । श्रमे जाते तेनैव
नासिकापुटेन पूरकं कृत्वानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासिकापुटे
निरुध्य यथाज्ञाक्ति कुंभकं कृत्वा पिगलया रेचयेदित्येका रीतिः।
वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां दक्षिणनासिकापुटेन पूरकं
कृत्वा झटित्यंगुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन रेचयेत् । एवं ज्ञतथा
कृत्वा श्रमे जाते तेनैव पूरयेत् । वंधपूर्वकं कृत्वेडया रेचयेत् । पुनर्दक्षिणनासापुटमंग्रुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा झटिति
वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य पिगलया रेचये-

द्धस्रावत् । पुनःपुनरेवं कृत्वा रेचकपूरकावृत्तिश्रमे जाते वामनासा-पुटेन पूरकं कृत्वानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां धृत्वा कुंभकं कृत्वा पिग-लया रेचयेदिति द्वितीया रीतिः । भिस्तकाग्रणानाह—वातिपत्ति ॥ वातश्च पित्तं च श्लेष्मा च वातिपत्तश्लेष्माणस्तान्हरतीति ताहशं श्रारीरे देहे योऽग्निर्जठरानलस्तस्य विशेषेण वर्धनं दीपनम् ॥ ६५ ॥

भाषार्थ-विधिपूर्वक कुंपकको करके इडानामकी चंद्रनाडीसे वायुका रेचन करै इस भस्त्राकुंभककी यह परिपाटी ( कम ) है कि वाम नासिकाके पुटको दक्षिणभजाकी अनामिका कनिष्ठिकाओंसे रोककर दक्षिण नासिकाके पुटसे भस्त्राके समान वेगपूर्वक रेचक पूरक करने-फिर श्रम होनेपर उसी नासिकाके पुटसे पूरक करके भँगूठेसे दक्षिण नासिकाके पुटको रोककर यथाशक्ति कुंभक प्राणायामसे वायुको धारण करै फिर इडासे रेचन करै फिर दक्षिण नासिकाके पुटको अँगूठेसे रोककर वामनासा पुटसे मह्नाके समान शीव्र २ रेचक पूरक करने श्रम होनेपर तिसी नासिकाके पुटसे पूरक करके अनामिका कनिष्ठिकासे नासिकाके बामपुटको रोककर यथाशक्ति कुंभकको कर पिंगला नाडीसे प्राणका रेचन करै एक तो यह राति है-और नासिकाके वामपुटको अनामिका कनिष्ठिकासे रोक-कर नासिकाके दक्षिण पुटसे पृश्क करके शात्र अंगूठेसे रोककर नासिकाके बामपुटसे रेचन करे इसप्रकार रात १०० वार करके श्रम होनेपर उससे ही पूरण करै-और बंधपूर्वक करके इडानाडीसे रेचन करै-फिर नासिकाके दक्षिण पुरको अँगूठेसे रोककर नासिकाके वामपुरसे पूरक करके शीघही नासिकाके वामपुटको अनामिका कनिष्ठिकासे रोककर पिंगलासे भस्त्राके समान रेचन करै-बारंबार इसप्रकार करके रेचक पूरककी आवृत्तिमें जब श्रम होजाय अर्थात् धकावट होजाय तब वामनासिका पुटसे पूरक करके अनामिका और कनिष्ठि-कासे धारण करनेके अनंतर कुंभक प्राणायामको करके पिंगलासे रेचन करै यह दूसरी रीतिहै-अब भिक्षका कुंमकके गुणोंको कहते हैं कि बात पित्त इलेज्मा (कफ) इनको हरतीहै और शरीरकी अग्नि ( जठराग्नि ) को बढातींहै ॥ ६५ ॥

## कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम्॥ ब्रह्मनाडीसुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम्॥ ६६॥

कुंडलीति ॥ क्षिपं शीघं कुंडल्याः सुप्ताया बोधकं बोधकर्ष्ट पुनातीति पवनं पवित्रकारकं सुखं ददातीति सुखदं हितं त्रिदोषहर-त्वात्सवेषां हितं सर्वदा च हितं सर्वेषां कुंभकानां सर्वदा हितत्वेऽिष सूर्यभेदनोज्ञायिनावुण्णो प्रायेण हितो । सीत्कारीशीतल्यो शीतले प्रायेणोण्णे हिते । भस्ताकुंभकः समशीतोष्णः सर्वदा हितः सर्वेषां कुंभकानां सर्वरोगहरत्वेऽिष सूर्यभेदनं प्रायेण वातहरम् । उज्जायी प्रायेण क्षेष्टमहरः । सीत्कारीशीतल्यो प्रायेण पित्तहरे । भस्ताख्यः कुंभकः त्रिदोषहर इति बोध्यम् । ब्रह्मनाडी सुषुम्ना ब्रह्मप्रापकत्वात् । तथा च श्रुतिः—' शतं चैका च हृदयस्य नाडचस्तासां सूर्धानमभिनिःस्तेका । तयोध्वमायन्नमृतत्वमिति विष्वगन्या उत्कमणे भवंति ॥ ' इति । तस्या मुखेऽयभागे संस्थः सम्यक् स्थितो यः कफादिक्पोऽर्गलः प्राणगितप्रतिबंधकस्तस्य नाशनं नाशकर्ष्टं ॥ ६६ ॥

भाषार्थ-और शीव्रही सोती हुई कुंडलीका बोधकहे और पिवत्र करताहै और सुखका दाताहे और हित हैं यद्यपि संपूर्ण कुंमक सब कालमें हित होते हैं तथापि सूर्यमेदन और उज्जायी ये दोनों उष्ण हैं इससे शीतके समय हितकारी हैं और शिक्तारी शीतली ये दोनों शीतल हैं इससे उष्णकालमें हितहैं—और मह्मा कुंमक न शीतलहें न उष्णहें इससे सब कालमें हितहैं। यद्यपि संपूर्ण कुंमक सब रोगोंको हरते हैं तथापि सूर्यमेदन प्रायसे वातको हरताहै और उज्जायी प्रायसे कफको हरता है और शीक्तारी शीतली ये दोनों प्रायसे पित्तको हरते हैं और मह्मानामका कुंमक त्रिदोष (संनिपात) को हरताहै यह और ब्रह्मलोक प्राप्त करनेवाली जो सुबुम्ना नामकी ब्रह्मना ही सोई इस श्रुतिमें लिखा हैं कि एकसी एक १०१ हदयकी नाडी हैं उनमेंसे एक नाडी मूर्छा और (मस्तक, के सम्मुख गयी है उस नाडीके द्वारा जो उर्ध्व लोकमें जाता है वह मोक्षकों के सम्मुख गयी है उस नाडीके द्वारा जो उर्ध्व लोकमें जाता है वह मोक्षकों

प्राप्त होताहै और अन्य सब नाडी जहां तहां क्रमको छोडकर गर्यीहें उस बहानाडीके मुख (अग्रभाग) में भलीपकार स्थित जो कक आदि अगेल अर्थात् प्राणको गतिका प्रतिबंधक उसका नाशकहै ॥ ६६॥

#### सम्यग्गात्रसमुद्भतं यंथित्रयविभेद्कम् ॥ विशेषेणैव कर्तव्यं मस्राख्यं कुंभकं त्विदम् ॥६७॥

सम्यगिति ॥ सम्यग्हरीभृतं गात्रे गात्रमध्ये सुषुम्नायामेव सम्यगुद्धतं समुद्धतं जातं यद्वंथीनां त्रयं यंथित्रयं ब्रह्मयंथिविष्णुयंथि-रुद्धयंथिरूपं तस्य विशेषेण भेदजनकम् । अत एव इदं भस्ना इत्याख्या यस्योति भस्नाख्यं कुंभकं तु विशेषेणेव कर्तव्यमवश्यकर्तव्यमित्यर्थः । सूर्यभेदनादयस्तु यथासंभवं कर्तव्याः ॥ ६७ ॥

भाषार्थ-भलीपकार (दढ) जो गात्र (सुषुम्ना) नाडीके मध्यमें भनी-प्रकार उत्पन्न हुई जो तीन ग्रंथि अर्थात् ब्रह्मग्रंथि विष्णुग्रंथि एदग्रंथिरूप जो तीन गाँठ हैं उनका विशेषकर भेदजनकहैं इसीसे यह भल्ला नामका कुंभक पाणा-याम विशेषकर करने योग्यहै और सूर्य भेदन आदि यथासंभव (जब तब ) करने योग्य हैं अर्थात् आवश्यक नहीं हैं ॥ ६७॥

#### अथ भामरी।

वेगाद्घोषं पूरकं भृंगनादं भृंगीनादं रेचकं मंदमंदम्॥ योगींदाणामेवमभ्यासयोगाचित्ते जाता काचिदानं-दलीला ॥ ६८॥

भ्रामरीकुंभकमाह—वेगादिति ॥ वेगात्तरसा घोषं सशब्दं यथा स्यात्तथा भृंगस्य भ्रमरस्य नाद इव नादो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा पूरकं कृत्वा । भृंग्यो भ्रमर्यस्तासां नाद इव नादो यस्मिस्तथा मंदंमंदं रेचकं कुर्यात् । पूरकानंतरं कुंभकस्तु भ्रामर्थाः कुंभकत्वादेव सिद्धो विशे-षाच नोक्तः । पूरकरेचकयोस्तु विशेषोऽस्तीति तावेवोक्तो । एवमुक्त रीत्याभ्यसनमभ्यासस्तस्य योगो युक्तिस्तस्माद्योगींद्राणां चित्ते काचिद्निर्वाच्या आनंदे लीला कीडा आनंदलीला जातोत्पन्न भवति ॥ ६८॥

भाषार्थ—अब भागरी कुंमकका वर्णन करतेहैं कि, वेगसे शब्दसहित जैसे हो तैसे भगरके समान है शब्द जिसमें उस प्रकारसे कुम्मक प्राणायामको करके फिर भगरिक समान है शब्द जिसमें उसप्रकार मंद २ रेचक प्राणायामको करें यहां पूरकके अनंतर कुम्मकको भी करें कदाचित कही कि, वह कहा क्यों नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि वह विना कहें भी इससे सिद्ध हैं कि, आगरी भी कुंमक ही है इससे विशेषकर कुंमक नहीं कहाहै और पूरक रेचक इन दोनोंमें तो विशेष है इससे वे दोनोंही कहे हैं इस पूर्वोंक्त रीतिके द्वारा जो अभ्यास योग (करने) से योगीदोंको चित्तमें कोई (अपूर्व) आनंदमें छीछा (क्रीडा) उत्यन्न होतीहै अर्थात् इस आगरी कुंमकके अभ्याससे योगियोंके चित्तमें आनंद होताहै ॥ ६८॥

## अथ मुर्च्छा ।

## पूरकांते गाडतरं बद्धा जालंघरं शनैः ॥ रेचयेन्मूच्छनारुयेयं मनोमूच्छी सुखप्रदा ॥ ६९॥

मूर्च्छाकुंभकमाह-पूरकांत इति ॥ पूरकस्यांतेऽवसानेऽतिश्येन गाढतरं जालंधराख्यं बंधं बद्धा शनैर्मदंमंदं रेचयेत् । इयं कुंभिका-मूर्च्छनाख्या मूर्च्छना इत्याख्या यत इति मूर्च्छनाख्या कीदृशी मनो मूर्च्छयतीति मनोमूर्च्छा एतेन मूर्च्छनाया विश्रहद्शनपूर्वकं फलमुक्तम् । पुनः कीदृशी सुखपदा सुखं प्रद्रातीति सुखपदा ॥ ६९ ॥

भाषार्थ-अब मूर्च्छी नामके कुंभकको कहते हैं कि, पूरक प्राणायामके अन्तमें (पीछे) अत्यंत गाढरीतिसे पूर्वोक्त जाळंघर बंधको बांधकर शनैः २ प्राणवायका रेचन करे यह कुंभिका मृर्च्छना नामकी कहाती है और मनकी मूर्च्छाको करतीहैं और उत्तम सुखको देती है ॥ ६९॥

#### अथ प्राविनी।

### अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ॥ पयस्यगाधेऽपि सुखात्स्रवते पद्मपत्रवत् ॥ ७० ॥

ष्ठाविनीकुंभकमाह-अंतरिति ॥ अंतः शरीरांतः प्रवर्तितः पूरित उदारोऽतिशयितो यो मारुतः समीरस्तेनासमंतात्पूरितमुद्रं येन स पुमानगाधेऽप्यतलस्पर्शेऽपि पयसि जले पद्मपत्रवत्पद्मपत्रेण तुल्यं सुखादनायासात् प्रवते तरित गच्छिति ॥ ७० ॥

भाषार्थ-अब प्राविनी नामके कुंभकका वर्णन करतेहैं कि, शरीरके मध्यमें प्रवृत्त किया (भरा) उदार (अधिक) जो पवन उससे चारों ओरसे पूर्ण है उदर जिसका ऐसा योगी अगाधजलमें भी इसप्रकार प्रवता (तरता) है जैसे कमलका पत्र अर्थात् बिना आश्रयकेही जलके ऊपर तर जाताहै ॥ ७०॥

### प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुंभकैः॥ सहितः केवलश्चेति कुंभको द्विविधो मतः॥ ७१॥

अथ प्राणायामभेदानाह-प्राणायाम इति ॥ प्राणस्य शरीरांतः-संचारिवायोरायमनं निरोधनमायामः प्राणायामः । प्राणायामलक्षण-मुक्तं गोरक्षनाथेन—'प्राणःस्वदेहजीवायुरायामस्तान्नरोधनमिति' । रेच-कश्च पूरकश्च कुंभकश्च तैर्भेदेखिधा त्रिप्रकारकः रेचकप्राणायामः पूरकप्राणायामः कुंभकप्राणायामश्चेति । रेचकलक्षणमाह याज्ञ-वल्क्यः-' वहिर्यद्वेचनं वायोरुद्राद्वेचकः स्मृतः ' इति । रेचकप्रा-णायामलक्षणम्-' निष्कम्य नासाविवरादशेषं प्राणं वहिः शून्य-मिवानिलेन । निरुध्य संतिष्ठति रुद्धवायुः स रेचको नाम महा-निरोधः ॥' पूरकलक्षणम्-' वाह्यादापूरणं वायोरुद्रे पूरको हि सः ।' पूरकप्राणायामलक्षणम्-' वाह्य स्थितं प्राणपुटेन वायुमा-कृष्य तेनैव शनैः समंतात् । नाडिश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महानिरोधः ॥' कुंभकलक्षणम्-' संपूर्य कुंभवद्वायोर्धारणं कुंभको भवेत् । ' अयं कुंभकस्तु पूरकप्राणायामादभिनः । भि-न्नस्तु । ' न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम । सुनिश्चलं धारयते क्रमेण कुंभाख्यमेतत्प्रवदंति तज्ज्ञाः ॥ ' अथ प्रकारांतरेण प्राणायामं विभजते ॥ सहित इति ॥ कुंभको द्विविधः सहितः केवलश्चेति । मतोऽभिमतो योगिनामिति शेषः । तत्र सहितो द्विविधः । रेचकपूर्वकः कुंभकपूर्वकश्च । तदुक्तम्-' आरेच्यापूर्य वा कुर्यात्स वे सहितकुंभकः । ' तत्र रेचकपूर्वको रेचकपाणायामाद-भिन्नः । पूरकपूर्वकः कुम्भकः पूरकप्राणायामादभिन्नः केवलकुंभकः कुंभकपाणायामादभिन्नः । प्रागुक्ताः सूर्यभेदनाद्यः पूरकपूर्वकस्य कुंभकस्य भेदा ज्ञातव्याः ॥ ७१ ॥

भाषार्थ-अब प्राणायामके भेदोंको कहते हैं कि, रेचक प्राणायाम पूरक माणायाम कुंभक माणायाम इन भेदोंसे माणायाम तीन मकारका योगियोंने कहाहै पाणायामका लक्षण गोरक्षनाथने यह कहाहै कि, अपने देहकी जो जीवनकी अवस्था उसको पाण कहते हैं और उस अवस्थाके अवरोधको आयाम कहते हैं अर्थात् अत्रस्थाके अवरोधका नाम प्राणायाम है और रेचकका लक्षण याज्ञवल्क्यने यह कहा है कि उदरसे बाहिर जो वायुका रेचन उसको रैचक कहते हैं और रेचक पाणायामका यह लक्ष्म हैं कि संपूर्ण पाणको नासि-काके छिद्रमेंसे बाहिर निकास और पाणवायुको रोककर इसप्रकार टिकै कि मानो देह माणत्रायुसे सून्य है यह महान् निरोध रेचकनाम माणायाम कहाताहै और पूरकका लक्षण यह है कि बाहिरसे जो उदरमें वायुका पूरण वह पूरक होताहै और पूरक प्राणायामका छक्षण यहहै कि, बाहिर टिकांहुई पवनको नासिकाके पुटसे आकर्षण करके उसी नासिकाके पुटसे शनै: २ संपूर्ण नाडि-योंको जो पूर्ण करदे उस महानिरोधको पूरकनाम प्राणायाम कहते हैं । कुंभ-कका लक्षण यह है कि कुंभ ( घट ) के समान वायुको पूर्ण करके जो धारण वह कुंभक होताहै यह कुंभक प्राणायाम तो पूरक प्राणायामसे अभिन्न अर्थात् दोनों एकही है भिन्नतो यह हैं कि रेचक करें न पूरक करें किंतु नासिकाके पुटमें टिके हुए वायुकोही भलीप्रकार निश्चल रीतिपूर्वक क्रमसं जो धारण करना प्राणा-

यामके ज्ञाता इसको कुंभक कहते हैं। अब अन्यप्रकारसे प्राणायामके विभाग करते हैं कि, कुंभक दो प्रकारका योगीजनोंने मानाहै एक सहित और दूसरा केवल अर्थात् रेचकपूरक और पूरकपूर्वक सोई कहाहै कि वायुका आसमंतात् रेचन वा पूरणकरके जो प्राणायाम कर वह सहितकुंभक होताहै उन तीनोंमें रेचकपूर्वक प्राणायाम रेचकप्राणायाम रूपहै और प्रकपूर्वक कुंभक पूरकप्राणायामसे अभिन्नरूपहै और केवल कुंभक कुंभकप्राणायामसे अभिन्नरूपहै और केवल कुंभक कुंभकप्राणायामसे अभिन्नरूपहै व्यक्ति सूर्यभेदन आदि जो प्राणायामहै वे पूरकपूर्वक कुंभकके भेद जानने। भावार्थ यह है कि, रेचकपूरक कुंभकके भेदसे प्राणायाम तीन प्रकारकाहै और सहित केवलके भेदसे कुंभक दो प्रकारकाहै।। ७१॥

# यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सिहितं तावदुभ्यसेत् ॥ रेचकं पूरकं मुक्तवा मुखं यद्वायुधारणम् ॥ ७२॥

सहितकुंभकाभ्यासस्यावधिमाह—यावदिति ॥ केवलस्य केवल-कुंभकस्य सिद्धिः केवलसिद्धिर्यावत्पर्यतं स्यात्तावत्पर्यतं रहितकुंभकं सूर्यभेदादिकमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । सुषुम्नाभेदानंतरं यदा सुषुम्नांतर्घट-शब्दा भवंति तदा केवलकुंभकः सिद्धचिति तदनंतरं सिहतकुंभका दश विशातेर्वा कार्याः अशीतिसंख्यापूर्तिः केवलकुंभकेरेव कर्तव्या । सित सामर्थ्यं केवलकुंभका अशीतेरिधकाः कार्याः । केवलकुंभकस्य लक्षणमाह—रेचकमिति ॥ रेचक पूरकं सुक्ता त्यक्ता सुखमनायासं यथा स्यात्तथा वायोधीरणं वायुधारणं यत् ॥ ७२ ॥

भाषार्थ-अन सहितकुं भक्के अभ्यासकी अवधिको कहते है कि, केवल कुं भक्तप्राणायामकी सिद्धि जनतक होय तनतक सूर्यभेदन आदि सहित कुं भक्का अभ्यास करें सुषुम्नानाडीके भेदके अनंतर सुषुम्नाके अनंतर जन जलपूरित घटके समान शब्द होय तन केवल कुं भक्क सिद्ध होता है उसके अनंतर दश ना बीश सहितकुं भक्क करने अस्सी संख्याका पूरण केवल कुं भकों सेही करना सामर्थ्य होयतो अस्सीसे अधिकभी केवल कुं भक करने। अन केवल सुंभक्तके छक्षणोंको कहते हैं कि, रेचक और पूरकको छोडकर सुखसे जो बायुका धारण उसे केवछकुंभक कहते हैं॥ ७२॥

## प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुंभकः ॥ कुंभके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ ७३ ॥

प्राणायाम इति ॥ स वे मिश्रितः केवलकुंभकः प्राणायाम इत्ययमुक्तः केवलं प्रशंसीत ॥ केवल इति ॥ रेचो रेचकः रेचश्र पूरकश्च रेचपूरको ताभ्यां वर्जिते रहिते केवले कुंभके सिद्धे साति॥७३॥

भावार्थ-वह मिश्रितप्राणायाम और केवल कुंभकप्राणायाम इस पूर्वोक्त प्रकारसे कहा रेचक और पूरकसे वर्जित (विना ) केवल कुंभकके सिद्ध होनेपर ॥ ७३॥

## न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ शक्तः केवलकुंभेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ ७४ ॥

नेति ॥ तस्य योगिनस्त्रिषु ठोकेषु दुर्लभं दुष्पापं किचित्किमपि यथेष्टं यथेच्छं वायोधारणं वापि न विद्यते। तस्य सर्व सुलभित्यर्थः॥ राक्त इति ॥ केवलकुंभकेन कुंभकाभ्यासेन शक्तः समर्थी यथेष्टं यथेच्छं वायोधारणं तस्माद्वायुधारणात् ॥ ७४ ॥

भाषार्थ—उसके वल कुंभक प्राणायाम करनेवाले योगीको तीनों लोकोंमें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है अर्थात् त्रिलोकोंको संपूर्ण वस्तु सुलभ हें—और केवल कुंभकके अभ्यासमें जो समर्थ है वह अपनी इच्छाके अनुसार प्राण-वायुके धारणसे ॥ ७४ ॥

## राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ॥ कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतो भवेत्॥ ७५॥ राजेति ॥ राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं लभते । अत्र संशयो

न । निश्चितमेतदित्यर्थः । कुंभकाभ्यासस्य परंपरया कैवल्यहेतुत्व-

माह-कुंभकादिति ॥ कुंभकात्कुंभकाभ्यासात्कुंडल्याधारशक्तिस्तस्या बोधो निद्राभंगो भवेत् । कुंडल्या बोधः कुंडलीबोधस्तस्मात्कुंडली-बोधतः ॥ ७५ ॥

भाषार्थ-राजयोगपदको भी योगी प्राप्त होताहै इसमें संशय नहीं. अब कुंभकप्राणायामके अभ्यासको परम्परासे मोक्षका हेतु वर्णन करते हैं—िक कुंभक प्राणायामके अभ्याससे आधार शक्तिरूप कुण्डलीका बोध होताहै—अर्थात् निदाका भंग होताहै और कुण्डलीके बोधसे॥ ७५॥

## अनर्गल। सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ॥ हठं विना राजयोगं राजयोगं विना हठः ॥ न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत्॥७६॥

अनर्गलेति ॥ सुपुम्नानाडचनर्गला कफाद्यर्गलरिता भवेत् । इठस्य हठाभ्यासस्य सिद्धिः प्रत्याहारादिपरंपरया कैवल्यरूपा सिद्धिजायते । हठयोगराजयोगसाधनयोः परस्परोपकार्योपकारकत्वमाह—
हठं विनेति ॥ हठं हठयोगं विना राजयोगो न सिध्यति राजयोगं
विना हठो न सिध्यति ततोऽन्यत्रस्य सिद्धिनिस्ति । तस्मानिष्पत्ति
राजयोगसिद्धिमामर्यादीकृत्य या निष्पत्तिस्तस्या राजयोगसिद्धिपर्यतं युग्मं हठयोगराजयोगद्वयमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । हठातिरिक्ते साक्षात्परंपरया वा राजयोगसाधनेऽत्र राजयोगशब्दः। जीवनसाधने लांगले
जीवनशब्दप्रयोगवत् । राजयोगसाधनं चतुर्थोपदेशे वक्ष्यमाणमुन्मनीशांभवीमुद्रादिरूपमपरोक्षानुभूतावुक्तं पंचद्शांगरूपं दशांगरूपं च ।
वाक्यसुधायामुक्तं हश्यानुविद्धादिरूपं च ॥ ७६ ॥

भाषार्थ-सुषुम्नानाडी अनर्गळ होजाती है अर्थात् कफ आदि बंधनसे रिहत होजाती है और हठयोगके अभ्यासकी सिद्धि प्रत्याहार आदिकी परम्परासे होजातीहै अर्थात् मोक्षसिद्धि होजाती है । अब हठयोग और राजयोगके जो साधन हैं उनका परस्पर उपकार्य उपकारक भावका वर्णन करते हैं कि

हठयोगके विना राजयोग सिद्ध नहीं होता और राजयोगके विना हठयोग सिद्ध नहीं होता जिससे एकके विना एककी सिद्धि नहीं होती तिससे राजयोग-सिद्धि पर्यंत हठयोग और राजयोग दोनोंका अभ्यास करे अर्थात् राजयोग-सिद्धिका यत्न करे यहां राजयोगपर उस राजयोगके साधन (हेतु) का वाचक है जो हठयोगसे भिन्न हो और साक्षात् वा परम्परासे राजयोगका कारण हो जैसे जीवनके साधन लांगलमें जीवन शब्दका प्रयोग होताहै वह राजयोगका साधन उन्मनी और शाम्भवी मुद्रामें कहेंगे और अपरोक्षानुभूतिमें पंचदशांग और दशांग रूप कहाहै और वाक्यसुधामें दश्यानुविद्ध आदिरूप कहाहै॥ ७६॥

# कुंभकप्राणरोधांते कुर्याचित्तं निराश्रयम् ॥ एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं त्रजेत् ॥ ७७ ॥

हठाभ्यासाद्राजयोगप्राप्तिप्रकारमाह—कुंभकेति ॥ कुंभकेन प्रा-णस्य यो रोधस्तस्यांते मध्ये चित्तमंतःकरणं निराश्रयं कुर्यात् । संप्रज्ञातसमाधौ जातायां ब्रह्माकारस्थितेः परं वैराग्येण विलयं कुर्यादित्यर्थः । एवमुक्तरीत्याभ्यासस्य योगो युक्तिस्तेन 'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिष्ठ ' इति कोशः । राजयोगपदं राजयोग् गात्मकं पदं व्रजेत्प्राप्नुयात् ॥ ७७ ॥

भाषार्थ—अब हठयोगके अभ्याससे राजयोगप्राप्तिका प्रकार कहते हैं कि, कुंभकप्राणायामसे प्राणका रोध करनेके अंत ( मध्य ) में अन्तःकरणको निराश्य करदे अर्थात सम्प्रज्ञात समाधिक होनेपर ब्रह्माकार स्थितिके अनन्तर वैराग्यसै चित्तका छय करदे इस पूर्वीक रीतिसे किये अभ्यासके योगसे राजयोग पदको प्राप्त होताहै यहां योगपद इस कोशके अनुसार युक्तिका बोधकहै ॥ ७७॥

## वयुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फ्रटत्वं नयने सुनिर्मले ॥ अरोगता विंदुजयोऽग्निदीपनं नाडी-विद्युद्धिईठयोगलक्षणम् ॥ ७८ ॥

इति हठयोगप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥-

हठिसिद्धिज्ञापकमाह—वपुःकृशत्विमिति ॥ वपुषो देहस्य कृशत्वं कार्झ्य वदने मुखे प्रसन्नता प्रसादो नादस्य ध्वनेः स्फुटत्वं प्राकटचं नयने नेत्रे सुष्ठु निर्मले अरोगस्य भावोऽरोगता आरोग्यं विदोधी-तोर्जयः क्षयाभावरूपः अग्नेरोदर्यस्य दीपनं दीप्तिर्नाडीनां विशेषेण ग्रुद्धिर्मलापगमः एतद्धठस्य हठाभ्यासिसद्धेर्भाविन्या लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ज्योत्स्नाभिधायां ब्रह्मा-नंदकृतायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

आषार्थ-अब हठयोगसिद्धिक उक्षणोंको कहते हैं कि देहकी छराता मुखमें प्रसन्तता नादकी प्रकटता और दोनों नेत्रोंकी निर्मछता रोगका अभाव बिन्दुका जय अर्थात् नाडियोंमें मछका अभाव ये हठयोगसिद्धिके छक्षण हैं अर्थात् ये चिह्न होयँ तो यह जानना कि, इसको हठयोगकी सिद्धि होजायगी॥ ७८॥

> इति श्रीहरुयोगप्रदीपिकायां पण्डितमिहिरचन्द्रकृतभाषाविदृत्ति-सहितायां द्वितीयोपदेशः॥ २॥

> > अथ तृतीयोपदेशः ३.

## सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ॥ सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥ १ ॥

अथ कुंडल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह—सशैलेति ॥ शैलाश्च वनानि च शैलवनानि तैः सह वर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च ता धाज्यश्च भूमयस्तासाम् । धाज्या एकत्वेऽपि देशभेदाद्धेदमादाय बहुवचनम् । अहीनां सर्पाणां नायको नेताहिनायकः शेषो यथा यद्धदाधार आश्रयस्तथा तद्धत् । सर्वेषां योगस्य तंत्राणि योगतंत्राणि योगी-पायास्तेषां कुंडल्याधारशक्तिराश्रयः । कुंडलीबोधं विना सर्वयोगी-पायानां वैयर्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

भाषार्थ-अब इसके अनंतर कुण्डली सर्व योगोंका आश्रय है इसका वर्णन करतेहैं कि, जैंसे संपूर्ण पर्वत वनोंसहित जितनी भूमि हैं उनका आश्रय ( आधार ) जैसे सपाँका नायक शेष है तिसी प्रकार योगके समस्त उपायौंका आधार भी कुण्डली है क्योंकि कुंडलीके बोध विना योगके संपूर्ण उपाय व्यर्थ हैं यद्यपि भूमि एकहै-तथापि देशे दसे भूमिके भेदको मानकर बहुवचन (धात्री-णाम् ) यहां दियाहै ॥ १ ॥

सुप्ता गुरुपसादेन यदा जागति कुंडली।। तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते प्रथयोऽपि च ॥ २ ॥ कुंडलीबोधस्य फलमाह द्राभ्याम्-सुप्तेति ॥ सुप्ता कुंडली गुरोः

प्रसादेन यदा जागित बुध्यते तदा सर्वाणि पद्मानि पट्चकाणि भिद्यंते भिन्नानि भवंति । य्रथयोऽपि च ब्रह्मय्रंथिविष्णुयंथिरुद्रयं-

थयो भिद्यंते भेदं प्राप्नुवंतीत्यन्वयः ॥ २ ॥

भाषार्थ-अब कुण्डलीके बोधका दो श्लोकोंसे फल कहते हैं जब गुरुकी प्रस-नतासे सोती हुई कुण्डली जागती है तब संपूर्ण पद्म अर्थात् हृदयके षट्चक भिन होजाते हैं अर्थात् खिल जाते हैं और ब्रह्मप्रंथि विष्णुप्रंथि रुद्रग्रंथिरूप तीनों ग्रंथि भी खुल जाती हैं॥ २॥

प्राणस्य शून्यपद्वी तथा राजपथायते॥

तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥ ३॥ प्राणस्येति॥ तदा शून्यपद्वी सुषुम्ना प्राणस्य वायो राज्ञां पंथा राजपर्थं राजपर्थमिवाचरित राजपथायते राजमार्गायते । सुखेन गमनसंभवात् । तदा चित्तमालंबनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालंबं निर्विषयं भवति । तदा कालस्य मृत्योर्वचनं प्रतारणं भवति ॥ ३ ॥

भाषार्थ-और तिसीप्रकार प्राणकी शून्यपदवी (सुयुम्ना ) राजपथ ( सडक ) के समान होजाती है अर्थात् प्राण उसमेंको सुखसे गमन करने लगताहै-और उसीसमय चित्तभी निरालंब होजाताहै अर्थात्—विषयोंका अनुरागी नहीं रहता और उसीसमय कालका वंचन होताहै अर्थात् मृत्युका भय दूर होजाताहै॥ ३॥

सुषुमा शून्यपदवी ब्रह्मरंधं महापथः ॥ १मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ १ ॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधियतुमीश्वरीम् ॥ ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥

सुषुम्नापर्यायानाह—सुषुम्नाति ॥ इत्युक्ताः शब्दा एकस्य एका-र्थस्य वाचकाः एकवाचकाः । पर्याया इत्यर्थः । स्पष्टः श्लोकार्थः ॥ तस्मादिति ॥ यस्मात्कुंडलीबोधेनेव पट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मा-त्सर्वमयत्नेन सर्वण प्रयत्नेन ब्रह्म सिच्चदानंदलक्षणं तस्य द्वारं प्राप्त्यु-पायः सुषुम्ना तस्या सुखेऽयभागे सुखेन सुषुम्नाद्वारं पिधाय सुप्ता-मीश्वरीं कुंडलीं प्रवोधयितुं प्रकर्षण बोधियतुं सुद्वाणां महासुद्वादी-नामभ्यासमावृत्तिं समाचरेत्सम्यगाचरेत् ॥ ४ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—अब सुषुम्नानाडीके पर्यायोंको कहते हैं कि, सुषुमा, शून्यपदवी, नहारंध्र, महापथ, रमशान, शांभवी, मध्यपार्ग ये संपूर्ण शब्द एक अर्थके बाचक हैं अर्थात् इन सबका सुषुमा नाडी अर्थ है जिससे कुण्डलीके बोधसेही षट्चक भेद आदि होते हैं इससे संपूर्ण प्रयत्नसे सचिदानंदरूप नहाकी प्राप्तिका उपाय जो सुषुमा उसके अप्रभागमें सुषुमाके हारको ढककर सोतीहर्इ जो ईश्वरी (कुण्डली) है उसका प्रबोध (जगाना) करनेके लिये मुद्राओंका अम्यास करें अर्थात् महा-मुद्रा आदिको करें ॥ ४ ॥ ५ ॥

महामुद्रा महावंधो महावंधश्च खेचरी॥ उडचानं मूलवंधश्च बंधो जालंधराभिधः॥ ६॥ करणी विपरीताख्या बज्रोली शक्तिचालनम्॥ इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्॥ ७॥

मुद्रा उद्दिशति—महामुद्रेत्य।दिना सार्धेन ॥ सार्धार्थः स्पष्टः ॥ मुद्राफलमाह सार्द्धद्राभ्याम्—इदिमिति ॥ इद्मुक्तं मुद्राणां द्शकं जरा च मरणं च जरामरणे तयोनीशनं निवारकम् ॥ ६ ॥ ७ ॥ आषार्थ—महामुद्रा, महाबंध, महावंध, खेचरी, उड्ड्यान, मूलवंध, जालंध-रवंध, विपरीतकरणी, बज्जोली, शक्तिचालन ये पूर्वीक्त दशमुद्रा जरा और मरणको नष्ट करती हैं॥ ६॥ ७॥

## आदिनाथोदितं दिव्यमष्टेश्वर्यप्रदायकम् ॥ वस्त्रमं सर्वसिद्धानां दुर्लभं महतामपि ॥ ८॥

आदिनाथिति ॥ आदिनाथेन शंभुनोदितं कथितम् । दिवि

मवं दिव्यमुत्तमम् । अष्टो च तान्येश्वयाणि चाष्टेश्वयाणि अणिमा
महिमागिरमालिवमाप्राप्तिप्राकाम्येशतावाशिताख्यानि । तत्राणिमा

संकल्पमात्रेण पकृत्यपगमे परमाणुवदेहस्य स्क्ष्मता १ । महिमा

प्रकृत्यपूरेणाकाशादिवन्महद्भावः २ । गिरमा लघुतरस्यापि तूलादेः

पर्वतादिवहुरुभावः ३ । लिवमा गुरुत्तरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघु
भावः ४ । प्राप्तिः सर्वभावसान्निध्यम् । यथा भूमिस्थ एवांगुल्यप्रेण

स्पृशति चंद्रमसम् ५ । प्राकाम्यमिच्छानभिद्यातः । यथा उदक इव

भूमौ निमज्जत्युन्मज्ञति च ६ । ईशता भूतभौतिकानां प्रभवाष्यय
संस्थानिक्शेषसामर्थ्यम् ७ । विशत्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकर
णम् ८ । तेषां प्रदायकं प्रकर्षण ददातीति तथा तं सर्वे च ते

सिद्धाश्च कपिलाद्यस्तेषां वल्लभं प्रियं मरुतां देवानामिप दुर्लभं

दुष्प्रापं किमुतान्येवामित्यर्थः ॥ ८ ॥

भाषार्थ-और आदिनाधने कहे जो उत्तम आठ ऐश्वर्य उनको मर्छाप्रकार देती हैं और संपूर्ण जो किपछ आदि सिद्ध हैं उनको प्रिय हैं और देवता- औंकोभी दुर्छभ हैं वे आठ ऐश्वर्य ये हैं कि-अणिमा, महिमा, गिरमा, छिना, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशता, विशता उनमें अणिमा वह सिद्धि होती है कि, योगी के संकल्पमात्रसे प्रकृतिके दूर होनेपर परमाणुके समान सूक्ष्म देह होजाय उसे अणिमा १ कहते हैं और प्रकृतिके आपूरको करके अर्थात् अपने देहमें भरके आकाशके समान महान् स्थूछ होजानेको महिमा २ सिद्धि कहते हैं। और तूछ ( हई ) आदि

लघुपदार्थकोभी पर्वत आदिके समान जो गुरु (भारी) होजाना है उसे गारैमा र कहते हैं और खत्यंत गुरु (पर्वत आदि) का जो तूल आदिके समान लघु (हलका) होना है उसे लघिमा ४ कहते हैं और संपूर्ण पदार्थोंके जो समीप पहुँचना जैसे कि भूमिपर स्थित योगी अंगुलिके अप्रसे चंद्रमाका स्पर्श करले इसे प्राप्ति ५ कहते हैं और इच्लाका अनिभवात अर्थात् जलके समान भूमिमें प्रविष्ट होजाय और निकस आवै इसको प्राक्ति महामूत और उनसे उत्पन्न भौतिकपदार्थ इनकी उत्पत्ति और प्रलय और पालकिन सामध्येको ईशता सिद्धि ७ कहते हैं और भूत भौतिक पदार्थोंको अपने आधीन करनेको विशता ८ सिद्धि कहते हैं ये आंठों सिद्धि पूर्वीक्त दशों सुद्राभोंके करनेसे होती हैं ॥ ८ ॥

### गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ॥ कस्यचिन्नेव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ ९ ॥

गोपनीयमिति ॥ प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयम् । गोप-नीयत्वे दृष्टांतमाह—यथोति ॥ रत्नानां हीरकादीनां करंडकं रत्न-करंडकं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्रत् । कस्यापि जनमात्रस्य यदा कस्यापि ब्रह्मणोऽपि नेव वक्तव्यं नेव वाच्यं किम्रतान्यस्य । तत्र दृष्टांतः । कुलिश्चयाः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं यथा तद्रत् ॥ ९ ॥

भाषार्थ-ये पूर्वोक्त दशों मुद्रा इसप्रकार प्रयत्नसे गुप्त करने योग्य हैं जैसे हीरा आदिरत्नोंका करंड (पेटारी) गुप्त करने योग्य होतीहै और किसी मनुष्यको वा ब्रह्माको भी इसप्रकार नहीं कहनी. अन्यकी तो कौन कथा है जैसे जुलीनस्त्रीके सुरत (संगम) को किसीको नहीं कहते हैं ॥ ९॥

#### अथ महामुदा।

पादमूलेन वामेन योनिं संपीडच दक्षिणम् ॥ प्रसारितं पदं कृत्वा धराभ्यां धारयेहृढम् ॥ १०॥

द्शविधमुद्रादिपु प्रथमोदिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह-पादमूले-निति ॥ वामेन सच्येन पादस्य मूलं पादमूलं पार्विणस्तेन पादमूलेन वामपादपार्विणनेत्यर्थः । योनि योनिस्थानं गुद्मेद्रयोर्मध्यभागं संपीडचाकुंचितवामपादपार्षिणना योनिस्थानं हढं संयोज्येत्यर्थः । दक्षिणं सन्येतरं पदं चरणं प्रसारितं भूभिसंलग्नपारिणकमूर्धांगुलिकं देंडवत्कृत्वा कराभ्यां संप्रदायादाकुंचितकरतर्जनीभ्यां दृढं गाढं धारयेदंगुष्ठमदेशे गृह्णीयात् ॥ १०॥

भाषार्थ-अब दसों मुद्राओं में प्रथम जो महामुद्रा उसका वर्णन करते हैं कि, वामपादके मूळ ( तळ ) से अर्थात् पार्षणसे योनिस्थानको अर्थात् गुदा और िंगके मध्यभागको मलीप्रकार पीडित (दबाना) करके और दक्षिणपादको प्रसारित (फैलाना) करके अर्थात् दक्षिणपादकी पार्षिण (ऐड) को भूमिसे मिला-कर और उसकी अंगुलियोंको ऊत्रको करके और उस दक्षिणपादको सुकडीहुई दोनों हाथोंकी तर्जनीओंसे टढरीतिसे ( खूब ) अंग्ठेके स्थानमें धारण करे अर्थात् जोरसे पकडले ॥ १०॥

## कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूध्वतः॥ यथा दंडहतः सपों दंडाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

कंठ इति ॥ कंठे कंठदेशे बंधनं सम्यगारोप्य कृत्वा । जालंधर-बंधं कृत्वेत्यर्थः । वायुं पवनमूर्ध्वत उपरि सुषुम्नायां धारयेत् । अनेन मूलबंधः सूचितः। स तु योनिसंपीडनेन जिह्नाबंधनेन चरितार्थ इति सांमदायिकाः । यथा दंडेन हतस्ताडितो दंडहतः सर्पः कुंडली दंडा-कारः दंडस्याकार इवाकारो यस्य स ताहशः। दंडाकारं त्यक्ता सरल इत्यर्थः । प्रकर्षण जायते भवति ॥ ११ ॥

भाषार्थ-और कंठके प्रदेशमें भलीप्रकार जालंधरनामके बंधको करके बायुको ऊर्व्वदेश (सुषुम्ना ) मेंही धारण करे अर्थात् मूळवंध करे और आंप्रदायिक अर्थात संप्रदायके जाता तो यह कहते हैं कि, वह मूलवंव तो योनिका संपीडन और जिह्नांक बंधनसे चारतार्थ है अर्थात् पृथक् मूलवंध कर-नेका कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा करनेसे जैसे दंडसे हताहुआ सर्प ( कुंडली ) दंडके समान आकारवाला होजाताहै अर्थात् वक्रताको त्यागकर भलीप्रकार सरल होजाताहै ॥ ११॥

### ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत्।। तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२ ॥

ऋज्वीभृतेति ॥ तथा कुंडल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव ऋज्वी संपद्यते तथाभृता ऋज्वीभूता सरला भवेत् । तदा सेति । दे पुटे इडापिंगले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते । कुंडलीबोधे सति सुषुम्नायां प्रविष्टे पाणे द्वयोः प्राणवियोगात् ॥ १२ ॥

भाषाथ—तिसीप्रकार आधार शक्ति रूप जो कुंडली है वह शीप्रही ऋजी-भूता (सरल) होजाती है और उससमय इडा और पिंगलारूप जो दोनों पुट हैं वे आश्रय जिसके ऐसी वह मरणकी अवस्था होजाती है अर्थात् कुंडलीका बोध होनेपर सुवुम्नानाडीमें प्राणका प्रवेश होजता है इससे इडा और पिंगला दोनोंका प्राणवियोग (मरण) होजाताहै॥ १२॥

ततः शनैःशनैरेव रेचयेत्रैव वेगतः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १३ ॥
इयं खळु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥
महाक्केशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥

तत इति ॥ इयमिति ॥ ततस्तद्नंतरं शनैःशनैरेव रेचयेत्। वायुमिति संवध्यते वेगतस्तु वेगान्न रेचयेत् । वेगतो रेचने वलहानि-प्रसंगात् । खिल्विति वाक्यालंकारे । इयं महामुद्रा महासिद्धैरादिना-थादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षण दर्शिता । महामुद्राया अन्वर्थतामाह- महांतश्च ते क्वेशाश्च महाक्केशा अविद्यास्मितारागद्देषाभिनिवेशाः पंच त आद्यो येषां ते शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयंते । मरणमादियेषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयंते नश्यंति । यतस्तेनेव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदंति । महाक्केशान्मरणादींश्च दोषान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १३ ॥१४॥

भाषार्थ-तिससे हानै: २ प्राणवायुका रेचन करे वेगसे न करे क्यों कि वेगसे रेचन करनेमें बळकी हानि होती है तिससेही देवताओं में उत्तम इसको महामुद्रा कहते हैं और वह महामुद्रा आदिनाथ आदिमहासिद्धोंने भळीप्रकार दिखाई है। अब महामुद्राके अन्वर्थनामका वर्णन करते हैं कि, अविद्या, स्मित, राग, देव, अभिनिवेश रूप पांचों महाक्रेश और मरण आदि दुःख इस मुद्राके करनेसे क्षीण (नष्ट) होजातेहैं तिससेही देवताओं में श्रेष्ठ इसको महामुद्रा कहते हैं अर्थात् महाक्रेशों के नष्ट करनेसेही इसका देवताओं ने महामुद्रा नाम रक्खा है॥ १३॥ १३॥

## चंद्रांगे समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ॥ यावचुल्या भवेत्संख्या ततो सुद्रां विसर्जयेत् ॥१५॥

महासुद्राभ्यासक्रममाह—चंद्रांग इति ॥ चंद्रेण चंद्रनाड्योपल-क्षितमंगं चंद्रागं तिस्मन् चंद्रांगे वामांगे। तुराब्दः पादपूरणे। सम्यगभ्यस्य सूर्यण पिंगलयोपलक्षितमंगं सूर्यागं तिस्मन् सूर्यागे दक्षांगे पुनर्वामांगाभ्यासानंतरं यावद्यावत्कालपर्यतं तुल्या वामांगे कुंभकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावद्भयसेत्। ततः संख्यासा-म्यानंतरं सुद्रां महासुद्रां विसर्जयत्। अत्रायं क्रमः। आकुंचितवाम-पादपां कण योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितद्क्षिणपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो वामांगेऽभ्यासः। अस्मित्रभ्यासे पूरितो वायुर्वामांगे तिष्ठति । आकुंचितदक्षपादपा कण योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितवामपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो दक्षांगेऽन्भ्यासः अस्मित्रभ्यासे पूरितो वायुर्वक्षांगे तिष्ठति ॥ १५ ॥ भाषार्थ-अब महामुद्राके अम्यासका क्रम कहते हैं कि—चंद्रनाडी (इडा) से उपलक्षित (ज्ञात) जो अंग उसे चंद्रांग कहते हैं अर्थात् वाम अंगके विषे भलीप्रकार अभ्यास करके सूर्य नाडी (पिंगला) से उपलक्षित जो दक्षिण अंग उसके विषे अभ्यास करे और जवतक कुंमक प्राणायामों के अभ्यासकी संख्या समान (तुल्य) हो तबतक भलीप्रकार अभ्यास करे फिर संख्याओं की समानता के अनंतर महामुद्राका विसर्जन करदे, यहां यह क्रम जानना कि, संकुचित किये वामपादकी पार्थिको योनिस्थानमें युक्त (मिला) करके प्रसारित (पसारे) दिक्षण पादके अँगूठेको आकुंचित (सुकडी) तर्जनीयों से प्रहण करके जो अभ्यास उसे वामांगमें अभ्यास कहते हैं इस अभ्यासमें पूरित किया (भराहुआ) वायु वामांगमें टिकता है और आकुंचित किये दिक्षणपादकी पार्थिको योनिस्थानमें संयुक्त करके और प्रसारित (फैलाये) किये वामपादके अँगूठेको आकुंचित की इई दोनों हाथोंकी तर्जनियोंसे प्रहण करके जो अभ्यास उसे दक्षांगमें अभ्यास कहते हैं इस अभ्यासमें पूरित किया वायु दिक्षण अंगसे टिकताहै॥ १५॥

## न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥ अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यंति ॥ १६॥

महामुद्रागुणानाह त्रिभिः न हीति ॥ हि यस्मान्महामुद्राभ्या-सिन इत्यध्याहारः । पथ्यमपथ्यं वा न । पथ्यापथ्यविचारो नास्ती-त्यर्थः । तस्मात्सर्वे भुक्ता रसाः कट्टुम्लाद्यो जीर्यते हाति विभक्ति-विपरिणामेनान्वयः । नीरसा निर्गतो रसो येभ्यस्ते यातयामाः पदार्था जीर्यन्ति । घोरमिति । दुर्जरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमिष पीयूष-मिवामृतमिव जीर्यति जीर्णं भवति । किमुतान्यदिति भावः ॥ १६ ॥

भाषार्थ-अब तीन इठोकोंसे महामुदाके गुणोंको कहते हैं कि, जिससे महामुद्रा अभ्यास करनेवाळे योगीको पथ्य और अपथ्यका विचार नहीं है तिससे नीरस ( बि डि हुये ) भी संपूर्ण भक्षण किये कटु अम्छ आदि रस जीर्ण हो ( पच ) जाते हैं और सक्षण किया विषके समान घोर अन्नभी अमृतके समान जीर्ण हो जाताहै अर्थात् पचनेके अयोग्यभी पचजाता है तो योग्य क्यों न पचेगा ? ॥ १६॥

## स्यकुष्ठगुद्दावर्तगुरुमाजीर्णपुरोगमाः ॥ तस्य दोषाः सयं यांति महामुद्दां तु योऽभ्यसेत्॥१७॥

क्षयेति ॥ यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य क्षयो राजरोगः, कुष्ठ-गुद्रावर्तगुल्मा रोगविशेषाः । अजीर्ण भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरो-गमान्यत्रसराणि येषां महोद्रज्वरादीनां तथा तादृशा दोषा दोषज-निता रोगाः क्षयं नाशं यांति प्राप्तवांति ॥ १७ ॥

भाषार्थ-जो पुरुष महामुद्राका अम्यास करताहै, क्षय, गुदावर्त गुहमरूप रोग विशेष, अर्जाण अर्थात् भोजन किये अन्नका अपरिपाक ये हैं मुख्य जिनमें ऐसे महोदर, ज्वर आदि दोष उसके क्षय हो जातेहैं अर्थात् नहीं रहते हैं॥१७॥

## कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥ गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्॥१८॥

महामुद्रामुपसंहरंस्तस्या गोप्यत्वमाह—कथितेति ॥ इयमेषा महामुद्रा कथितोक्ता । मयेति शेषः । कीहशी नृणामभ्यसतां नराणां महत्यश्च ताः सिद्धयश्चाणिमाद्यास्तासां करी कर्त्रीयम् । प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन गोपनीया गोपनार्हा यस्यकस्यचिद्यस्य-कस्याप्यनिवकरिणोऽसंवंधस्य । सामान्ये पष्टी । न देया दातुं योग्या न भवतीत्यर्थः १८॥

भाषार्थ-अब महामुद्राको समाप्त करते हुए उसको गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं कि, यह पूर्वोक्त जो महामुद्रा वर्णन की है वह मनुष्योंको महा-सिद्धिको करनेवाछी है और बडे यत्नसे गुप्त करने योग्य है और जिस किसी अनिविकारी पुरुषको न देनी ॥ १८॥

## पार्षिण वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥ वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९॥

महाबंधमाह-पार्षणिमिति ॥ वामस्य सव्यस्य पादस्य चरणस्य पार्षण गुल्फयोरधोभागम 'तद्र्रंथी घटिके गुल्फो प्रमान्पार्षणस्त-योरधः' इत्यमरः । योनिस्थाने गुद्भेद्रयोरंतराले नियोजयेन्नि-तरां योजयेत् । वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपिर दक्षिणं चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा । तथा शब्दः पादपूरणे ॥ १९ ॥

भाषार्थ-अब महाबंधका वर्णन करते हैं कि, वामचरणकी पार्धणको योनिस्थानमें अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागमें लगाव और वामजंबा ऊपर दक्षिण पादको रखकर बैठे॥ १९॥

## पूरियत्वा ततो वायुं हदये चुबुकं हटम् ॥ निष्पीडच वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत्॥२०॥

प्रियत्वेति ॥ ततस्तद्नंतरं वायुं प्रियत्वा हृद्ये चुबुकं हृदं निष्पीडच गाढं संस्थाप्य । एतेन जालंधरवंधः प्रोक्तः । योर्नि गुद्मेद्रयोरंतरालमाकुंच्य । अनेन मूलवंधः सूचितः । स तु जिह्ना-वंधेन गतार्थत्वान्न कर्तव्यः । मनः स्वांतं मध्ये मध्यनाडचां नियो-जयेत्प्रवर्तयेत् ॥ २०॥

भाषार्थ-इसपूर्वीक्त आसन बाँधनेके अनंतर वायुको पूरण करके और हदयमें दढतासे (खूब) खुबुक (ठोढी) को अधीत् इस जालंघर बंधको करके और योनि (गुदा लिंगकेमध्य) को संकुचित करके अधीत् मूलबंधको करके परन्तु यह मूलबंध जिह्वाके बंधनसेही सिद्ध है इससे करने योग्य नहीं है फिर मनको मध्य नाडीकेविषे प्रविष्ट करें॥ २०॥

घारियत्वा यथाशिक रेचयेदिन लंशनैः ॥ सब्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥२१॥ धारियत्वेति ॥ शक्तिमनतिकस्य यथाशक्ति धारियत्वा कुंभ-यित्वा शनैर्मदं मंद्मनिछं वायुं रेचयेत् । सव्यांगे वामांगे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षांगे दक्षिणांगे पुनर्यावचुल्यामेव संख्यां तावद्-भ्यसेत् ॥ २१ ॥

भाषार्थ-फिर वायुको यथाशक्ति धारण करके अर्थात् कुंभक प्राणायामको करके शनैः २ वायुका रेचन करै. इसप्रकार वाम अंगमें भलीप्रकार अभ्यास करके दक्षिण अंगमें फिर अभ्यास करे और वह अभ्यास तवतक करै जवतक वामांग अभ्यासकी जो संख्या उसकी तुल्यताहो ॥ २१॥

## मतमत्र तु केषां चित्कंठवंधं विवर्जयेत् ॥ राजदंतस्थजिह्वाया वंधः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥

अथ जालंधरबंधे कंठसंकोचस्यानुपयोगमाह—मतिमिति ॥ केयां-चित्ताचार्याणामिदं मतम् । किं तिद्त्याह । अत्र जालंधरबंधे कंठस्य बंधनं बंधः संकोचस्तं विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत् । कृतः यतो दंतानां राजानो राजदंता राजदंतेषु तिष्ठतीति राजदंतस्था राज-दन्तस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तदु-परिभागस्य संबंधः शस्तः । कंठाकुंचनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः ॥ २२ ॥

भाषार्थ-अव जालंघरवंघमें कंठके संकोचका अनुपयोग वर्णन करते हैं कि; किन्हीं २ आचार्यांका यह मत है कि, इस जालंघरवंघमें कंठका जो वंघन (संकोच) उसको विशेषकर वर्जदे. क्योंकि राजदंतो (दाढ) के ऊपर स्थित जो जिह्वा उसका वंघही जालंघर वंघमें प्रशस्त होताहै अर्थात् कंठ संकोचकी अपेक्षा वह उत्तम होताहै ॥ २२॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्द्धं गतिनिरोधकः ॥ अयं खळु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥ २३॥ अयं त्विति ॥ अयं तु राजदंतस्थिजिहायां वंधस्तु सर्वाश्च ता नाडचश्च सर्वनाडचो द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषुम्नातिरिक्ता-नामूर्ध्वमुपरि वायोगितिरूर्ध्व गतिस्तस्या निरोधकः प्रतिबंधकः । एतेन 'बधाति हि शिराजालम्' इति जालंधरोक्तं फलमनेनेव सिद्ध-मिति सूचितम् । महावंधस्य फलमाह—अयं खिल्विति ॥ अयमुक्तः खिल्ल प्रसिद्धः महासिद्धीः प्रकर्षण द्दातीति तथा ॥ २३ ॥

भाषार्थ-यह राजदंतोंमें स्थित जिह्नाका वंध, बहत्तर सहस्र ७२००० सुषुम्नासे भिन्न नाडियोंकी जो ऊर्ध्वगति अर्थात् नाडियोंमें जो प्राणवायुका ऊर्द्धगमन उसका प्रतिबंधक है इससे यह सूचित किया कि, नाडियोंके जालकों जो बंधन करें उसे जालंधरबंध कहतेहैं यह जालंधर बंधका फल इससेही सिद्ध है। अब महाबंधके फलको कहते हैं कि, यह महाबंध निश्चयसे महासिद्धियोंकों भलीप्रकार देताहै।। २३॥

### कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः॥ त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेनमनः॥ २४॥

कालेति ॥ कालस्य मृत्योः पाशो वागुरा तेन यो महाबंधी वंधनं तस्य विशेषेण मोचने मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः । तिस्णां नदीनां वेणीसमुदायः स एव संगमः प्रयागस्तं धत्ते विधत्ते । केदारं भुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दवाच्यं तं मनः स्वांतं प्रापयेत् । 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अणो कर्तुर्मनसो णो कर्मत्वम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ – और मृत्युके पाशका जो महाबंधन उसके छुटानेमें विशेषकर प्रवीण है और तीन निदयोंका संगम जो प्रयाग है उसको करताहै और मनकों भुकुटियोंके मध्यमें जो शिवजीका स्थानरूप केदार है उसमें प्राप्त करताहै! अर्थात् पहुँचता है॥ २४॥

ह्रपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥ महामुद्रामहावंधौ निष्फलौ वंधवर्जितौ ॥ २५ ॥ महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्ष तावदाह—स्विति ॥ रूपं सौंद्र्यं चक्कुःप्रियो ग्रुणो लावण्यं कांतिविशेषः । तदुक्तम् 'मुक्ताफलेषु छाया-यास्तरल्विमवान्तरम् । प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते' इति । ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युवती पुरुषं भर्तारं विना यथा यादशी निष्फला तथा महामुद्रा च महावंधश्च तो महावेधेन । 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपद्योलेभो वक्तव्यः' इति भाष्यकारोक्तेर्महच्छव्दस्य लोपः । विजितो रहितौ निष्फली व्यर्थावित्यर्थः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—अब महावेबके कहनेकेलिये प्रथम उसकी उत्तमताको कहते हैं कि, रूप ( सुंदरता ) और इसवचनमें कहेहुए लावण्यको मोतियोंमें लापा ( प्रतिविवकों ) तरलताके समान स्त्रीके अंगोंमें अंतर जो प्रतीत होताहै वह यहां लावण्य कहाता है, इन दोनों पूर्वोक्त रूप और लावण्यसे युक्त स्त्री, पुरुषके विना निष्कल है. तिसीप्रकार महामुद्रा और बंध ये दोनों भी महावेधके विना निष्कल हैं, इस स्रोक्तमें वेधपदसे महावेधलेते हैं, क्योंकि इस माध्यकारके वचनसे प्रत्ययके विनाभी पूर्व और उत्तरपदका लोप कहना । महच्लब्दका लोप होताहै ॥ २५ ॥

#### अथ महावेधः।

महाबंधिस्थतो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥ वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कृठमुद्रया ॥ २६॥

महावेधमाह—महावंधिति ॥ महावंध महावंधमुद्रायां स्थितो महावंधिस्थतः । एका एकाया वीर्यस्य स एकायधीयोगी योगा-भ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायोर्यहणं कृत्वा कंठे मुद्रा कंठमुद्रा तथा जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिमूर्ध्वाधोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवाति तथावृत्य निरुध्य कुंभकं कृत्वेत्यर्थः॥२६॥

भाषार्थ—अब महावेधका वर्णन करते हैं कि, महावंधमुद्रामें स्थित अधीत् करताहुआ योगी एकाप्रबुद्धिसे पूरक प्राणायामको करके अधीत योगमार्गसे नासिकाके प्रटोंसे वायुका ग्रहण करके कंठमुद्रा ( जालंधर मुद्रा ) से प्राणभादि

वायुओं को जर्द अधोगतिरूप गमन है उसको निश्चल रीतिसे रोककर अर्थात् कुंभप्राणायामको करके ॥ २६॥

### समहरतयुगो भूमौ रिफचौ संताडयेच्छनैः॥ पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः॥ २७॥

समहस्तेति ॥ भूमो भाव हस्तयोर्थुगं हस्तयुगं समं हस्तयुगं यस्य स समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलो सरलो हस्तो यस्य ताह्याः सानित्यर्थः । रिफचो कटिप्रोथो । 'स्नियां रिफचो कटिप्रोथो ' इत्यमरः । भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलंबनेन योनिस्थानसंलग्नपा- विणना वामपादेन सह भूमेः किंचिद्वत्थापितो श्नेमंदं संताडयेत्स-म्यक् ताडयेत्। भूमावेव पुटयोर्ह्यमिडापिंगलयोर्थुग्ममितिक्रम्योर्लंध्य मध्ये सुषुम्नामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्पुरित ॥ २७ ॥

भाषार्थ-भूमिपर लगाहै तल जिनका ऐसे सरल हाथोंको अपने जो स्किच (चूतड) हैं उनको भूमिपर लगेहुए हाथोंके आश्रय और योनिस्थानमें लगीहुई पार्षण जिसकी ऐसे वामपादसहित पूर्वोक्त स्फिचोंको भूमिसे ऊपर किंचित् उठा-कर शनै: २ भलीप्रकार ताडै, इस प्रकार करनेसे इडा और पिंगलारूप दोनों नाडियोंका उहांचन (छोड) करके सुषुम्नाके मध्यमें वासु चलने लगताहै अर्थात् सुषुम्नामें प्राणशासुकी गति होजाती है ॥ २७॥

# सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृतायवे ॥ मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ २८॥

सोमिति ॥ सोमश्र स्यश्चात्रश्च सोमस्यात्रयः सोमस्यात्रिशन्दै-स्तद्धिष्ठिता नाडच इडापिंगलासुषुम्ना याह्यास्तेषां संबंधः । तदा-युसंबंधात्तेषां संबंधः । अमृताय मोक्षाय जायते । वे इति निश्चयेऽ-व्ययम् । मृतस्य प्राणवियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति । इडापिंगलयोः प्राणसंचाराभावात् । तत्रस्तद्नंतरं वायुं विरेचयेन्ना-सिकापुटाभ्यां श्नेस्त्यजेत् ॥ २८ ॥ भाषार्थ-फिर चन्द्रमा, सूर्य, अग्न अर्थात् ये तीनों देवता हैं क्रमसे अधि-ष्टाता जिनके ऐसी इडा पिंगला सुष्टमा नाडियोंका संबंध मोक्षका हेतु निश्चयसे होजाताहै अर्थात् तीनों नाडियोंका वायु एक हो जाताहै तब इडा और पिंगलाके मध्यमें प्राणसंचारके अभावसे मरण अवस्था उत्पन्न होजाती है, क्योंकि, इडा पिंगलामें जो प्राणोंका संचार उसका नामही जीवन है, फिर मरण अव-स्थाकी उत्पत्तिके अनंतर वायुको विरेचन करदे अर्थीत् नासिकाके पुटोंमेंसे हानै: २ त्यागदे ॥ २८ ॥

### महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥ वलीपलितवेपन्नः सेव्यते साधकोत्तमेः ॥ २९॥

महाविध इति ॥ अयं महाविधोऽभ्यासात्युनः पुनरावर्तनान्महा-सिद्धयोऽणिमाद्यास्तासां प्रदायकः प्रकर्षेण समर्धकः । वली जरया चर्मसंकोच पलितं जरसा केशेषु शोक्ल्यं वेषः कंपस्तान् हंतीति वलीपलितवेपद्यः । अत एव साधकेष्वभ्यासिष्ठत्तमाः साधकौत्त-मास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

भाषार्थ-यह महावेध अभ्यास करनेसे अणिमा आदि महासिद्धियोंको भलीप्रकार देताहै और बली अर्थात् वृद्ध अवस्थासे चर्मका संकोच और पिलत अर्थात् वृद्धतासे केशोंकी शुक्रता और देहका कंपना इनको नष्टकरता है इसीसे साधकों ( अभ्यासी ) में जो उत्तम है वे इस महावेधका अभ्यासक्तप सेवन करते हैं ॥ २९॥

## एतत्रयं महागुद्धं जरामृत्युविनाशनम् ॥ विद्वयुद्धिकरं चैव द्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३०॥

महासुद्रादीनां तिस्रणामातिगोप्यत्वमाह-एतादिति ॥ एतत्रयं महासुद्रादित्रयं महासुद्धमितरहस्यम् । अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि हि यस्माज्जरा वार्धकं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगः तयोविशेषण नाश्चनं वहेर्जाठरस्य वृद्धिदीप्तिस्तस्याः करं कर्त्व अणिमा आदियेषां

तेऽणिमाद्यस्ते च ते गुणाश्च तान् प्रकर्षेण द्दातीत्यणिमादि-गुणप्रदम् । चकार आरोग्यविंदुजयादिसमुचयार्थः एवशब्दोऽवधा-रणार्थः ॥ ३०॥

भाषार्थ-अब महामुद्रा आदि पूर्वीक्त तीनोंको अत्यंत गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं कि, ये तीनों मुद्रा अत्यंत गुप्त करने योग्य हैं और जरा और मृत्युको विशेषकर नष्ट करती हैं और जठरामिको बढाती हैं और अणिमा आदि सिद्धियोंको देती हैं अर्थात् अणिमा आदि गुणोंको भलीपकार उत्पन्न करती हैं और चकारके पढनेसे आरोग्य और बिंदुका जय समझना और इस इलोकमें एव पद निश्चयका बोधक है॥ ३०॥

## अष्टधा कियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥ पुण्यसंभारसंघायि पापौचभिदुरं सदा ॥ सम्यिकशक्षावतामेवं स्वरूपं प्रथमसाधनम् ॥ ३१

अथैतत्रयस्य पृथवसाधनविशेषमाह-अष्ट्रधेति ॥ दिने दिने प्रतिदिनम् । यामे यामे पहरे पहरे पौनः पुन्ये द्विवचनम् । अष्टभिः प्रकारेरप्रधा कियते। चशन्दोऽवधारणे। एतत्रयमित्यत्रापि संवध्यते। की हशं पुण्यस्य संभारः समृहस्तस्य संधायि पुनः की हशं पापानामोधः षूरः समृह इति यावत्। तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा सर्वदा यदाभ्यस्तं तदेव पापनाशनम् ॥ सम्यक् सांप्रदायिकी शिक्षा गुरूप-देशो विद्यते येषां ते तथा। एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्तरीत्या पूर्वसाधनं स्वरूपस्वरूपमेव कार्यम् ॥ ३१॥

भाषार्थ-अब इन तीनों के पृथक् २ साधन विशेषको कहते हैं कि, प्रहर २ में और दिन २ में वारंवार आठप्रकारसे ये तीनों मुद्रा की जाती हैं, यहां भी एव शब्द निश्चयक्ता वाची है और ये तीनों मुद्रा पुण्यके समूहको करती हैं और पार्वोक्ता जो समूह है उसको छदन सदैव करती हैं और भलीप्रकार गुरुकों है शिक्षा जिनको ऐसे पुरुषोंको पूर्वोक्त आठप्रकारका जो प्रहर २

और दिन २ में साधन है वह अस्प २ (थोडा २) ही करना योग्य है अधिक २ नहीं ॥ ३१॥

#### अथ खेचरी।

# कपालकुहरे जिह्ना प्रविष्टा विपरीतगा॥ भुवोरंतर्गता दृष्टिर्भुद्रा भवति खेचरी॥ ३२॥

खेचरीं विवक्षरादों तत्स्वरूपमाह—कपालेति ॥ कपाले मृधिन कुहरं सुषिरं तस्मिन्कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्गसुखीभृता जिह्वा रसना स्यात् । सुवोरंतर्गता सुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिदेशनं स्यात् । सा खेचरी सुद्रा भवति । कपालकुहरे जिह्वापवेश-पूर्वकं सुवोरंतर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धम् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ-अब खेचरीमुद्राके कथनका अभिलाषी आचार्य प्रथम खेचरीके स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, कपालके मध्यमें जो लिंद है उसमें विपरीत (उलटी) हुई जिह्वा तो प्रविष्ट होजाय और भुकुटियोंके मध्यमें दृष्टिका प्रवेश होजाय तो वह खेचरीमुद्रा होतीहै अर्थात् कपालके लिंद्रमें जिह्वाके प्रवेश पूर्वक जो भुकुटियोंके मध्यका दर्शन उसे खेचरीमुद्रा कहतेहैं ॥ ३२॥

## छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ॥ सा यावद्भमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः॥ ३३॥

खेचरीसिर्छर्छशणमाह छद्नेति ॥ छेद्नं अनुपद्मेव वश्यमा-णम् । चालनं हस्तयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा सव्यापसव्यतः परिवर्तनं, दोहः करयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तदोहनं तेः कलां जिह्नां तावद्वर्धयेदीर्घां कुर्यात् । तावत् कियत् । यावत्सा कला भूमध्यं वहिर्भुवोर्मध्यं स्पृशति यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरी-सिद्धिर्भवति ॥ ३३ ॥

भाषार्थ-अब खेचरीमुद्राकी सिद्धिके उक्षणका वर्णन करते हैं कि, छेदन जिसका आगे शीघ्रही वर्णन करेंगे और चाउन अर्थात् हाथके अँगूठे और तर्ज- नीसे जिह्वाको पकडकर वाम और दक्षिणरूपसे परिवर्तन (हळाना) और पूर्वोक्त अँगूठे और तर्जनीसे गोदोहनके समान जिह्वाका दोहन इन तीनोंसे कळा (जिह्वा) को तबतक बढावै जबतक वह कळा भृकुटियोंके मध्यका स्पर्श करें फिर स्पर्श होनेपर खेचरी मुद्राकी सिद्धिको जाने ॥ ३३॥

### स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्षणं स्निग्धनिर्मलम् ॥ समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४ ॥

तत्साधनमाह—स्तुहीति ॥ स्तुही गुडा तस्याः पत्रं दलं स्तुही-पत्रेण सहशं स्तुहीपत्रितिभं सुतीक्षणमिततीक्षणं स्निग्धं च तिन्नमेलं च स्निग्धिनमेलं शस्त्रं छेदनसाधनं समादाय सम्यगादाय गृहीत्वा ततः शस्त्रग्रहणानंतरं तेन शस्त्रेण रोमप्रमाणं रोममात्रं समुच्छिनेत्सम्यगु-च्छिनेच्छिद्यात् । रसनामूलशिरामिति कर्माध्याहारः । 'मिश्रेयाप्यथ सिंहुंडो वज्रस्तुक् स्त्री स्तुही गुडा' इत्यमरः ॥ ३४॥

भाषार्थ-अब खेचरीकी सिद्धिके साधनोंका वर्णन करतेहैं कि, स्तुही (सेहुंड) के पत्तेके समान जो अत्यंत तीक्ष्ण शस्त्र है चिकने और निर्मेल उस शस्त्रको ग्रहण करके उससे जिह्नाके मूलको नाडीको रोममात्र छेदन करदे ॥३४॥

## ततः सेंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रचर्षयेत् ॥ पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५॥

तत इति ॥ ततश्छेदनानंतरं चूणिताभ्यां चूणीकृताभ्यां सेंधवं सिंधुदेशोद्धवं छवणं पथ्यं हरीतकी ताभ्यां प्रघर्षयेत्प्रकर्षण घर्षये- च्छिनं शिराप्रदेशम् । सप्तदिनपर्यतं छेदनं सेंधवपथ्याभ्यां घर्षणं च सायंप्रातिविधेयम् । योगाभ्यासिनो छवणनिषेधात्विदिरपथ्याचूणं गृह्णंति । मूछे सेंधवोक्तिस्तु हठाभ्यासात्पूर्व खेचरीसाधनाभिप्रायेण । सप्तानां दिनानां समाहारः सप्तदिनं तस्मिन् प्राप्ते गते सति अष्टमे दिन इत्यर्थात् । ये प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः । पूर्वच्छेदनापेक्षयाधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ-और छंदनके अनंतर चूर्ण किये (पीसे) हुये सेंधव ( छवण ) और हरडेसे जिहाके मूळको भळीप्रकार घिसे सातदिनतक प्रतिदिन छेदन और चितनेको पूर्वोक्तप्रकारसे प्रातःकाळ और सायंकाळको करे और योगके अभ्या-सीको छवणका निषेध है इससे यहां खदिर ( कत्था ) और पथ्याका चूर्ण छेना योगियोंको कहाहै और मूळग्रंथमें तो सेंधवका कथन हठयोगके अभ्याससे पूर्विखेचरीकी सिद्धिके अभिप्रायसे है फिर सातदिनके बीतनेपर आठवेंदिन रोममात्रका छेदन करे अर्थात् प्रथमछेदनसे अधिक रोममात्रका छेदन करे ॥ ६ ॥

एवं क्रमेण पण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ॥ पण्मासाद्रसनामूलशिलावंधः प्रणश्यति ॥ ३६ ॥

एविमिति ॥ एवं क्रमेण पूर्व रोममात्रच्छेद्नं सप्तद्निपर्यंतं तावदेव सायंपात्रइछेदनं घर्षणं च । अष्टमे दिनेऽधिकं छेद्नामित्युक्तक्रमेण षण्मासं पण्मासपर्यंतं नित्ययुक्तः सन् समाचरेत्सम्यगाचरेत् । छेद्-नघर्षणे इति कर्माध्याहारः । पण्मासादनंतरं रसना जिह्ना तस्या सूलमधोभागो रसनामूलं तत्र या शिरा कपालकुहररसनासंयोगे प्रतिबंधिकाभूता नाडी तया बंधो बंधनं प्रणश्यति प्रकर्षण नश्यति ॥ ३६ ॥

भाषर्थ—इसप्रकार क्रमसे प्रथम रोममात्रका छेदन और उसकाही सातदिन-पर्यंत सायंकाल प्रात:कालके समय घर्षणको प्रतिदिन युक्तहुआ छः मासपर्यंत करे और बाठवेदिन पूर्व किये छेदनसे अधिक रोममात्रका छेदन करके पूर्वीक्त घर्षणको करता रहे इसरीतिसे छः मासके अनंतर जिह्नांके मूलभागमें जो शिरा-बंध है अर्थात् जिससे जिह्ना कपाल छिद्रमं नहीं पहुँच सकती वह बंधन है वह भलीयकार नष्ट होजाताहै ॥ ६६॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ॥ सा भवेत्रवेचरी मुद्रा व्योमचकं तदुव्यते ॥ ३७॥ छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह-कलामिति ॥ कलां जिह्नां पराङ्मुखमास्यं यस्याः सा तथा तां पराङ्मुखीं प्रत्यङ्- मुखीं कृत्वा तिस्रणां नाडीनां पंथाः त्रिपयस्तरिंमस्त्रिपथे कपाल-कुहरे परियोजयेत्संयोजयेत् । सा त्रिपथे परियोजनरूपा खेचरी मुद्रा तद्वयोमचक्रमित्युच्यते । व्योमचक्रशब्देनोच्यते ॥ ३७॥

आषार्थ-अब छेदन आदिसे जिहाको दृद्धि होनेपर करने योग्य कर्मको कहते हैं कि, जिहाको पराङ्मुख करके अर्थात् पश्चिमको छौटकर तीनों नाडि-योका मार्ग जो कपालका छिद्र है उसमें संयुक्त करदे वही खेचरी मुद्रा होतीहै और उसको ही व्योमचन्न कहतेहैं॥ ३७॥

## रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥ विषेविमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥३८॥

अथ खेचरीगुणाः ॥ रसनामिति ॥ ऊर्ध्व तालूपि विवरं गच्छतीति तां ताहशीं रसनां जिह्नां कृत्वा क्षणार्धं क्षणस्य मुहूर्तस्य अर्ध क्षणार्धं घटिकामात्रमापि खेचरी सुद्रा तिष्ठाते चेत्तिहैं योगी विवेश सर्पवृश्चिकादिविवेधिस्यते विशेषण सुस्यते । व्याधिघीतु-वैषम्यं सृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगो जरा वृद्धावस्था ता आद्यो येषां वल्यादीनां तेश्च विसुस्यते । 'उत्तवे च प्रकोष्ठे च सुदूर्ते नियमे तथा । क्षणशब्दो व्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यते ' इति नानार्थः ॥ ३८ ॥

आषार्थ-अन खेचरींक गुणोंका नर्णन करतेहें कि, जिह्नाको ताछुके जपरले छिद्रमें करके जो योगी क्षणार्धभी टिकताहै अर्थात् एक घटिकामात्र भी स्थित रहताहै यहां क्षण पदसे इसनचनके अनुसार मुद्रुतंका प्रहण है वह योगी धातुओंकी निषमतारूप न्याधि और मृत्यु अर्थात् प्राण और देहका वियोग और दृद्ध अनस्था आदिकोंसे और सर्प बिच्छ आदिके निर्धेत विशेषकर छूट जाताहै॥ ३८॥

न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥
न च मुर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥३९॥

न रोग इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वैत्ति तस्य रोगो न मरणं न तंद्रा तामसांतः करणवृत्तिविशेषः न निद्रा न क्षुधा न तृषा पिपासा न मूच्छो चित्तस्य तमसाभिभूतावस्थाविषेषश्च न भवेत् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ-जो योगी खेचरीमुद्राको जानताहै उसको रोग, मरण और अंतःकरणकी तमोगुणी इत्तिरूप तंद्रा और निद्रा क्षुधा तृषा और चित्तकी तमोगुणीअवस्थारूप मूर्च्छा ये सब नहीं होते हैं॥ ३९॥

## पीडचते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥ बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥४०॥

पीडचत इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना न पीडचते ॥ ४० ॥

भाषार्थ-जो खेचरीको जानताहै वह रोगसे पीडित नहीं होताहै और न कमेंसे लिप्त होताहै और न काछसे बाधा जाताहै ॥ ४० ॥

## चित्तं चरति खे यस्माजिह्वा चरति खे गता ॥ तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निक्षिपता ॥ ४१ ॥

चित्तमिति ॥ यस्माद्धेतोश्चित्तमंतःकरणं खे भुवोरंतरवकाशे चरित जिह्नां खे तत्रैव गता सती चरित । तेन हेतुना एषा कथिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरिति प्रसिद्धा । नामेति प्रसिद्धावव्ययम् ॥ सिद्धेः किपलादिभिर्निक्षिता । खे भुवोरंतव्योम्नि चरित गच्छिति चित्तं जिह्ना च यस्यां सा खेचरीत्यवयवशः सा व्युत्पादिता । उत्तेषु त्रिषु श्लोकेषु व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृही-तत्वान्न दोषाय ॥ ४१ ॥

भाषार्थ-जिससे चित्त ( अंतःकरण ) भुकुटियोंके मध्यरूप आकाशमें विचरताहै और जिह्नामी भुकुटियोंके मध्यमेंही जाकर विचरती है तिसीसे सिद्धों (किपळ आदि ) की निरूपण कींहुई यह मुद्रा खेचरी इस नामसे

प्रसिद्ध है भुकुटियों के मध्यरूप आकाशमें जिसमुद्रा के करने से चित्त और जिह्ना विचर उसे खेंचरी कहते हैं इस न्युत्पत्तिसे सिद्धोंने यह अन्वर्धमुद्रा वर्णन की है. इन पूर्वीक्त तीनों श्लोकों में न्याधिआदिकी जो पुनरुक्ति है वह इसिल्ये दूषित नहीं है कि, ये तीनों श्लोक संगृहीत (किसी के रचे हुये) हैं अर्थात् मूलके नहीं है। ४१॥

## खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः ॥ न तस्य क्षरते विंदुः कामिन्याः १लेपितस्य च॥४२॥

खेचरेंति ॥ येन योगिना खेचर्या मुद्रया लंबिकाया अर्धिमिति लंबिकोर्ध्वतः । सार्विविभक्तिकस्तिसः । लंबिका तालु तस्या अर्ध्वत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितम् । कामिन्या युवत्याश्लेषितस्यालिंगितस्यापिं। च शब्दोऽप्यथे । तस्य विदुवीर्यं न क्षरते न स्वलति ॥ ४२ ॥

आषार्थ-जिस योगीने खेचरीमुदासे छंविका (तालु) के उत्परका छिद्र ढकिल्या है कामिनीके स्पर्श करनेपरभी उस योगीका विंदु (वीर्य) क्षारित (पडता) नहीं होता अर्थात् अपने मस्तकरूप स्थानसे नहीं गिरता है॥ ४२॥

## चिलतोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम् ॥ त्रजत्यूर्द्धं हतः शक्तया निबद्धो योनिमुद्दया ॥४३॥

चिति इति ॥ चितिरिंप स्वितिरिंप विदुर्यदा यस्मिन् काले योनिमंडलं योनिस्थानं संपाप्तः संगतस्तदेव योनिमुद्रया मेट्राकुंचन-रूपया । एतेन वज्रोलीमुद्रा सूचिता । निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याकर्षणशक्त्याहतः प्रकृष्ट ऊर्ध्व वजिति । सुपुम्नामार्गेण विदु-स्थानं गच्छति ॥ ४३॥

भाषार्थ-और चळायमानहुआभी बिंदु जिससमय योनिके मंडळमें प्राप्त होजाताहै तोभी छिंगके संकोचनरूप योनिमुद्रासे अर्थात् वज्रोळीसे निरंतर बँधा- हुआ बिंहु आकर्षणशिक्तिसे खिचा हुआ सुषुमा नाडीके मार्गसे ऊर्घ्व (बिंदुके स्थानमें ) को चलाजाता है ॥ ४३॥

# अर्ध्वजिह्नः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ॥ मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥

उर्ध्वजिद्ध इति ॥ उर्ध्वालं विकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स उर्ध्वजिह्नः स्थिरो निश्चलो भूत्वा । सोमस्य लं विकोर्ध्वविवरगलित-वैद्वामृतस्य पानं सोमपानं यः पुमान् करोति । योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्ध मासार्ध तेन मासार्थन पक्षेण मृत्युं मरणं जयित अभिभवति । न संदेहः । निश्चितमेतदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

भाषार्थ-तालुके ऊपरके छिद्रके उन्मुख है जिह्ना जिसकी ऐसा जो योगी वह सोमपान करताहै अर्थात् ऊर्च्च छिद्रमेंसे गिरतेह्वये चंद्रामृतको पीताहै योगका बाता वह एकही मासाईसे अर्थात् पक्षभरसे मृत्युको जीतताहै इसमें संदेह नहीं है अर्थात् यह निश्चित है ॥ ४४ ॥

## नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ॥ तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५॥

नित्यमिति ॥ यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं सोमकलापूर्णं चंद्रकलामृतपूर्णं तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दृष्टस्य दंशितस्य बोगिनः शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरित ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—जिस योगीका शरीर नित्य ( सदैव ) चंद्रकलाख्य अमृतसे पूर्ण रहताहै तक्षक सर्वसे उसेहुयेभी उसके शरीरमें विष नहीं फैलता अर्थात् सर्वका विष नहीं चढता ॥ ४९॥

# इंघनानि यथा विह्नस्तेलवित्तं च दीपकः ॥ तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचित ॥ ४६॥

इंधनानीति ॥ यथा विहः इंधनानि काष्ठादीनि न मुंचिति दीपको दीपः तैलवित च तैलयुक्तां वित्त न मुंचिति । तथा सोमकलापूर्णं चन्द्रकलामृतपूर्णं देहं शरीरं देही जीवो न सुंचिति न त्यजति ॥ ४६॥

भाषार्थ-जैसे अपि काष्ठभादि इंधनोंको और दीपक तैष्ठ और बत्तीको नहीं त्यागतेहैं अर्थात् उनके विना नहीं रहतेहैं तैसेही देही (जीवात्मा) सीमकलासे पूर्ण देहको नहीं त्यागताहै अर्थात् सोमकलासे पूर्ण देह सदैव बना रहताहै॥ ४६॥

## गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिवेदमरवारुणीम् ॥ कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

गोमांसमिति॥ गोमांसं पारिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो भक्षयेत्रित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां पिवेत्तं योगिनम् । अहमिति वंथकारोक्तिः। कुले जातः कुलीनः तं सत्कुलोत्पन्नं मन्ये । तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते-'कृतार्थी वितरी तेन धन्यो देशः कुलं च तत् । जायते योगवान्यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ॥ दष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंपकृत्यो विवेकवान् । भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥' ब्रह्मांड-पुराणे । ' गृहस्थानां सहस्रोण वानप्रस्थशतेन च । ब्रह्मचारिसहस्रोण योगाभ्यासी विशिष्यते॥' राजयोगे वामदेवं प्रति शिववाक्यम्-'राज-योगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः। तज्ज्ञानी वसते यत्र सदेशः पुण्यभाजनम् । दर्शनाद्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः । अज्ञा मुक्तिपदं यांति कि पुनस्तत्परायणाः ॥ अंतयींगंबर्हियोगं यो जानाति विशे-पतः। त्वया मयाप्यसौ बंदाः शेपेर्वद्यस्तु किं पुनः॥ ' इति । कूर्मपुराणे ' एककालं दिकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा । ये युंजते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः ॥ ' इति । इतरे वक्ष्यमाणगोमांसभक्षणामर-वारुणीपानरिहता अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः सत्कुले जातस्य जन्मनो वैयथ्यात् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ-जो योगी प्रतिदिन गोमांस ( जो आगे कहैंगे ) को मक्षण करताहै और प्रतिदिन अमरवारुणी (जो आगे कहेंगे) को पीताहै उसकोही हम श्रेष्ठकुलमें उत्पन्न मानतेहैं अन्य संव मनुष्य कुलघातक (नाशक) हैं क्योंकि श्रेष्ठकुलमें उनका जन्म निरर्थक है सोई बहावैत्तेमें कहाहै कि, योगीके माता विता क्रतार्थ हैं और उसके देश और कुलको धन्य है जहां योगवान् पैदा होताहै और योगीको दिया दान अक्षय होताहै पुरुष और प्रकृतिका विवेकी योगीजन दर्शन, साषण, स्पर्श करनेसे मनुष्योंके कोटियों जन्मोंके पापोंसे पवित्र करतेहैं। त्रह्माण्डपुराणमें लिखाहै कि, सहस्र गृहस्थी और सौ वानप्रस्थ और सहस्र त्रह्मचारि-योंसे योगाभ्यासी अधिक होताहै और राजयोगके विषयमें वामदेवके प्रति शिवजीका वाक्य है कि, राजयोगके यथार्थ माहात्म्यको कौन जान सकताहै ? राजयोगका ज्ञानी जहां वसताहै वह देश पुण्यात्मा है इसके दर्शन और पूजनसे इकीस कुछ सहित मूर्ख भी मुक्तिके पदको प्राप्त होतेहैं. योगमें तत्पर तो क्यों न होंगे-जो अंतयोंग और बहियोंगको विशेषकर जानताहै वह मुझे और तुझेभी नमस्कार करने योग्य है और शेषमनुष्योंको बंदना करने योग्य तो क्यों न होगा । कूर्मपु-राणमें लिखाहै कि, एकसमय वा दिकालमें वा त्रिकालमें वा नित्य जो महायोगका अम्यास करते हैं वे महेश्वर ( शिव ) जानने । इन वचनोंसे योग सर्वोत्तम है॥ ४ ७॥

### गाशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥ गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८॥

गीमांसशब्दार्थमाह-गोशब्देनेति ॥ गोशब्देन गोइत्याकारकेण शब्देन गोपदेनेत्यर्थः । जिह्वा रसनोदिता कथिता । ताछनीति सामी-पिकाधारे सप्तमी । तालुसमीपोर्ध्वविवरे तस्या जिह्नायाः प्रवेशी गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तत्तु ताहशं गोमांसभक्षणं त महापातकानां स्वर्णस्तेयादीनां नाशनम् ॥ ४८॥

भाषार्थ-अव गोमांस शब्दके अधकी कहंते हैं कि, गोनदसे जिहा कही जातीहै और तालुके समीप जो ऊर्द्धित्र उसमें जो जिह्वाका प्रवेश उसको गोमांसभक्षण कहतेहैं—त्रह गोमांसभक्षण महापातकोंका नाश करनेवाला है ॥ ४८॥

#### जिह्नाप्रवेशसंभूतविह्ननोत्पादितः खळु ॥ चंद्रात्स्रवित यः सारः स स्याद्मरवारुणी ॥४९॥

अमरवारुणीशब्दार्थमाह-जिह्नेति ॥ जिह्नायाः प्रवेशो छंविकौ-ध्वेविवरे प्रवेशनं तस्मात्संभूतो यो वहिरूष्मा तेनोत्पादितो निष्पा-दितः । अत्र वहिशब्देनोष्ण्यमुपछक्ष्यते । यः सारः चंद्राद्धवोरंतर्वा-मभागस्थात्सोमात्स्रवति गछति सा अमरवारुणी स्यादमरवारुणी-पदवाच्या भवेत् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ-अब अमरवारुणी रान्द्रके अर्थको कहते हैं कि, तालुके उर्ध्व छिद्रमें जिह्नाके प्रवेशसे उत्पन्न हुई जो बह्नि (ऊष्मा ) उससे उत्पन्न हुआ जो सार चंद्रमासे झरताहै अर्थात् भुकुटियोंके मध्यमें वामभागमें स्थित चंद्रमासे बिंदु-रूप सार गिरताहै उसको अमरवारुणी कहते हैं ॥ ४९॥

चुम्बंती यदि लंबिकात्रमनिशं जिह्वारसस्पंदिनी सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा॥ व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं तस्यस्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम्॥५०॥

चुंबंतीित ॥ यदि लंविकायं लंविकोध्वंविवरं चुंबंती स्पृशन्ती ॥ अनिशं निरंतरम् ॥ अत एव रसस्य सोमकलामृतस्य स्पंदः स्पंदनं प्रस्वणमस्यामस्तीति रसस्पंदिनी यस्य जिह्वा ॥ क्षारेण लवणरसेन सहिता सक्षारा कटुकं मरिचादि आम्लं चिचाफलादि दुग्धं पयस्तैः सहशी समाना ॥ मधु क्षोद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा तथा शब्दः समुचये ॥ एतैर्विशेषणे रसस्यानेकरसत्वानमधुरत्वात्स्वग्धत्वाच जिह्वाया अपि रसस्पंदने तथात्वमुक्तम् ॥ तिर्हे तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया वृद्धावस्थाया अंतःकरणं नाशनं शस्त्राणामा- युधानामागमः स्वाभिमुखागमनं तस्योदीरणं निवारणम् ॥ अष्टो गुणा अणिमाद्यस्ते अस्य संजाता इत्यष्टगुणितममरत्वममरभावः ॥

सिद्धानामंगनाः सिद्धांगनाः सिद्धाश्चता अंगनाश्चोति वा तासामाकर्ष-णमाकर्षणशक्तिः स्यात् ॥ ५० ॥

माधार्थ-यदि रस (सोमकलाका अमृत) का स्यंदन (झरना) करने-वाली और लवणके रसके समान और मरीच आदि कटु और इमली आदि अम्ल और दूध इनके सदश और मधु (सहत) और घृत इनकी तुल्य इन सब विशेष-णोंसे रसमें अनेक रस और मधुरता और खिग्धता (चिकनाई) कही उस रसके झरनेवाली जिह्नाकोभी वैसीही कही समझना अर्थात् पूर्वोक्तप्रकारकी जिह्ना तालुके ऊपर वर्तमानिल्यका वारंवार चुंबन (स्पर्श) करे तो उस मनुष्यकी व्याधियोंका हरण और वृद्ध अवस्थाका अंत करना और सन्मुख आये शह्मका निवारण और अणिमा आदि आठ सिद्धि हैं जिसमें ऐसा अमरत्व (देवत्व) और सिद्धोंकी अंगनाओंका वा सिद्धरूप अंगनाओंका आकर्षण (बुलाना) उसको ये फल होते हैं॥ ९०॥

मूर्प्रःषोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठादूर्ध्वा-स्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चितयन् ॥ उत्कञ्जोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेन्नि-व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ५१॥

मुर्भ इति ॥ रसनां जिहां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य । कर्ध्वमुत्तानमास्यं यस्य सः । कर्ध्वास्य इत्यनेन विपरीतकरणीः मूचिता । परां शक्ति कुंडिलिनीं चितयन्ध्यायन्सन् प्राणानसाधन-भूतान् । पोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोडशपत्रं तच्च तत्पक्षं कंठस्थाने वर्तमानं तिसमन्गिलतं हठाद्धठयोगादवाप्तं प्राप्तं विमलं निर्मलं धारामयं धाराक्षपमुत्कलोलमुत्तरंगं च तत्कलाजलं सोम-कलारसं यः पुमान् पिवेत् धयेत्स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरा-दयो यस्मात्स निर्वाधिः सन् यहा निर्गता विविधा आधिर्मानसी व्यथा यस्मात्स ताहशः सन् मृणालं बिसमिव कोमलं मृदु वपुः

शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं जीवति माणान् धारयति । हटाद्धठयोगात् । प्राणात्साधनभूताद्वाप्तमिति वा योजना । प्राणीरिति कचित्पाटः ॥ ५१ ॥

भाषार्थ-जो योगी, जिह्नाको कपालके लिद्रमें लगाकर और ऊपरको मुख करके इससे विपरीत करणी सूचित की-और परमशक्ति जो कुंडलिनी उसका प्यान करताहुआ प्राणवायुके साधन और हठयोगसे प्राप्त और बोडश हैं पत्र जिसके ऐसे प्रामें मस्तकसे पतित और निर्मल और धारारूप और ऊपरको हैं तरंग जिसकी ऐसे चंद्रकलाके जलको पीताहै व्याधिसे रहित और मृणाल (भिस) के समान कोमल है वपु (देह) जिसका ऐसा वह योगी चिरकालतक जीता है।। ५१।

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्घातरस्थं तिस्म-स्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ॥ चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां तद्व-धीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥ ५२॥

यत्त्रालेयमिति ॥ मेरुवत्सवीनता सुपुन्ना मेरुस्तस्य मूर्घापरि भागस्तस्यांतरे मध्ये तिष्ठतीति मेरुमूर्धातरस्यं यत्प्रालेयं सोमकला-जलं प्रहित निहितं यिस्मस्तत्त्तथा तच्च तत्सुषिरं विवरं तिस्मिन्ववरे सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामनिभूतसत्त्वा धीर्बुद्धिर्यस्य सः । तत्त्व-मात्मतत्त्वं प्रवद्ति प्रकर्षण वद्ति । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा-व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । आत्मनो विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्य-क्तिस्तिस्मस्तत्त्विमत्युक्तम् । निम्नगानां गंगायमुनासस्वरतीनर्मदादि-शब्दवाच्यानामिडापिगलासुषुम्नागांधारीप्रभृतीनां तत्तिस्मिन्ववरे तत्समीपे मुखमप्रमस्ति चंद्रात्सोमाद्युषः शरीरस्य सारः स्रवति सरति तेन चंद्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां मृत्युर्मरणं भवति । अतो हेतोस्तत्पूर्वीदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरीमुद्राख्यं बध्नी-यात् । सुकरणे बद्धे चंद्रसारक्षवणाभावान्मृत्युर्न स्यादिति भावः अन्यथा सुकरणवंधनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धी रूपलावण्यवलवज्ञ--संहननरूपा न स्यात् ॥ ५२ ॥

भाषार्थ-मेरुके समान सबसे ऊँची जो सुपुम्ना नाडी उसके मूर्द्ध ( ऊपरके भाग ) के मध्यमें टिकाहुआ जो प्राठेय अर्थात् सोमकलाका जल है और जिसमें वह जल स्थित है ऐसा विवर ( छिद्र ) है उस विवरमें रजोगुण तमोगुणसे नहीं हुआ है तिरस्कार जिसका ऐसी बुद्धिवाळे मनुष्य आत्मतत्त्वको कहते हैं क्यों कि श्रुतिमें लिखा है कि, सुपुम्नाकी शिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित है-क्यों कि आत्मा विमु ( च्यापक ) है और खेचरीमुद्रामें उस विवरमें आत्मा प्रगट होताहै इससे उसमें तत्त्व है यह कहना ठीक है-और गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्भदा आदि राव्दोंका अर्थ जो इडा, विंगला सुपुम्ना, गांवारी आदि नाडी हैं उनके मुखभी उसी छिद्रे समीपमें हैं और चंद्रमासे जो देहका सारांश झरताहै उससेही मनुष्योंकी मृत्यु होती है तिससे शोभन करणरूप खेचरीमुद्राको वांधे (करें) क्योंकि खेचरीमुद्राके करनेसे चंद्रमासे सारके न झरनेसे मृत्यु न होगी और अन्यथा अर्थात् खेचरीमुद्राके न करनेसे देहका जो रूप, छावण्य, बल वज़के समान संहनन ( दढता ) रूपसिद्धि न होगी । भावार्थ यह है कि, जो सोमकलाका जल सुषुम्नाके मध्यमें स्थित है वह जल जिस छिद्रमें है उस छिद्रमें ही बुद्धिमान् मनुष्य परमात्माको कहतेहैं और उसी छिद्रके समीप इडा र्षिगला आदि नाडियोंका मुख है और चंद्रमासे जो देहका साग्नंश झरताहै उससे मनुष्यों की मृत्यु होतीहै तिससे खेचरी मुद्राको करै क्यों कि न करनेसे देहकी सिद्धि नहीं होसकती अर्थात् पृष्ट न होगा ॥ ९२ ॥

### सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतःसमन्वितम् ॥ तिष्ठते खेचरी सुद्रा तस्मिञ्ज्ञून्ये निरंजने ॥५३॥

सुषिरमिति ॥ पंच यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैः समन्वितं सम्यगनुगतम् ॥ "सप्तस्रोतःसमन्वितम्" इति क्राचित्पाठः । ज्ञानजन-कमलोकिकवोधितात्मसाक्षात्कारजनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन्सुपिरंडजनमविद्या तत्कार्य शोकमोहादि च निर्गतं यस्मात्तन्निरंजनं

तस्मिनिरंजने सून्ये सुषिरावकाशे खेचरी सुद्रा तिष्ठते स्थिरीभवति । 'मकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—इडा आदि नाडियोंके जो पांच स्रोत (प्रवाह) हैं उनसे युक्त जो सुषिर (छिद्र) है वह ज्ञानका उत्पादक हैं अर्थात् आत्माके प्रत्यक्षका जनक है—शोक मोह आदिसे रहित रूप निरंजन और शून्यरूप जो है उसके विषे खेचरीमुद्रा स्थिर होतीहै अर्थात् खेचरीमुद्राकी महिमासे उस छिद्रमें मनके प्रवेशसे आत्मज्ञान होताहै ॥ ५३॥

# एकं सृष्टिमयं बीजमेका सुद्रा च खेचरी।। एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी।।५१।।

एकमिति ॥ सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यम् । तदुक्तं मांडूक्योपनिषदि—'ओमित्यतदक्षरिमदं सर्वम्' इति । खेचरी मुद्रा एका मुख्या । निरालंब आलंबनशून्य एको मुख्यो देवः । आलंबनपरित्यागेनात्मनः स्वरूपावस्थानात् । उन्मन्यवस्थेका मुख्या । 'एकेम्सुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । बीजादिषु प्रणवादिवन्मुद्रासु खेचरी मुख्येत्यर्थः ॥ ५४॥

आषार्थ-सृष्टिक्त जो प्रणव (ॐ) नामका बीज है वह मुख्य है सोई मांडूक्य उपनिषद्में कहा है कि, यह संपूर्ण जगत् ॐ इस अक्षरक्तप है-और खेचरीमुद्राभी एक (मुख्य) है और निराठंव अर्थात् आठंबनशून्य देव पर-मात्मा भी एकही है—और मनोन्मनी अवस्था भी एकही है। यहां एकशब्द इस अमरके अनुसार मुख्यका बोधक है अर्थात् बीज आदिमें जैसे प्रणव मुख्य है ऐसेही मुद्राओं में खेचरीभी मुख्य है ॥ ५४॥

अथोड्डीयानबन्धः।

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥
तस्मादुङ्डीयन। रुयोऽयं योगिभिः समुदाहृतः॥५५॥
उडीयानवंधं विवश्चस्तावदुडीयानशन्दार्थमाह – बद्ध इति ॥ यतो
यस्मादेतोयेन वंधेन बद्धो निरुद्धः प्राणः सुषुम्नायां मध्यनाड्या-

मुड्डीयते सुषुम्नां विहायसा गच्छति तस्मात्कारणाद्यं वंधो योगि-भिर्मत्स्येंद्रादिभिरुड्डीयनमार्ज्याभिधा यस्य स उड्डीयनार्ज्यः समुदा-हृतः सम्यग्ज्युत्पन्योदाहृतः कथितः । सुषुम्नायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम् । उत्पूर्वात् 'डीड्-विहायसा गतो' इत्यस्मा-त्करणे ल्युद् (१) ॥ ५५ ॥

भाषार्थ-अब उड़ीयानबंधको कहनेके अभिलाषी आचार्य प्रथम उड़ीयान राष्ट्रके अर्थको कहते हैं कि, जिस बंधसे बैंधाहुआ प्राण मध्य नाडीरूप सुषुम्नाके विषे उडजाय अर्थात् आकारामेंसे सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाय तिसकारणसे यह बंद मत्स्येंद्र आदि योगियोंने उड़ीयान नामका कहा है अर्थात् सुषुम्नामें जिससे प्राण उडै इस ब्युत्पत्तिसे इसका उड़ीयान नाम रख्ला है ॥ ६९॥

#### उड्डीनं कुरुते यस्माद्विश्रांतं महाखगः ॥ उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंघोऽभिघीयते ॥ ५६ ॥

उड्डीनमिति ॥ महांश्रासी खगश्च महाखगः प्राणः । सर्वद्रा देहावकाशे गतिमत्त्वात् । यस्माद्धंधादविश्रांतं यथा स्यात्तधोड्डीनं विहंगमर्गातं कुरुते । सुषुष्त्रायामित्यध्याहार्यम् । तदेव वंधविशेषसु-डीयानसुडीयाननामकं स्यात् । तत्र तस्मिन्विषये वंधोऽभिधीयते वंधस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः ॥ ५६ ॥

आजार्थ—सदैव देहके अवकाशमें गति है जिसकी ऐसा महाखगरूप प्राण जिस बंधसे निरंतर उड्डीन (पक्षीके समान गति) को सुपुम्नामें करताहै बही बंध उड्डीयान नामका होताहै उसमें में बंधके स्वरूपको कहताहूं॥ ६३॥

### उद्रे पश्चिमं तानं नाभेह्रध्वं च कारयेत्॥ उड्डीयानो झसौ बंघो मृत्युमातंगकेसरी॥५७॥

उड्डीयानवंधमाह-उद्र इति ॥ उद्रे तुंदे नाभेरूव्यं चकाराद्धः उपरिभागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं पश्चिममाकर्षणं नाभेरूव्याधो भागो यथा पृष्ठसंलग्नो स्यातां तथा तानं ताननं नामाकर्षणं कार्ये- रक्कर्यात् । णिजयॉऽविवक्षितः । असौ नाभेरूर्ध्वाधोभागयोस्ताननरूप उड्डीयान उड्डीयानाच्यो बंधः । कीदृशः मृत्युरेव मातंगो गजस्तस्य केसरी सिंहः सिंह इव निवर्तकः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—उदर (पेटके तुंद) में नामिके ऊपर और नीचे पश्चिम तान करें अर्थात् नामिके ऊपरके और निचले भागको इसप्रकार तान (आकर्षण) करें जैसे वे दोनों भाग पृष्ठमें लगजांय यह नामिके ऊर्ष्य अधोभागका तान उड़ी-यान नामका बंध होताहै और यह बंध मृत्युरूप हस्तीको केसरी है अर्थात् नाशक है ॥ ५७॥

#### उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥ अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥

उड़ीयानं त्विति ॥ गुरुहितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड़ीयानं तु सदा सर्वदा सहजं स्वाभाविकं काथितं प्राणस्य बहिर्गमनम् । सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात् । यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरंतरमभ्यसेत् । उड्डीयान-मित्यत्रापि संबध्यते । स तु वृद्धोऽपि स्थिबरोऽपि तरुणायते तरुणा इवाचरति तरुणायते ॥ ५८ ॥

आषार्थ-हितके उपदेष्टा गुरुने उड्डीयान सदैव स्वाभाविक कहाहै अर्थात् प्राणका बहिर्गमन स्वभावसे सबको होताहै परंतु जो पुरुव इसका निरं-तर अभ्यास करताहै बद्धभी वह तरुण (युवा) के समान आचरण करताहै ॥९८॥

#### नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥ षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥

नाभेरिति ॥ नाभेरूर्धमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात्प्रयत्नतः । यत्निविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात् । पूर्वीर्धनोद्धीयानस्वरूपमुक्तम् । अथ तत्प्रशंसा । षण्मासं षण्मासपर्यतम् । उद्घीयानमित्यध्याहारः । अभ्यसेत्पुनःपुनरनुतिष्ठेतस्य मृत्युं जयत्येव संशयो न । अत्र संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

आषार्थ—नाभिके ऊपर और नीचे भछीप्रकार यत्नसे तान करे अर्थात् यत्न विशेषसे पश्चिमतान करे और षण्मास ( छ:मास ) पर्यंत इस उड्डीयानबंधका वारुंबार अभ्यास करे तो मृत्युको जीतताहै इसमें संशय नहीं है ॥ ९९ ॥

#### सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो खुडियानकः ॥ उडियाने हटे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्६०॥

सर्वेषामिति ॥ सर्वेषां वंधानां मध्ये उड्डीयानकः उड्डीयानवंध एव । स्वार्थे कप्रत्ययः । उत्तमः उत्कृष्टः हि यस्माद्विद्धयाने वंधे दृढे सति स्वाभाविकी स्वभाविसिद्धेव मुक्तिभवेत् । उड्डीयानवंधे कृते विदंगमगत्या सुषुम्नायां प्राणस्य मूर्धिन गमनात् । 'समाधी मोक्ष-मामाति' इति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः ॥ ६०॥

आषार्थ-संपूर्ण बंघोंके मध्यमें उड़ीयान बंघ उत्तम है, क्योंकि उड़ीयान बंघके दृढ होनेपर स्वाभाविकी मुक्ति होती है अर्थात् उड़ीयान बंघके करानेसे पक्षीके समान गतिसे सुपुम्नाविषे प्राण मस्तकमें चलाजाताहै उस समाधिमें इस वाक्यके अनुसार अनायाससे मुक्ति होजाती है।। ६०॥

#### अथ मूलबंधः ।

#### पार्षिणभागेन संपीडच योनिमाकुंचयेद्भद्म् ॥ अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

मूलवंधमाह-पार्ष्णिभागेनित ॥ पार्ष्णभागो गुल्फयोरधः प्रदेश्वास्तेन योनि योनिस्थानं गुद्मेद्रयोमध्यभागं संपीडच सम्यक् पीडियिता गुदं पायुमाकुंचयेत्संकोचयेत् । अपानमधोगति वायुमूर्ध्व- मुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा मूलवंधोऽभिधीयते कथ्यते । पार्ष्णिभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुद्स्याकुंचनं मूलवंध इत्युच्यत इत्यर्थः ६१॥

भाषार्थ-अब मूलबंत्रमुद्राका वर्णन करतेहैं कि, पार्षणके भाग (गुल्फोंका अधः प्रदेश) से योनिस्थानको अर्थात् गुदा और छिगके मध्यभागको भलीप्रकार पीडित (दबा) करके गुदाका संकोच करै और अपान वायुका जपरको

आकर्षण करै यह मूळबंधक होताहै ऐसा योगशास्त्रको जानने वाले आचार्य कहतेहैं॥ ६१॥

# अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्॥ आकुंचनेन तं प्राहुर्पूलबंधं हि योगिनः॥ ६२॥

अधोगितिमिति ॥ यः अधोगितिम् अधोऽर्वागितिरस्य स तथा तमपानमपानवायुमार्कुचनेन मूलाधारस्य संकोचनेन बलाद्धठादूर्ध्व गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वगं सुषुम्नायामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वे इति निश्चयेऽञ्ययम् । योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलवंधं मूलस्य मूलस्था-नस्य वंधनं मूलवन्धस्तं मूलवंधमित्यन्वर्थं प्राहुः । अनेन मूलवंधशब्दार्थं उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य बंधनप्रकार उक्त इत्यपीनस्त्त्यम् ॥ ६२ ॥

भाषार्थ—जो बंध अधः (नीचेको ) गति है जिसकी ऐसे अपान वायुको बळसे उर्ध्वगामी करता है अर्धात् जिसके करनेसे अपान सुष्टुम्नामें पहुँच जाता है योगके अभ्यासी उस बंधको मूळबंध कहते हैं अर्थात् मूळस्थानका जिससे बंधन हो वह मूळबंध अन्वर्थनामसे कहाताहै इस स्रोकसे मूळबंध राज्दका अर्थ कहा और पिछळे स्रोकसे बंधनका प्रकार कहा है इससे पुनरुक्तिदोष नहीं है॥ १ २॥

## गुदं पाष्प्यी तु संपीडच वायुमाकुंचयेद्वलात् ॥ वारं वारं यथा चोध्वं समायाति समीरणः ॥६३॥

अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबंधमाह—गुद्मिति ॥ पाष्ण्योर्गुल्फ-योरधोभागेन गुदं वायुं संपीडच सम्यक् पीडियत्वा संयोज्येत्यर्थः । तुदाब्दः पूर्वस्मादस्य विशेषत्वद्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुरूर्ध्व सुषुम्नाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद्वारंवारं पुनःपुनर्वायुमपानमाकुंचयेद्वदस्याकुंचनेनाकर्षयेत् । अयं मूलबंध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

भाषार्थ-अब यौगबीजमें कहीं हुई री तसे मुखबंधको कहते हैं कि, पार्थिणसे गुदाको भलीप्रकार पीडित करके वायुको बलसे इसप्रकार वारंवार आकर्षण करे जैसे वो सुषुम्नाके ऊपरले भागमें पहुंचजाय यह मूलवंघ कहाताहै इस स्रोकमें तु यह राव्द पिछले मूलवंधसे विशेष जतानेके लिये हैं ॥ ६६॥

### प्राणापानौ नाद्विंदू मूलवंधेन चैकताम् ॥ गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः६४॥

अथ मूलवंधगुणानाह-प्राणापाना विति ॥ प्राणश्चापानश्च प्राणापानावृध्वधोगती वायू । नादोऽनाहतध्वनिः विदुरनुस्वारस्ती मूलवंधनेकतां गत्वेकीभूय योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां योगसं-सिद्धि यच्छतो ददतः । अभ्यासिन इति शेषः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न । संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः । मूलवंधे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविश्चति । ततो नादाभिध्यक्तिर्भवति ततो नादेन सह प्राणापानो हृदयोपिर गत्वा नादस्य विदुना सहैक्यं विदु-नाधाय मूर्धिन गच्छतः, ततो योगसिद्धः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—अब मूळबंधके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, नीचेको है गति जिनकी ऐसे प्राण और अपान दोनों वायु और अनाहत (स्वामाविक) ध्वनि और बिंदु (अनुस्वार) ये दोनों मूळबंधसे एकताको प्राप्त होकर योगाभ्यासीको योगकी सिद्धिको भळीप्रकार देते हैं इसमें संशय नहीं है. तात्पर्य यह है कि, मूळबंधके करनेसे अपान प्राणके संग एकताको प्राप्त होकर सुष्ठमामें प्रविष्ट होजा-ताहै फिर नादकी प्रकटता होतीहै फिर नादके संग प्राण अपान हृदयके ऊपर जाकर और नादके संग बिंदुकी एकताको करके मस्तकमें चले जाते हैं फिर योगसिद्धि होजाती है ॥ ६४॥

#### अपानप्राणयोरेक्यं क्षयो मूत्रपूरीषयोः ॥ युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥ ६५ ॥

अपानप्राणयोरिति ॥ सततं मूलवंधनान्मूलवंधमुद्राकरणाद्पान-प्राणयोरेवयं भवति । मूत्रपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति । चृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥ भाषार्थ-निरंतर मूळबंधमुद्राके करनेसे अपान और प्राणकी एकता और देहमें संचितहुये मूत्र और मळका क्षय होताहै तिससे वृद्धभी मनुष्य युवा होजाताहै ॥ १९॥

अपाने उर्द्धगे जाते प्रयाते विह्नमंडलम् ॥ तद्राऽनलिशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥६६॥

अपान इति ॥ मूलवंधनादपाने अधोगमनशीले वाशो ऊर्ध्वं ऊर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तिस्मन्तादृशे सित विह्नमंडलं वहेर्मण्डलं त्रिकोणं नाभेरधोभागेऽस्ति । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन—'देहमध्ये शिखिस्थानं तप्त-जांबृनद्मभम् । त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरसं चतुष्पदाम् ॥ मंडलं तु पतंगानां सत्यमेतद्ववीमि ते । तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठाति पावके ॥' इति । तदा तस्मिन्काले वायुना अपानेनाहता संगता सत्यनलशिखा जठरागिशिखा दीर्घा आयता जायते । 'वर्धते' इति कचित्पाठः ॥ ६६ ॥

आषार्थ—मूलवंधकरनेसे अधोगामी अपान जब ऊर्ज्यामी होकर अभिमं-ढलमें पहुँच जाताहै अर्थात् नाभिके अधोभागमें वर्तमान त्रिकोण जठरामिके मंडलमें प्रविष्ट होजाता है उससयय अपानवायुसे ताडित की हुई जो जठरामिकी शिखा है वह दीर्घ होजातीहै अर्थात् बढजातीहै सो याज्ञवल्क्यने कहाहै कि, तपाये हुये सुवर्णके समान अभिका स्थान मनुष्योंके देहके मध्यमें त्रिकोण और पशु-औंके देहमें चतुष्कोण है और पक्षियोंके देहमें गोल है यह आपके प्रति मैं सत्य कहताहूँ और अभिके मध्यमें सदैव सूक्ष्म शिखा टिकतीहै ॥ ६६॥

ततो यातो वह्नचपानौ प्राणमुज्णस्वरूपकम् ॥ तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७ ॥

तत इति ॥ ततस्तदनंतरं विद्यापानश्च वहचपानी । उण्णं स्वक्रपं यस्य स तथा तमनलं शिखादैष्यादुष्णस्वक्रपं प्राणमूर्ध्वगति-मनिलं यातो गच्छतः । ततोऽनलाशिखादैष्यादुष्णस्वक्रपकादिति वा योजना । तेन प्राणसंगमनेन देहे जातो देहजो ज्वलनोऽप्रिरत्यंतमधिकं दीप्तो भवति । तथोति पादपूरणे । अपानस्योध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः माणसंगत्याऽत्यंतं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

आषार्थ—िकर अमि और अपान ये दोनों अमिकी दीर्घ शिखासे उष्णरूप हुये ऊर्ष्वगति प्राणमें पहुँच जातेहैं तिस प्राणवायुके समागमसे देहमें उत्पन्न हुई जठरामि अत्यंत प्रज्वित होजाती है अर्थात् अपानको ऊर्ष्वगतिसे दीप्त हुई अमि अत्यंत प्रदीस होजातीहै ॥ ६७॥

#### तेन कुंडलिनी सुप्ता संत्रप्ता संप्रबुध्यते ॥ दंडाहता सुजंगीव निश्वस्य ऋजतां व्रजेत्॥ ६८॥

तिनेति ॥ तेन ज्वलनस्यात्यंतं प्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निदिता कुंडलिनी शाक्तिः संपबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति । दंडेनाहता दंडाहता चासौ भुजंगीव सिर्पणीव निश्वस्य निश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेद्रच्छेत् ॥ ६८ ॥

भाषार्थ—तिस अग्निके अत्यंत दीपनसे भलीप्रकार तपायमान हुई कुंडिलिनी शक्ति इसप्रकार भलीप्रकारसे प्रबुद्ध होजातीहै और कोमल होजाती है जैसे दंडसे हतीहुई सर्पिणी कोमल होजातीहै ॥ ६८॥

#### बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाडचंतरं व्रजेत् ॥ तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ६९॥

बिलं प्रविष्टिति ॥ ततो ऋजुताप्राप्त्यनंतरं विलं विवरं प्रविष्टा भुजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्ना तस्या अंतरं मध्यं गच्छेत्तस्माद्धेतोयी-गिभियोगाभ्यासिभिर्मूलबंधो नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिनकाले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः ॥ ६९ ॥

भाषार्थ—उसके अनंतर बिलमें प्रविष्ट सर्पिणीके समान ब्रह्मनाडी (सुषुम्ना) के पश्यमें कुंडलिनी प्रविष्ट होजाती है तिससे योगाम्यासियोंको मूलबंध प्रतिदिन करने योग्यहै ॥ ६९॥

### कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेचिबुकं हृदम् ॥ बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥७०॥

जालंधरबंधमाह-कंठिमिति ॥ कंठे गले विलमाकुंच्य हृद्ये वक्षःसमीपे चतुरंगुलांतरितप्रदेशे चित्रुकं हनुं हढं स्थिरं स्थापयेत् स्थितं कुर्यात् । अयं कंठाकुंचनपूर्वकं चतुरंगुलांतरितहद्यसमीपेऽधो-नमनयत्नपूर्वकं चित्रुकस्थापनरूपो जालंधर इत्याख्यायत इति जालंधराख्यो जालंधरनामा बंधः । कीहशः १ जरा वृद्धावस्था मृत्युर्भरणं तयोविनाशको विशेषण नाशयतीति विनाशको विनाशकर्ता ॥ ७० ॥

भाषार्थ-अब जालंधरबंधको कहते हैं कि, कंठके बिलका संकोच करके विश्वः स्थिलके समीवरूप इदयमें चार अंगुलके अंतरपर चिबुक ( ठोडी ) को इढरीतिसे स्थापन करें, कंठके आकुंचनपूर्वक चार अंगुलके अंतरपर इदयके समी-पमें नीचेको नमनपूर्वक चिबुकका स्थापनरूप यह जालंधर नामका बंध कहाहै और यह बंध जरा और मृत्युका विनाशक है ॥ ७०॥

# बधाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ॥ ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौचनाशनः ॥ ७१॥

जालंधरपदस्यार्थमाह—बध्नातिति॥ हि यस्माच्छिराणां नाडीनां जालं समुदायं बञ्जाति । अधो गंतुं शीलमस्येत्यधोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलमसृतं च बञ्जाति प्रतिबञ्जाति। ततस्तस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बंधः जालं दशाजालं जलानां समृहो जालं धरतीति जालंधरः । कीहशः कंठे गलपदेशे यो दुःखौधो विकार-जातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता॥ ७१॥

भाषार्थ-अब जालंधरपदके अर्थको कहतेहैं कि, जिससे यह बंध शिरा-(नाडी) ओंके समूहरूप जालको बाँधताहै और कपालके छिद्ररूप नभका जो जल है उसका प्रतिबंध करताहै तिससे यह जालंधर नामका अन्वर्ध बंध जालंधरबंध कहाताहै क्योंकि जाल नाम समुदाय और जलोंके समूहको कहतेहैं और यह जालंधरबंध कंठमें जो दुःखोंका समूह है उसका नाशक है॥ ७१॥

#### जालंघरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ॥ न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥

जालंघरगुणानाह—जालंधर इति ॥ कंठस्य गलविलस्य संको-चनं संकोच आकुंचनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कंठसंकोचलक्षणः तिस्मिन् ताहरो जालंघरे जालंघरसंज्ञके वंघे कृते सित पीयूषमसृत-मग्नो जाठरेऽनले न पतित न सरित । वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति नाडचंतरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

आषार्थ—अब जालंघरबंघके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, कंठका संकोच है स्वरूप जिसका ऐसे जालघरबंघके करनेपर पूर्वीक्त अमृत जठरामिमें नहीं पडताहै और वायुकामी कोप नहीं होता अर्थात् अन्य नाडियोंमें वायुका गमन नहीं होताहै ॥ ७२॥

### कंठसंकोचनेनैव द्वे नाडचौ स्तंभयेहृढम् ॥ मध्यचकिमदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम् ॥ ७३॥

कंठसंकोचनेनित ॥ दृढं गाढं कंठसंकोचनेनेव कंठसंकोचनमात्रेण द्वे नाडचौ इडापिंगले स्तंभयेदयं जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः । इदं कंठस्थाने स्थितं विद्युद्धाख्यं चकं मध्यचकं मध्यमं चकं
त्रियम् । कीदृशं षोडशाधारवंधनं षोडशसंख्याका ये आधारा अंग्रष्ठाधारादिब्रह्मरंध्रांतास्तेषां वंधनं वंधनकारकम् । 'अंग्रुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीिलंगनाभयः । हृद्रीवा कंठदेशश्च लंबिका नासिका तथा ॥
भूमध्यं च ललाटं च मुर्धा च ब्रह्मरंध्रकम् । एते हि षोडशाधाराः
कथिता योगिपुंगवैः ॥' तेष्वाधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धांतादवगंतव्यः ॥ ७३॥

भाषार्थ—यह जालंबरबंध दृढतासे कंठके संकोच करनेसेही इडा पिंगलारूप दोनों नाडियोंका स्तंभन करताहै और कंठस्थानमें स्थित इन सोलह आधारोंका बंधन करनेवाला मध्य चंक (विद्युद्धनाम) जानना। अंगुष्ट, गुल्फ, जानु, ऊरु, सीविनी, लिंग, नाभि, हृदय, ग्रीवा, कंठदेश, लंबिका, नासिका, भुकटियौंका मध्य, मस्तक, मुर्द्धी, ब्रह्मरंध्र योगियोंमें श्रेष्ठोंने ये शोलह आधार कहे हैं इन आधा-रोमें धारणाका फल विशेष तो गोरक्षसिद्धांत ग्रंथसे जानना ॥ ७३॥

#### मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत् ॥ इडां च पिंगलां बद्धा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥७८॥

उक्तस्य बंधत्रयस्योपयोगमाह-मृलस्थानमिति ॥ मूलस्थान-माधारमूतमाधारस्थानं समाकुंच्य सम्यगाकुंच्य उड्डियानं नाभेः पश्चिमतानरूपं बंधं कारयेत्कुर्यात् । णिजथोंऽविविक्षतः । इडां पिंगलां गंगां यमुनां च बद्धा । जालंधरबंधेनेत्यर्थः । 'कंठसंकोचनेनैव दे नाडचौ स्तंभयेत्' इत्युक्तेः । पश्चिमे पथि सुषुम्नामार्गे वाहयेद्गमये-त्माणिमिति शेषः ॥ ७४॥

भाषार्थ-अब पूर्वोक्त तीनों बंधोंके उपयोगका वर्णन करते हैं कि मूळस्थानको अर्थात् आधारमूत आधारस्थानका मळीप्रकार संकोच करके नाभिके पश्चिमता-नरूप उड्डीयानबंधको करें और जाळधरबंधसे अर्थात् कंटके संकोचसेही इडा और पिंगळारूप दोनों नाडियोंको स्तमन करें फिर प्राणको पश्चिममार्गमें (सुषु-स्नामें ) प्राप्त करें ॥ ७४ ॥

#### अनेनेव विधानेन प्रयाति पवनालयम् ॥ ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५॥

अनेनेति ॥ अनेनेवोक्तेनेव विधानेन पवनः प्राणो लयं स्थैर्य प्रयाति । गत्यभावपूर्वकं रंध्रे स्थितिः प्राणस्य लयः । ततः प्राणस्य लयानमृत्युर्जरारोगादिकम् । तथा चार्थं । न जायते नोद्भवति । आदिपदेन वलीपलिततंद्रालस्यादि याह्यम् ॥ ७५ ॥

भाषार्थ-इस पूर्वोक्त विधानसेही प्राण लय (स्थिरता) को प्राप्त हो जाता है, गमनकी निवृत्ति होनेपर ब्रह्मरंघ्रमें स्थितिही प्राणका लय होताहै उस प्राणके लयसे मृत्यु, जरा, रोग और आदिपदसे वलीपलित, तंद्रा, आलस्य आदि नहीं होतेहैं ॥ ७५ ॥

#### वंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धेश्च सेवितम् ॥ सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥७६॥

बंधत्रयमिति ॥ इदं पूर्वोक्तं बंधत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारवंधेऽतिप्र-शस्तं महासिद्धेर्मत्स्येंद्रादिभिश्वकाराद्वसिष्ठादिमुनिभिः सेवितं सर्वेषां इठतंत्राणां हठोपायानां साधनं सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाद्या विदुर्जानांते ॥ ७६ ॥

आषार्थ—ये पूर्वीक्त तीनों बंध श्रेष्ठ हैं अथीत् षोडशाधार बंधमें अत्यंत उत्तम है और मत्स्येंद्र भादि योगिजन और विसष्ठ आदि मुनियोंके सेवित हैं और संपूर्ण जो हठयोगके उपाय हैं उनका साधन हैं यह बात गोरक्ष आदि योगीजन जानतेहैं॥ ७६॥

#### यतिकचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः॥ तत्सर्वं यसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः॥ ७७॥

विपरीतकरणीं विवश्चस्तदुपोद्धातत्वेन पिंडस्य जराकरणं तावदाह— यत्किचिदिति ॥ दिञ्यमुत्कृष्टं सुधामयं रूपं यस्य स तथा तस्मा-हिञ्यरूपिणश्चंद्वात्सोमात्तालुमूलस्थाद्यत्किचिद्यात्कमप्यमृतं पीयूषं स्न-वते पतित तत्सर्व सर्व तत्पीयूषं सूर्यो नाभिस्थोऽनलात्मकः यसते यासीकरोति । तदुक्तं गोरक्षनाथेन—'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः । अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चंद्रमाः ॥ वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो यसत्यूर्ध्वमुखो रिवः । करणं तच कर्वव्यं येन पीयूषमाप्यते ॥' इति । तेन सूर्यकर्तृकामृतयसनेन पिंडो देहो जरा-युतः जरसा युक्तो भवति ॥ ७७ ॥

भाषार्थ—अब विपरीत करणीके कथनका अभिटाषी आचार्य प्रथम उसके उपोद्धातक्रप होनेसे पिंडके जराकरणका वर्णन करतेहैं कि, दिन्य (सर्वोत्तम) सुधामय हैं रूप जिसमें ऐसे तालुके मूलमें स्थित चंद्रमासे जो कुछ अमृत झरताहै उस संपूर्ण अमृतको नाभिमें स्थित अभिक्रप सूर्य प्रस लेताहै सोई गोरक्षनाथने

कहा है कि, नाभिके देशमें अग्निरूप सूर्य स्थित है और तालुके मूलमें अमृतरूप चंद्रमा स्थित है अधोमुख होकर चंद्रमा जिस अमृतको वर्षताहै और ऊर्घ्यमुख होकर सूर्य उस अमृतको प्रस लेताहै उसमें वह करण ( मुद्रा ) करना चाहिये जिससे अमृतको नष्टता न हो अर्थात् पृष्टि रहे फिर सूर्यके किये उस अमृतके प्रसनेसे बिंदु ( देह ) वृद्ध अवस्थासे युक्त हो नाताहै ॥ ७७ ॥

# तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम् ॥ गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८॥

तत्रिति ॥ तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य मुखं वंच्यतेऽ-नेनेति तादृशं दिव्यमुत्तमं करणं वक्ष्यमाणमुद्राख्यमस्ति तद्वरूपदेशतः गुरूपदेशाज्ज्ञेयं ज्ञातुं शक्यम् । शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव ज्ञातुं शक्यम् ॥ ७८ ॥

भाषार्थ-उस अमृतकी रक्षा करनेमें जिसे सूर्यके मुखकी वंचना होय ऐसा आगे कहनेयोग्य मुद्रारूप करण है और वह करण गुरुके उपदेशसे जानने योग्य है और कोटियों शास्त्रोंके अर्थसे जाननेको शक्य नहीं है ॥ ७८॥

#### ऊर्द्धं नाभरधस्तालोरूर्द्धं भानुरधः शशी॥ करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते॥ ७९॥

विपरीतकरणीमाह—ऊर्ध्व नाभिरिति ॥ ऊर्ध्वमुपरिभागे नाभियस्य स ऊर्ध्वनाभिस्तस्योध्वनाभेरधः अधोभागे तालु तालुस्थानं यस्य
सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालोयोगिन ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्द्हनात्मकः
स्यो भवति । अधः अधोभागे श्राश्यमृतात्मा चंद्रो भवति । प्रथमांतपाठे तु यदा ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुयोगी भवति तदोध्वं भानुरधः शशी
भवति । यदातदापद्योरध्याहारेणान्वयः । इयं विपरीताख्या विपरीतनामिका करणी । ऊर्द्धाधःस्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्धकरणेनान्वर्था
ग्रुस्वाक्येन गुरोर्वाक्येनैव लभ्यते पाप्यते नान्यथा ॥ ७९ ॥

भाषार्थ-अब विपरीतकरणीमुद्राके स्वरूपका वर्णन करतेहैं कि ऊपरके भागमें है नाभि जिसके और अधीमागमें है ताछ जिसके ऐसा जो योगी उसके ऊपरके भागमें तो अग्निह्नप सूर्य होजाय और अधोभागमें अमृतह्नप चंद्रमा होजाय और जब 'ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुः ' यह प्रथमांत पाठ है तब यदा तदा पदोंके अध्याहारसे इसमकार अन्वय करना कि, जब ऊपरके भागमें नाभि और नीचेके भागमें तालु जिसके ऐसा योगी होजाय तब ऊपर सूर्य और नीचे चंद्रमा होजातेहैं यह विपरीत (उल्टी) नामकी करणी ऊपर और नीचे स्थित जो चंद्रमा सूर्य है उनके नीचे ऊपर कमसे करनेसे अन्वर्थ है अर्थात् विपरीतकरणीका अर्थ तभी घटसकताहै जब पूर्वित मुद्रा कीजाय और यह विरीतकरणी गुरुके वाक्यसे मिल सक्तीहै अन्यथा नहीं ॥ ७९॥

#### नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ॥ आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च॥८०॥

नित्यामिति ॥ नित्यं प्रातिदिनमभ्यासोऽभ्यसनं तस्मिन् युक्तस्याव-हितस्य जठराप्रिरुद्राग्निस्तस्य विवधिनी विशेषेण विधिनीति विपरी-तकरणीविशेषणम् । तस्य साधकस्य विपरीतकरण्यभ्यासिन आहारो भोजनं बहुलो यथेच्छः संपाद्यः संपादनीयः । च पादपूरणे ॥ ८०॥

भाषार्थ-प्रतिदिनके अभ्यासमें युक्त जो योगी है उसकी जठरामिको यह विपरीतकरणी बढातीहै और इसीसे उस विपरीतकरणीके अभ्यासी योगीको यथेच्छ अधिक भोजन संपादन करनेयोग्य है अर्थात् अल्पभोजन न करे ॥ ८०॥

### अल्पाहारो यदि भवेदिमिद्हित तत्क्षणात् ॥ अधःशिराश्चोर्द्धपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥८१॥

अल्पाहार इति ॥ यद्यल्पाहारः अल्पो भोक्तुमिष्टान्नस्याहारो भोजनं यस्य ताहशो भवेत्स्यात्तदाऽग्निर्जठरानलो देहं क्षणमात्रादहेत् । शीघं दहेदित्यर्थः । उद्याधःस्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधउद्यंकरणिकया-माह—अधःशिरा इति । अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधः-शिराः कराभ्यां कटिपदेशमवलं वाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यताभ्यां बाहुभ्यां स्कंधाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागाभ्यां च भूमिमवष्ट- भ्याधःशिरा भवेत् । ऊर्ध्वसुपर्यंतरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः मथमदिने आरंभदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् ॥ ८१ ॥

भाषार्थ—क्योंकि, यदि विपरीतकरणीका अभ्यासी योगी अल्पाहारी हो अर्थात् अल्पमोजन कियाजाताहै तो जठरामि उसी क्षणमात्रमें देहको भस्म करदेतीहैं। अब ऊपर नीचे स्थित चंद्रमा सूर्यके नीचे ऊपर करनेकी कियाको कहतेहैं कि, प्रथम दिनमें क्षणभर नीचेको शिर करै अर्थात् भुजा दोनों स्कंघ गछ और शिर षृष्ठभाग (पीठ) से भूमिका स्पर्श करके नीचे शिर किये स्थित हो और ऊपरको पाद करै अर्थात् प्रारंभके दिन क्षणमात्र इसप्रकार स्थित रहै॥८१॥

#### क्षणाच किंचिद्धिकमभ्यसेच दिने दिने ॥ वितं पिलतं चैव पण्मासोर्द्धं न दृश्यते ॥ याममात्रं तुयो नित्यमभ्यसेत्स तुकालजित्दर्श।

क्षणादिति ॥ दिनेदिने प्रतिदिनं क्षणार्तिकचिद्धिकं द्विक्षणं त्रिक्षणम् एकदिनवृद्धचाऽभ्यसेदभ्यासं क्षयात् ॥ विपरीतकरणीगुणानाह—विक्तिमिति ॥ विक्तं चर्मसंकोचः पित्तं केशेषु शौक्लयं च, पण्णां मासानां समाहारः पण्मासं तस्मादृध्वमुपिर नेव दृश्यते नेवा-विक्रोक्यते । साधकस्य देह इति वाक्याध्याहारः ॥ यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत् । एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबंधकत्व-मि स्चितम् । तदुक्तं विष्णुधर्मे—'स्वदेहारंभकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः । यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षणम्' ॥ इति । विद्यारण्येगि जीवन्मुक्ताद्यक्तम्—'यथा प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानात्प्रबर्शं तथा तस्माद्पि कर्मणो योगाभ्यासः प्रवलः । अत एव योगिना-मुद्दालकवीतह्व्यादीनां स्वेच्छ्या देहत्याग उपपद्यतः' इति । भागवतेऽ-प्युक्तम्—'देहं जह्यात्समाधिना' इति ॥ ८२ ॥

भाषार्थ-फिर प्रतिदिन क्षणसे कुछ २ अधिक अभ्यास करे अर्थात दो क्षण, तीन क्षण, काछ एक २ दिनकी वृद्धिसे अभ्यासको बढाता रहे. अब

विपरीतकरणीके गुणोंको कहते हैं कि, पूर्वोक्त प्रकारके करनेसे वछीपछित छः मासके अनंतर नहीं दीखतेहैं अर्थात् यौवन अवस्था होजाती है और जो साधक प्रतिदिन प्रहरमात्र अभ्यास करताहै वह मृत्युको जीतताहै, इससे यहभी सूचित किया कि, योग प्रारब्धमर्ककाभी पतिबंधक है सोई विष्णुधर्ममें कहा है कि, अपने देहके आरंभककर्मकाभी नाशक जो योग है हे पृथ्वीपाछ ! उस योगको तू सुन और विद्यारण्यने जीवन्मुक्तिप्रंथमें यह कहा है कि, तत्त्वज्ञानसे प्रारब्धकर्म जैसे प्रबल है ऐसेही प्रारच्धकर्मसे योगाम्यास प्रवल है इसीसे उदालक, वीतहन्य आदि योगियोंने अपनी इच्छासे देहका त्याग किया, भागवतमेंभी लिखा है कि, समा-धिसे देहको त्यागै ॥ ८२ ॥

#### अथ वजोली।

### स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैनियमैविना॥ वज्रोलि यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ८३॥

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनियतुमादौ तत्फलमाह-स्वेच्छयेति ॥ योऽ-भ्यासी बजोलीं बजोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे योगशास्त्रे उक्ता योगोक्तास्तैयोगोक्तीनयमैर्बसचर्या-दिभिर्विना ऋते खेच्छया निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरत्नपि सिद्धि-भाजनं सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

भाषार्थ-वजोलीमुदाकी प्रवृत्तिको उत्पन्न करनेके लिये प्रथम वजोलीके फलका वर्णन करते हैं कि, जो योगाम्यासी वज्रोलीमुद्राको अपने अनुभवसे जानता है वह योगी योगशास्त्रमें कहेडुये नियमोंके विना अपनी इच्छाके अनुसार व्यवहार करताहुआभी अणिमा आदि सिद्धियोंका भोक्ता है अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि नियमोंके विनामी उसको सिद्धि प्राप्त होती है॥ ८३॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ॥ क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४॥ तत्साधनोषयोगि वस्तुद्वयमाह—तत्रेति ॥ तत्र वज्रोल्यभ्यासे वस्तुनोईयं वस्तुद्वयं वक्ष्ये कथिष्वये । कीदृशं वस्तुद्वयं यस्यकस्याचित् यस्यकस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं दुःखेन लब्धं शक्यं दुःखेनापि लब्धु-मशक्यामिति वा । 'दुःस्यात्कष्टनिषेधयोः' इति कोशात् ॥ किं तद्व-स्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह—क्षीरमिति । एकं वस्तु क्षीरं पानार्थं मेहनानं-तर्रमिद्वियनेर्वल्यात्तद्वलार्थं क्षीरपानं युक्तम् । केचिन्न अभ्यासकाले आकर्षणार्थमित्याहुः । तस्यांतर्गतस्य धनीभावे निर्गमनासंभवात्तद्व-युक्तम् । द्वितीयं तु वस्तु वशवर्तिनी स्वाधीना नारी वनिता ॥ ८४ ॥

भाषार्थ-अब बज़ोलीमुद्राके साधक दो वस्तुओंका वर्णन करते हैं कि, उस वज़ोलीकी सिद्धिमें जिसकिसी निर्धन पुरुषको दुर्लभ जो दो वस्तु हैं उनको मैं कहताहूं उन दोनोंमें एक दूध है और दूसरी वशवर्तिनी नारी है अर्थात् मैध-नके अनंतर निर्बल हुई इंद्रियोंकी प्रबलताके लिये दूधका पान योग्य है और कोई यह कहते हैं कि, अभ्यासकालमें आकर्षणके लिये दूधका पान उत्तम है सो ठीक नहीं, क्योंकि अंतगर्त हुए दूधका आकर्षण नहीं हो सकता है ॥ ८४ ॥

#### मेहनेन शनैः सम्यग्ध्वीकुंचनमभ्यसेत् ॥ पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाग्रुयात् ॥८५॥

वज्ञोलीमुद्रापकारमाह—भेहनेनेति ॥ मेहनेन खीसंगानंतरं विंदोः क्षरणेन साधनभूतेन पुरुषः पुमानथवा नार्यिष योषिद्षि शनैर्मदं सम्यक् यत्नपूर्वकमूर्ध्वाकुंचनमूर्ध्वमुपर्याकुंचनं भेद्राकुंचनेन विंदोरुपर्या-कर्षणमभ्यसेद्दजोलीमुद्रासिद्धिमाप्नुयात्सिद्धं गच्छेत् ॥ ८५ ॥

भाषार्थ—अब बज़ोलीमुद्राके प्रकारका वर्णन करते हैं कि, पुरुष अथवा स्त्री मेहन (बिंदुका झरना) से शनैः २ भलीमकार यत्नसे ऊपरको आकुंचन (संकोच) का अभ्यास करे अर्थात् लिंग इंद्रियके आकुंचनसे बिंदुके ऊपर स्त्रींचनेका अभ्यास करे तो वज्रोलीमुद्रा सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ८९॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ॥ शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वागप्रकियामाह-यत्नत इति ॥ शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन शस्तनालेन सीसकादिनिर्मितेन नालेन शनैः शनैर्मदंमंदं यथाग्नेर्धमनार्थं फूत्कारः क्रियते ताहशं फूत्कारं वज्रकंद्रे मेढ़विवरे वायोः संचारः सम्यग्वज्रकंद्रे चरणं गमनं तत्कारणात्तद्वेतोः प्रक्वित प्रकर्षेण पुनः पुनः कुर्वीत 👭 अथ वज्रोलीसाधनप्रक्रिया। सीसक-निर्मितां स्निग्धां मेडूमवेशयोग्यां चतुर्दशांगुलमात्रां शलाकां कार-यित्वा मेंद्रे प्रवेशनमभ्यसेत् । प्रथमदिने एकांगुलमात्रां शलाकां मवेशयेत् । द्वितायदिने द्वंगुलमात्रां तृतीयदिने व्यंगुलमात्राम् । एवं क्रमेण वृद्धी द्वादशांगुलमात्रपवेशे मेद्रमार्गः शुद्धो भवति । पुनस्तादशीं चतुर्दशांगुलमात्रां द्यंगुलमात्रवक्रामूर्ध्वमुखां कारियत्वा तां द्वादशां-गुलमात्रां प्रवेशयेत् । वक्रमूर्ध्वमुखं झंगुलमात्रं वाहिः स्थापयेत् । ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनीभूतनालसहर्शं नालं गृहीत्वा तद्र्यं मेढ्रमवेशितदादशांगुलस्य नालस्य नकोर्ध्वमुखद्यंगुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात् । तेन सम्यक् मार्गग्राद्धिभवति । ततो जलस्य मेट्रे-णाकर्षणमभ्यसेत् जलाकर्षणे सिद्धे पृर्वीकश्चोकरीत्या विदोरूर्घी-कर्षणमभ्यसेत्। बिद्राकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः। इयं जितप्राण-स्येव सिध्यात नान्यस्य । खेचरीमुद्रापाणजयोभयसिद्धौ तु सम्यक् भवति ॥ ८६ ॥

आषार्थ—अब वज्रोली मुद्राकी पूर्वाङ्ग कियाका वर्णन करतेहैं कि, सीसे आदिकी उत्तमनालीसे हाने: २ इसप्रकार लिंगके लिंदमें वायुके संचार ( मली-प्रकार प्रवेश ) के लिये यत्नसे फ्रत्कारको करे. जैसे अभिके प्रव्वलनार्थ फ्र्त्कारको करते हैं । अब वज्रोलीकी साधनप्रक्रियाको कहते हैं कि, सीसेसे बनीहुई लिंगमें प्रवेशके योग्य चौदह अंगुलकी शलाई बनवाकर उसके लिंगमें प्रवेशका अभ्यास करें । पहिले दिन एक अंगुलमात्र प्रवेश करें दूसरे दिन दो अंगुल मात्र और तीसरें दिन तीन अंगुलमात्र प्रवेश करें इसप्रकार क्रमसे वृद्धि करनेपर बारह अंगुल शलानकों प्रवेश होनेके अनंतर लिंगका मार्ग शुद्ध होजाताहै फिर उसीप्रकारकी

और चौदह अंगुळकी ऐसी शलाई बनवावे जो दो अंगुळ टेढी हो और उर्ध्व-मुखी हो उसकोभी बारह अंगुळ भर िंटगंके छिद्रमें प्रवेश करे, टेढा और उर्ध्वमुख जो दो अंगुळ मात्र है उसको बाहर रक्खे फिर सुनारके अग्निधमनेके नालकी सदश नालको लेकर उस नालके अप्रमागको िंटगं प्रवेश किये बारह अंगुळके नालका टेढा और ऊर्ध्वमुख दो अंगुळ है उसके मध्यमें प्रवेश करके फ्रत्कार करे तिससे मलीप्रकार लिंगके मार्गकी शुद्धि होताहै फिर िंटगंसे जलके आकर्षणका अभ्यास करे जलके आकर्षणकी सिद्धि होनेपर पूर्वोक्तरलोकमें कही हुई रीतिके अनुसार विंदुके ऊपरको आकर्षणका अभ्यास करे बिंदुके उर्ध्व आकर्षणकी सिद्धि होनेपर वज्रोलीमुद्राकी सिद्धि होती है यह मुद्रा उस योगीको ही सिद्ध होती-है जिसने प्राणवायुको जीत लियाह अन्यको नहीं होती है और खेचरीमुद्रा और प्राणका जय होनेपर तो भलीपकार सिद्ध होती है। भावार्थ यह है कि, लिंगके छिद्रमें वायुके संचार करनेके लिये उत्तमनालसे शनै: २ यत्नपूर्वक फ्रका-रको करे।। ८६॥

#### नारीभगे पतद्विंदुमभ्यासेनोध्वंमाहरेत् ॥ चितं च निजं बिंदुमूध्वंमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७॥

एवं वज्रोल्यभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह—नारीभग इति ॥ नारीभगे स्त्रीयोनौ पततीति पतन् पतंश्चासौ विद्धश्च पतद्भिद्धस्तं पत-द्धिदुं रितकाले पतंतं विदुमभ्यासेन वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्या-हरेदाकर्षयेत् । पतनात्पूर्वमेव । यदि पतनात्पूर्व विदोराकर्षणं न स्यात्तिहि पतितमाकर्षयेदित्याह—चलितं चेति । चलितं नारीभगे पतितं निजं स्वकीयं विद्धं चकारात्तद्रजः ऊर्ध्वमुपर्याकृष्याहत्य रक्ष-यत् स्थापयेत् ॥ ८७ ॥

भाषार्थ—अब वज्रोलीमुद्राकी सिद्धिके अनंतरका जो साधन है उसका वर्णन करते हैं कि, नारीके भग (योनि) में पडते हुये बिंदु (वीर्य) का अभ्या- ससे ऊपरको आकर्षण करें अर्थात पडनेसे पूर्वही ऊपरको खींचले यदि पतनसे पूर्व बिंदुका आकर्षण न होसके तो पतितहुये बिंदुका आकर्षण करें कि चलितहुआ

अपना बिंदु और चकारसे स्त्रीका रज इनकी ऊपरको आकर्षण करके रक्षा करें अर्थात् मस्तकरूप जो वीर्यका स्थान है उसमें स्थापन करें ॥ ८७॥

#### एवं संरक्षयेद्विंदुं मृत्युं जयित योगवित् ॥ मरणं बिंदुपातेन जीवनं विंदुधारणात् ॥ ८८ ॥

वज्रोलीगुणानाह-एवमिति ॥ एवमुक्तरीत्या विंदुं यः संरक्षयेत् सम्यक् रक्षयेत् स योगविद्योगाभिज्ञो मृत्युं जयत्यभिभवति ॥ यतो विंदोः गुक्रस्य पातेन पतनेन मरणं भवति । विंदोधीरणं विंदुधारणं तस्माद्विदुधारणाजीवनं भवति । तस्माद्विदुं संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८॥

आषार्थ-अव वज्रोठीके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, इसप्रकार जो योगी बिंदुकी मठीप्रकार रक्षा करताहै योगका ज्ञाता वह योगी मृत्युको जीतताहै क्योंकि, बिंदुके पडनेसे मरण और बिंदुकी रक्षासे जीवन होताहै तिससे बिंदुकी रक्षा करें ॥ ८८ ॥

### सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् ॥ यावद्विंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ८९॥

सुगंध इति ॥ योगिनो वज्रोल्यभ्यासिनो देहे विंदोः शुक्रस्य धारणं तस्मात्सुगंधः शोभनो गंधो जायते प्रादुर्भवति । देहे याव-द्विदुः स्थिरस्तावत्कालभयं मृत्युभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥८९॥

भाषार्थ-वज़ोळीके अम्यासकर्ता योगीके देहमें बिंदुके धारण करनेसे सुगंध होजातीहै और देहमें जबतक बिंदु स्थिर हैं तबतक कालका भय कहां अर्थात् कालका भय नहीं रहताहै ॥ ८९॥

#### चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ॥ तस्माच्छुकं मनश्चेव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९०॥

चित्तायत्तामिति ॥ हि यस्मात्रृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायत्तं चित्ते चले चलत्वाचित्ते स्थिरे स्थिरत्वाचित्ताधीनं जीवितं जीवनं शुक्रायत्तं गुके स्थिरे जीवनाच्छुके नष्टे मरणं ग्रुकाधीनं तस्माच्छुकं विंदुं मनश्च मानसं च प्रकृष्टाचत्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव । अवश्यं रक्षणीय-मित्यर्थः । एवशब्दो भिन्नक्रमः ॥ ९० ॥

भाषार्थ-जिससे मनुष्योंका ग्रुक्त ( वीर्य ) चित्तके आधीन है अर्थात् चित्तके चळायमान होनेपर चळायमान और चित्तके स्थिर होनेपर स्थिर होजाताहै इससे चित्तके वशीभूत है और मनुष्योंका जीवन ग्रुक्तके आधीन है अर्थात् ग्रुक्तकी स्थिरतासे जीवन और ग्रुक्तकी नष्टतासे मरण होताहै इससे जीवन ग्रुक्तके आधीन है तिससे ग्रुक्त ( बिंदु ) और मनकी भळी प्रकार यत्नसे रक्षा करें ॥ ९०॥

### ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिंदुं च रक्षयेत् ॥ मेद्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९१॥

ऋतुमत्या इति ॥ एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुर्विद्यते यस्याः सा ऋतुमती तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रियो रेतः निजं स्वकीयं बिंदुं च रक्षयेत् । पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति—मेद्रेणेति । अभ्यासो वज्रो-ल्यभ्यासः स एव योगो योगसाधनत्वात्तं वेत्तीत्यभ्यासयोगिवत् मेद्रेण गुह्येद्रियेण सम्यग्यत्नपूर्वकमूर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् । रजो बिंदुं चेति कर्माध्याहारः । अयं श्लोकः क्षिप्तः ॥ ९१ ॥

भाषार्थ-ऋतु हुआ है जिसके ऐसी झीके रज ( वीर्य ) की और अपने विंदुकीभी इसी पूर्वीक्त अम्याससे रक्षा करें अर्थात् ऋतुस्नानके अनंतर रज और धीर्य दोनोंकी रक्षा करें । पूर्वीक्त अम्यासकोही दिखातेहें कि, बज्रोलीके अम्यासक्त्व योगका ज्ञाता योगी लिंग इंद्रियसे रज और विंदुका मलीप्रकार ऊपरको आकर्षण करें ( खींचे ) यह श्लोक क्षेत्रक है अर्थात् मूलका नहीं है ॥ ९१॥

सहजोलिश्वामरोलिर्वज्ञोल्या भेद एकतः ॥ जले सुभस्म निक्षिप्य दुग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२॥ सहजोल्यमरोल्यो विवधुस्तयोर्वज्ञोलीविशेषत्वमाह-सहजोलि-श्वेति॥ वज्ञोल्या भेदो विशेषः सहजोलिरमरोलिश्च। तत्र हेतुः- एकतः एकत्वादेकफळत्वादित्यर्थः । एकशब्दाद्वावप्रधानात्पंचम्या-स्तिसिः । सहजोलिमाह—जल इति । गोः पुरीपाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि च दग्धगोमयानि तेषु संभव उत्पत्तिर्यस्य तद्दग्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म विभूतिः तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वेत्युत्तरश्लोकेनान्वेति ॥ ९२ ॥

आषार्थ-अब सहजोड़ी और अमरोड़ी मुद्राओं का वर्णन करतेहैं कि, वज्रोड़ी मुद्राका भेदिवशेषही सहजोड़ी और अमरोड़ी हैं, क्योंकि तीनों का फड़ एक है उन दोनों में सहजोड़ी मुद्राका वर्णन करतेहैं कि, दग्ध किये हुये गोमयोंका जो सुंद्र भरम है उसको जड़में डाड़कर अर्थात् जड़िमिश्रित उस भरमको करै॥ ९२॥

### वज्रोलीमेथुनादृर्ध्वं स्त्रीपंसोः स्वांगलेपनम् ॥ आसीनयोः मुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात्॥९३॥

वजोलिति ॥ वज्रोलीसुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनंतरं सुखेनैवानं-देनैवासीनयोरुपविष्टयोः क्षणाद्रत्युत्सवान्सक्तस्त्यक्तो व्यापारो रित-क्रिया याभ्यां तो सुक्तव्यापारो तयोर्सक्तव्यापारयोः स्त्री च प्रमांश्च स्त्रीपुंसो तयोः स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं शोभनान्यंगानि स्वांगानि मूर्ध-खलाटनेत्रहृद्यस्कंधभुजादीनि तेषु लेपनम् ॥ ९३ ॥

आषार्थ-वज्ञोलीमुदाकी सिद्धिके लिये कियेहुये मैथुनके अनंतर आनंदसे बैठेहुये और उत्साहसे त्याग दियाहै रितका न्यापार जिन्होंने ऐसे स्त्री और पुरुष दोनों पूर्वोक्त भस्मको अपने मस्तक, शिंग, नेत्र, हृदय, स्कंद, भुजा आदि अंगोंपर लेपन करें ॥ ९३॥

#### सहजोलिरियं त्रोका श्रद्धेया योगिभिः सदा ॥ अयं शुभकरो योगो भोगयुकोऽपि मुक्तिदः ॥९४॥

सहजोि हिरिति ॥ इयमुक्ता किया सहजोि हिरिति प्रोक्ता कथिता योगिभिर्मतस्यद्वादिभिः । कीहशी सदा श्रद्धेया सर्वेदा श्रद्धातुं योग्या। अयं सहजोल्याख्यो योग उपायः शुभकरः शुभं श्रेयः करो-तीति शुभकरः। 'योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु ' इत्यभिधा-नात्। कीदृशो योगः भोगेन युक्तोऽपि सुक्तिदो मोक्षदः॥ ९४॥

आषार्थ-यह पूर्वीक्त भरमलेपनरूप किया मत्स्येंद्र आदि योगीजनोंने सहजोलिमुदा कहा है और यह योगीजनोंको सदैव श्रद्धा करने योग्य है, यह सहजोलि नामका योग (उपाय) शुभकारी जानना और भोगसे युक्त भी यह योग मोक्षका दाताहै॥ ९४॥

#### अयं योगः पुण्यवतां घीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ॥ निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम्॥९५॥

अयं योग इति ॥ अयमुक्ती योगः पुण्यं विद्यते येषां ते पुण्य-वंतः सुकृतिनस्तेषां पुण्यवतां धीराणां धेर्यवतां तत्त्वं वास्तविकं पर्यं-तीति तत्त्वद्शिनस्तेषां तत्त्वद्शिनां मत्सराज्ञिष्कान्ता निर्मत्सरास्तेषां निर्मत्सराणामन्यगुणदेषरहितानाम् । 'मत्सरोऽन्यगुणदेषः' इत्य-मरः । तादृशानां पुंसां सिध्येत सिद्धिं गच्छेत्। मत्सरशालिनां मत्स-रवतां तु न सिध्येत् ॥ ९५ ॥

आषार्थ-और यह सहजोलिक्ष्य योग पुण्यवान् और धीर और तत्त्व (ब्रह्म) के जो द्रष्टा हैं और अन्यके गुणोंमें द्रेषरहित (निर्मत्तर) हैं ऐसे पुरुषोंकोही सिद्ध होताहै और जो मत्सरी हैं अन्यके गुणोंमें द्रेष ( बैर ) के कर्ता हैं उनको सिद्ध नहीं होताहै ॥ ९५॥

#### अथामरोली।

पित्तोल्बणत्वात्त्रथमांबुधारां विहाय निःसारतयां-त्यधारा ॥ निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली ॥ ९६॥

अमरोलीमाह-पित्तोल्वणत्वादिति॥ पित्तेनोल्वणोत्कटा पित्तो-ल्वणा तस्या भावः पित्तोल्वणत्वं तस्मात्। यथा प्रथमा पूर्वा यांऽबुनः शिवांबुनो धारा तां विहाय शिवांबुनिर्गमनसमये किंचित्यूर्वी धारां त्यक्त्वा । निर्गतः सारो यस्याः सा निःसारा तस्या
भावो निःसारता तथा निःसारतया निःसारत्वेनांत्यधारा अंत्या चरमा
या धारा तां विहाय किंचिदंत्यां धारां त्यक्त्वा । शीतला पित्तादिदोषसारत्वरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा निषेव्यते
नितरां सेव्यते । खंडो योगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य स खंडमतस्तरिमन् खंडमते कापालिकस्यायं कापालिकस्तरिमन् कापालिके
खण्डकापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः । अमरोली प्रसिद्धेति शेषः ॥ ९६ ॥

माषार्थ-अव अमरोछीमुद्राका वर्णन करतेहैं कि, पित्त है उल्बण (अधिक) जिसमें एसी जो प्रथम शिवांबु (बिंदु ) की धारा है उसको और नहीं है सार अंश जिसमें ऐसी जो अंत्यधारा है उसको छोडकर अर्थात् पहली और पीछली धारोंको किंचित् २ त्यागकर पित्त आदि दोष और सारतासे रहित शीतल मध्य-धाराका जिस रीतिसे नित्य सेवन (पान) कियाजाय वह किया योगविशेष जो खंड उसके माननेवाले कापालिक मतमें अर्थात् खंडकापालिक मतमें अमरोठी नामकी मुद्रा प्रसिद्ध है ॥ ९६॥

### अमरीं यः पिवेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने ।। वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ ९७ ॥

अमरोलीिमिति ॥ अमरी शिवांबु यः पुमान् नित्यं पिबेत्। नस्यं कुर्वन् श्वासेनामयां घाणांतर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिनेदिने मितिदिनं वज्रोलीं 'मेहनेन शनैः ' इति श्लोकेनोक्तां सम्यगभ्यसेत्साऽमरोलीित कथ्यते। कापालिकेरिति शेषः। अमरीपातामरी। नस्यपूर्विका वज्रोल्यमरोलीशब्देनोच्यत इत्यर्थः॥ ९७॥

भाषार्थ—जो पुरुष शिवांबुरूप अमरीको नासिकासे नित्य पीताहै अर्थात् नासिकाके छिद्रद्वारा अमरीको अंतर्गत करताहै और मैथुनसे प्रतिदिन वज्रोछीका मछीप्रकार अभ्यास करताहै उस मुद्राको कापाछिक अमरोछी कहतेहैं अर्थात् नासिकाके छिद्रसे पान की अमरी वज्रोछीके अनंतर अमरोछी कहातीहै॥ ९७॥

#### अभ्यासान्निः सृतां चांद्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ॥ धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥

अभ्यासादिति ॥ अभ्यासादमरोल्यभ्यासान्निःसृतां निर्गतां चांद्रीं चंद्रस्येयं चांद्री तां चांद्रीं सुधां विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत्संयोजयेत् । उत्तमांगेषु शिरःकपालनेत्रस्कंधकण्ठहृद्यभुजा-दिषु धारयेत् । भस्ममिश्रितां चांद्रीमिति शेषः । दिव्या अतीताना-गतवर्तमानव्यवहित्तविप्रकृष्टपदार्थदर्शनयोग्या दृष्टिर्यस्य स दिव्यदृष्टि-दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षण जायते । अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवां-खुकल्पादवगंतव्याः ॥ ९८ ॥

आषार्थ-अमरोछीमुद्राके अभ्याससे निकसी जो चंद्रमाकी सुधा (अमृत) है उसको विभूति (भस्म) के संग मिछाकर शिर, कपाछ, नेत्र, स्कंध, कंठ, हृदय, भुजा आदि उत्तम अंगोंमें धारण करे तो मनुष्य दिव्यदृष्टि होजाता है अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान्, व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूर) के जो पदार्थ उनके देखनेयोग्य दृष्टि होजातीहै और अमरीसेवनके विशेष भेद तो शिवांबुक- इन्ग्रंथसे जानने ॥ ९८ ॥

#### पुंसी बिंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात्॥ यदि नारी रजो रक्षेद्रज्ञोल्या सापि योगिनी॥९९॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्ता नार्यास्तदाह—पुंसो विद्विमिति ॥
सम्यगभ्यासस्य सम्यगभ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं तस्मात्पुंसः पुरुषस्य
विद्वं वीर्यं समाकुंच्य सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या
वज्रोलीमुद्रया रक्षेत्। सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया।
'पुंसो विद्वसमायुक्तम्' इति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणम् ॥ ९९॥

भाषार्थ-पुरुषको वज्रोलीके साधनको कहकर नारीकी वज्रोलीके साधनको वर्णन करतेहैं कि, मलीप्रकारसे कियेहुये अम्यासकी चतुरतासे पुरुषके बिंदुकां मलीप्रकार आकर्षण करके यदि नारी बज्रोलीमुद्रासे अपने रजकी रक्षा करें तो

वह भी योगिनी जाननी (पुंसो बिंदुं समायुक्तं) यह पाठ होय तो यह अर्थ समझना कि, पुरुषके विदुसे युक्त अपने रजकी रक्षा करै तो वह नारी योगिनी होतीहै ॥ ९९ ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ॥
तस्याः शरीरे नादश्च किंदुतामेव गच्छति ॥१००॥

नारीकृताया वज्रोल्याः फलमाह-तस्या इति ॥ तस्या वज्रो-ल्यभ्यसन्दालाया नार्या रजः किंचित् किमपि स्वल्पमि नारां न गच्छित नष्टं न भवित पतनं न प्राप्तोतीत्यर्थः । अत्र संदायो न संदेहो न । तस्या नार्याः द्वारीरे नाद्ध विदुतामेव गच्छिति मूलाधारादु-ित्यतो नादो हृद्योपिरि विदुभावं गच्छिति । विदुना सहैकीभवती-त्यर्थः । अमृतसिद्धौ—' बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम् । अन्योबाह्ययोगेन सृष्टिः संजायते नृणाम् ॥ यदाभ्यंतर्योगः स्यात्तदा योगीति गीयते । विदुश्चंद्रमयः प्रोक्तो रजः सूर्यमयं तथा ॥ अन्योः संगमादेव जायते परमं पदम् । स्वर्गदो मोक्षदो विदुर्धमदोऽधर्मद्-स्तथा ॥ तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठंते सूक्ष्मरूपतः ' ॥ इति ॥१००॥

भाषार्थ—अब नारीकी कोंहुई बज्रोलीके फलको कहतेहैं कि, बज्रोलीके अम्यास करनेमें शीलवर्ता उस नारीका किचित् भी रज नष्ट नहीं होताहै अर्थात् अपने स्थानसे पितत नहीं होता इसमें संशय नहीं है और उस नारीके शरीरमें नादभी बिंदुरूपको प्राप्त होजाताहै अर्थात मृलाधारसे उठाहुआ नाद हृद्यके उपर बिंदुके संग एक होजाताहै अमृतसिद्धिप्रंथमें लिखाहै कि पुरुषके वीर्यको बीज और नारीके वीर्यको रज कहतेहैं इन दोनोंका देहसे बाहर योग होनेसे मनुष्योंके संतान होतीहै यदि दोनोंका भीतरही योग होजाय तो वह योगी कहा जाताहै उन दोनोंमें बिंदु चंद्रमय है और रज सूर्यमय है इन दोनोंके संगमसे परम पद होताहैं और यह बिंदु स्वर्ग, मोक्ष, धर्म और अधर्मका दाताहै उस बिंदुके मध्यमें सूक्ष्मक्रपसे संपूर्ण देवता दिकतेहैं ॥ १००॥

## स बिंदुस्तद्रजश्चेव एकीभूय स्वदेहगों॥ वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः॥१०१॥

स बिंदुरिति ॥ स पुंसो विंदुस्तद्रजो नार्या रजश्चैव बज्रोली-मुद्राया अभ्यासो बज्रोल्यभ्यासः स एव योगस्तेनेकीभूय मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहे गतौ सर्वसिद्धि प्रयच्छतः दत्तः ॥ १०१॥

भाषार्थ-पुरुषका वह बिंदु और नारीका वह रज दोनों एक होकर वजीलीमुद्राके अभ्यासयोगसे यदि अपने देहहींमें स्थित रहजाय तो संपूर्ण सिद्धि-योंको देतेहैं॥ १०१॥

### रक्षेदाकुंचनादूर्धं या रजः सा हि योगिनी ॥ अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्॥१०२॥

रक्षेदिति ॥ या नार्याकुंचनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरिस्थाने नीत्वा रजो रक्षेत् । हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे । सा योगिन्यतीता-नागतं भूतं भविष्यं च वस्तु वेत्ति जानाति । ध्रुविमिति निश्चितम् । खेंडतिरक्षे चरतीति खेचर्यतिरक्षचरी भवेत् ॥ १०२॥

आषार्थ-जो नारी अपनी योनिक संकोचसे रजको ऊर्ध्वस्थानमें छेजाकर रजकी रक्षा करै वह योगिनी होतीहै और भूत, भविष्यत, वर्तमान वस्तुको जान सकतीहै और यह निश्चित है कि वह खेचरी होती है अर्थात् उसको आका-रामें गमन करनेका सामर्थ्य होजाताहै ॥ १०२॥

#### देहसिद्धं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ॥ अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः॥१०३॥

दहसिद्धिमिति ॥ वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्माई-हस्य सिद्धि रूपलावण्यवलवज्रसंहननत्वरूपां लभते । अयं योगो वज्रोल्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृष्टविशेषजनकः । कीदशो योगः मुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥१०३॥ भाषार्थ-और वज्रोठीके अम्यासयोगेसे रूप, ठावण्य, वज्रोठीकी तुल्यता-रूप देहकी सिद्धिको प्राप्त होतीहै और यह वज्रोठीके अम्यासका योग पुण्यका उत्पादक है और भोगोंके भोगनेपरभी मुक्तिको देताहै॥ १०३॥

#### अथ शक्तिचालनम्।

#### कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ॥ कुंडल्यरुंघती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥१०४॥

इक्तिचालनं विवधुस्तदुपोद्धाततया कुंडलीपर्यायान् तया मोक्ष-द्वाराविभेदनादिकं चाह सप्तभि:—क्किटिलांगीति ॥ कुटिलांगी १, कुंड-लिनी २, भुजंगी ३, शक्तिः ४, ईश्वरी ५, कुण्डली ६, अरुंधती ७, चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एकार्थवाचकाः ॥ १०४॥

भाषार्थ-राक्तिचालनमुद्रा कहनेके अभिलाषी आचार्य कुंडलिनीके पर्याय और कुंडलिनीसे मोक्षद्वारिवभेदन (खोलना) आदिका वर्णन करतेहें कि, कुंटिलांगी १, कुंडलिनी २, भुजंगी ३, राक्ति ४, ईश्वरी ९, कुंडली ६, अरुंधती ७, ये सात शब्द पर्यायवाचक हैं अर्थात् सातोंका एकही अर्थ है ॥ १०४॥

#### उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्॥ कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥ १०५॥

उद्घाटयेदिति ॥ यथा येन प्रकारेण प्रमान् कुंचिकया कपाटार्ग-होत्सारणसाधनीभूतया हठाद्ध्रलात्कपाटमररमुद्धाटयेदुत्सारयेत्। हठा-दिति देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र संबध्यते । तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात्कुंडलिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं मोक्षस्य द्वारं प्रापकं सुप्रमामार्ग विभेदयेदिशेषेण भेदयेत् । 'तयोध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्वतेः ॥ १०५ ॥

भाषार्थ-जैसे पुरुष कपाटों (किवाँड) के अर्गठ (ताठा) आदिको इट (बठ) से कुंचिका (ताठी) से उद्घाटन करता है, तिसीप्रकार योगीभी हठयोगके अश्याससे कुंडलिनीमुद्राकेद्वारा अर्थात् मोक्षके दाता सुषुम्नाके मार्गको भेदन करताहै क्योंकि श्रुतिमें लिखाहै कि, सुद्धमा मार्गसे ऊपर (ब्रह्मलोक) को जाताहुआ मोक्षको प्राप्त होताहै ॥ १०५॥

#### येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥ मुखेनाच्छाद्य तद्दारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥ १०६॥

येनेति ॥ आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं तस्मात्रि-र्गतं निरामयं दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविभावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविभावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविभावजनकं स्थानं ब्रह्मर्थानं ब्रह्मरंध्रम् । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमातमा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । येन मार्गेण सुषुम्नामार्गेण गंतव्यं गमनाईमस्ति तद्वारं तस्य मार्गस्य द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाच रुद्धा परमेश्वरी कुंडिलनी प्रसुप्ता निद्धितास्ति ॥ १०६ ॥

भाषार्थ-रोगसे उत्पन्न हुआ दुःखरूप आमय जिसमें नहीं हैं ऐसा ब्रह्म-स्थान जिसमार्गसे जाने योग्य होताहै अर्थात् जिसमार्गसे ब्रह्मस्थानको जातेहैं क्योंकि श्रुतिमें लिखाहै कि, उस सुषुम्नाकी शिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित है उस सुषुम्ना मार्गके द्वारको मुखसे आच्छादन करके अर्थात् रोककर परमेश्वरी (कुंडलिनी) सोतीहै ॥ १०६॥

## कंदोध्वं कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ॥ बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् १००॥

कंदोध्विमिति ॥ कुंडली शक्तिः कंदोध्वं कंद्रस्योपरिभागे योगिनां मोक्षाय सुप्ता म्हानां बंधनाय सुप्ता । योगिनस्तां चालियत्वा सुक्ता भवंति । मृहास्तद्ज्ञानाद्व्हास्तिष्ठंतीति भावः । तां कुंडलिनीं यो वेत्ति स योगवित् । सर्वेषां योगतंत्राणां कुंडल्याश्रयत्वादित्यर्थः ॥१०७॥

भाषार्थ-कंदके जपरमागर्मे सोतीहुई कुंडिलिनी योगीजनोंके मोक्षार्थ होतीहै और वह पूर्वीक्त कुंडिलिनी मूर्डोंके बंधनार्थ होती है अर्थात् योगीजन कुंडिलिनीको चलाकर मुक्त होजातेहैं और उसके भज्ञानी मूढ बंधनमें पढ़े रहतेहैं उस कुंडिलिनीको जो जानताहै वहीं योगका ज्ञाता है क्योंकि संपूर्ण योगके तंत्र कुंडिलिनीके आधीन हैं।। १०७॥

### खंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥ सा शक्तिश्चालिता येन स युक्तो नात्र संशयः १०८

कुंडलीति ॥ कुंडली शक्तिः सर्पवड्डजगवत्कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा कुटिलाकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः । सा कुंडली शक्तियेन पुंसा चालिता मूलाधारादूर्ध्व नीता स मुक्तोऽज्ञानवंधानि-वृत्तः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्तीत्यर्थः । 'तयोर्ध्वमाय-चम्तत्वमेति ' इति श्रुतेः ॥ १०८ ॥

भाषार्थ-योगीजनोंने जो सूर्यके समान कुटिल है आकार जिसका ऐसी कहीहै वह कुंडली शक्ति जिसने चलादी है अर्थात् मूलाधारसे ऊपर पहुँचादी है वह मुक्त है अर्थात् बंधनसे निवृत्त है इसमें संशय नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त श्रुति है कि, उस सुषुम्नासे ऊपरको जाताहुआ योगी मोक्षको प्राप्त होताहै ॥ १०८॥

#### गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीम् ॥ बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१०९॥

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भा-वनाइंगायमुनयोरभेदेन भावनाझा गंगायमुने इडापिंगले तयोर्भध्ये सुषुम्नामार्गे तपस्विनी निरशनस्थितेः । बालरंडां बालरंडाशब्दवाच्यां कुंडलीं बलात्कारेण हठेन यह्णीयात् । तत्तस्या गंगायमुनयोर्भध्ये यहणं विष्णोईरेट्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपद्पापकम् ॥ १०९ ॥

भाषार्थ-गंगा यमुना हैं आधार जिनके वा गंगा यमुनारूप जो इड पिंगला नाडी हैं उनके मध्यमें अर्थात् सुषुम्नाके मार्गमें तपस्विनी अर्थात् भोजन-रहित बालरंडा है उसको बलात्कार (हठयोग) से ग्रहण करे वह उस कुंडलीका जो बलात्कारसे ग्रहण है वही न्यापकरूप विष्णुके परमपदका प्रापक है ॥१०९॥

# इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ॥ इडापिंगलयोर्भध्ये बालरंडा च कुंडली ॥ ११०॥

गंगायमुनादिपदार्थमाह-इडेति ॥ इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्येश्वर्यादिसंपन्ना गंगा गंगापदवाच्या, पिंगला दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या नदी । इडापिंगलयोर्भध्ये मध्यगता या कुण्डली सा वालरंडा वालरंडाशब्दवाच्या ॥ ११० ॥

भाषार्थ-अब गंगा यमुना आदि पदार्थोंका वर्णन करतेहैं कि, इडा अर्थात् वामनि:श्वासकी नाडी भगवती गंगा कहातीहै और पिंगलाके अर्थात् दक्षिणनि:-श्वासकी नाडी यमुना नदी कहातीहै और इडा और पिंगला मध्यमें वर्तमान

जो कुंडली है वह बालरंडा कहातीहै ॥ ११०॥

#### पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्रोधयेच ताम् ॥ निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् १११॥

शक्तिचालनमाह-पुच्छे इति ॥ सुप्तां निद्रितां भुजगीं तां कुंड-लिनीं पुच्छे प्रगृहीत्वोद्धोधयेत्प्रबोधयेत्सा, शक्तिः कुंडली निद्रां विहाय हठादूर्ध्व तिष्ठत इत्यन्वयः । एतद्रहस्यं तु गुरुमुखाद्व-गंतव्यम् ॥ १११ ॥

भाषार्थ-अब शक्तिचालनमुदाका वर्गन करतेहैं कि सोतीहुई भुजगी (कुंडली) के पुच्छको प्रहण करके उसभुजगीका प्रबोधन करे (जगावे) तो बह कुंडली निद्राको त्यागकर हठसे उत्परको स्थित होजातीहै इसका रहस्य (गुप्तिक्रिया) तो गुरुमुखसे जानने योग्य है॥ १११॥

अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्ध-मात्रम् ॥ प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥ ११२ ॥

अवस्थिता इति ॥ अवस्थितावांक स्थिता मूलाधारस्थिता फणावती मुजंगी सा कुंडलिनी सुर्यादापूर्य सूर्यात्पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या प्रगृह्य गृहीत्वा । सायं सूर्यास्तसमये प्रातः सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य यामस्यार्ध प्रहरार्धं प्रहरार्छमेव प्रहरार्धमात्रं मुहूर्तद्वयमात्रं परिचालनीया परितश्चालियतुं योग्या । परिधानयुक्तिदेशिकाद्धोध्या ॥ ११२ ॥

भाषार्थ-नीचे मूळाधारमें स्थित वह फणावती कुंडिलिनी सूर्यसे पूरण कर-नेके अनंतर परिधानमें जो युक्ति है उससे ग्रहण करके सायंकाल और प्रातःका-लके समय प्रतिदिन आधे प्रहर पर्यंत चारों तर्फ चालन करने योग्य है परिधानकी युक्ति गुरुमुखसे जाननी चाहिये ॥ ११२॥

## उध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ॥ मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥ ११३॥

कंदसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षरादी कंदस्य स्थानं स्वरूपं चाहडिश्विमिति ॥ मूलस्थानादितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणमूर्ध्वमुपिर्
नाभिमेद्रयोर्मध्ये। एतेन कंदस्य स्थानमुक्तम्। तथा चोक्तं गोरक्षशतके—
"ऊर्ध्व मेद्राद्धो नाभेः कंद्योनिः खगांडवत्। तत्र नाडचः समुत्पन्नाः सहसाणां दिसप्ततिः" इति । याज्ञवल्क्यः—"ग्रुदाचु द्धंगुलादूध्वं मेद्राचु द्धंगुलाद्धः । देहमध्यं तनोर्मध्यमनुजानामितीरितम् ॥
कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवांगुलम् । चतुरंगुलविस्तारमायामं
च तथाविधम् ॥ अंडाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभिः । चतुष्पद्दां
तिरश्चां च दिजानां तुंदमध्यगम्" इति । ग्रुदाद्धंगुलोपयेकांगुलं महयं
तस्मान्नवांगुलं कंदस्थानं मिलित्वा द्वादशांगुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं
जातम् । चतुर्णामंगुलीनां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलप्रमाणं विस्तारम् । विस्तारो देध्यस्याप्युपलक्षणम् । चतुरंगुलं दीर्घं च मृदुलं कोमळं
थवलं ग्रुप्तं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं यदंवरं वस्तं तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादशं प्रोक्तं कथितम् । कंदस्वरूपं योगिभिरिति ग्लेषः ॥ ११३ ॥

भाषार्थ-कंदके पीडनेसे शक्तिचालनके कथनाभिलाषी आचार्य प्रथम कंदके स्थान और स्वरूपका वर्णन करतेहैं कि, मूलस्थानसे वितस्तिमर ऊपर अर्थात् नाभिस्थळ और लिंगके मध्यमें इसक्रीनसे कंदका स्थान कहा सोई गौरक्षनाथने कहाहै कि लिंगसे ऊपर और नाभिसे नीचे पक्षियोंके अंडेके समान कंदकी योनि है उसमें बहत्तर सहस्र नाडी उत्पन्नहुई हैं. याज्ञवल्क्यने कहाहै कि, गुदासे दो अंगुळ ऊपर लिंगसे दो अंगुळ नीचे मनुष्योंके देह (तनु) का मध्य कहा है मनु-ष्योंका कंदस्थान देहके मध्यसे नौअंगुल ऊपर चार अंगुल चौडा और चार अंगुल छंबा है और त्यचा आदिसे अंडाकारके समान शोभित है और चतुष्पद और तिरछी योनियोंके और पक्षियोंके तुंद मध्यमें होताहै अर्थात् गुदाके दो अंगुर्छोंसे ऊपर एक अंगुलका मध्य और उससे नौ अंगुल कंदस्थान हुआ. ये सब मिलकर बारह अंगु-छका प्रमाण जिसका ऐसा वितस्तिमात्र हुआ और वह कंदस्थान चार अंगुल और कोमल और धवल और वेष्टित किये ( लपेटे ) वस्त्रके समान है रूप जिसका ऐसा योगीजनोंने कहाहै। भावार्थ यह है कि, मूलस्थानसे ऊपर वितस्तिमात्र चार अंगुल-भर कोमळ गुक्क लपेटे हुये बस्त्रके समान कंदस्थान योगीजनोंने कहाहै ॥११३॥

#### सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेहढम् ॥ गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ११४ ॥

सतीति ॥ वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फो पाद-यन्यी तयोदेंशौ प्रदेशौ तयोः समीपे गुल्काभ्यां किंचिदुपरि । 'तद्-बन्थी घुटिके गुल्फों' इत्यमरः । पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गृह्णी-यात् । चकाराखृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कंदस्थाने कंदं प्रपीडयेत्प्रकर्षण पीडयेत् । गुल्फादूर्ध्व कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधोभागे कंदं पीडयेदित्यर्थः ॥ ११४ ॥

भाषार्थ-वज्रासन करनेके अनंतर हाथोंसे गुल्फोंके समीपके स्थानमें दोनों चरणोंको दढतासे घारण करै अर्थात् गुल्फोंके कुछक जपरके भागमें चरणोंको हाथोंसे खूब पकडे और हाथोंसे पकडे हुये पादोंसे कंदके स्थानमें कंदको पीडित करे अर्थात् गुल्फसे ऊपर पार्दोको हाथोंसे पकडकर नाभिके अधोभागमें कंदको पीडित करे (दावै)॥ ११४॥

#### वज्रासने स्थितो योगी चालियत्वा च कुंडलीम् ॥ कुर्यादनंतरं भम्नां कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ ११५॥

वजासन इति ॥ वज्रासने स्थितो योगी कुंडलीं चालियता शक्तिचालनमुद्रां कृत्वेत्यर्थः । अनंतरं शक्तिचालनानंतरं भस्नां भस्ना-रूपं कुंभकं कुर्यात् । एवंरीत्या कुंडलीं शक्तिमाशु शीघं वोधये-त्मबुद्धां कुर्यात् । वज्रासने शक्तिचालनस्य पूर्व विधानेऽपि पुनर्व-ज्ञासनोपपादनं शक्तिचालनानंतरं भस्नायां वज्रासनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थम् ॥ ११५ ॥

भाषार्थ-वज्ञासनमें स्थित (बैठाहुआ) योगी कुंडलीको चलाकर अर्थात् राक्तिचालन गुढ़ाको करके उसके अनंतर अर्थात् राक्तिचालनके पीछे भल्लानामके कुंनक प्राणायामको करें. इसरीतिसे कुंडलीका शीव्र प्रबोधन कर यद्यपि वज्रासनमें राक्तिका चालन पहिले कह आयेहें किर जो बज्ञासनका कथन है वह इसनियमके लिये है कि, शक्तिचालनके अनंनर भल्लामें वज्ञासनहीं करना, अन्य नहीं ॥११९॥

## भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः॥ मृत्युवक्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः॥ ११६॥

भानोरिति ॥ भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुंचनं कुर्यात् । नाभेराकुंचनेनेव तस्याकुंचनं भवति । ततो भानोराकुंचनात्कुंडलीं शक्ति चालयेत् । एवं यः करोति मृत्योर्वक्रं मुखं गतस्यापि प्राप्तस्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ११६ ॥

भाषार्थ-नाभिदेशमें स्थित सूर्यका आकुंचन करें और वह सूर्यका आकुंचन नाभिके आकुंचनसेहीं होताहै, फिर सूर्यके आकुंचनसे कुंडळी शक्तिका चाळन करें. जो योगी इसप्रकारकी कियाको करताहै मृत्युके मुखमें गये हुयेभी उसयोगीको काळका भय किसप्रकार हो सकताहै? अर्थात् मृत्युका भय नहीं रहता॥११६॥

#### मुहूर्तद्रयपर्यंतं निभेयं चालनाद्सौ ॥ ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुन्नायां समुद्रता ११७॥

सुहूर्तद्वयमिति ॥ सुहूर्तयोईयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्प-र्यतं तद्वाधि निर्भयं निःशंकं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्नायां समुद्रता सती किचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ ११७ ॥

भाषार्थ-दो मुहूँर्त अर्थात् चार घडीपर्यंत निर्भय (अवश्य) चला-यमान करनेसे सुपुमामें प्राप्त हुई यह शक्ति (कुंडली) किंचित् (कुछ) ऊपरको खिंच जातीहै॥ ११७॥

# तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुत्रायां सुखं ध्रुवम् ॥ जहाति तस्मात्राणोऽयं सुषुत्रां वजित स्वतः ११८॥

तेनिति ॥ तेनोध्वंमाकर्षणेन कुंडली तस्याः प्रसिद्धायाः सुषुम्नाया मुखं प्रवेशपार्ग धुवं निश्चितं जहाति त्यजति । तस्मान्मार्गत्यागाद्यं प्राणवायुः स्वतः स्वयमेव सुषुम्नां व्रजति गच्छति । सुषुम्नासुखा-त्यागेव कुण्डलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ ११८ ॥

आवार्थ—तिस जवरको आकर्षण करनेसे उस प्रसिद्ध सुषुम्नाके सुख अर्थात् प्रवेशके मार्गको निश्चयसे त्याग देतीहै तिसमार्गके त्यागसे प्राण-बायु स्वतः (स्वयं) ही सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै क्योंकि, कुंडलिनी तो सुषुम्नाके मुखपरसे पहिलेही चली गई, अवरोधके अभाव होनेसे प्राणका स्वयंही प्रवेश होजाताहै॥ ११८॥

#### तस्मात्संचालयेत्रित्यं सुखसुप्तामरुधतीम् ॥ तस्याः संचालनेनेव योगी रोगैः प्रमुच्यते॥११९॥

तस्मादिति ॥ यस्माच्छिक्तिचालनेन प्राणः सुषुम्नां वजिति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुंधतीं शिक्ति नित्यं प्रति-दिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत् । तस्याः शक्तेः संचालनेनेव संचाल-

नमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ ११९ ॥

आषार्थ—जिससे शक्तिके चालनसे प्राण सुषुम्नामें प्राप्त होताहै तिससे सुखसे सोईहुई अरुंधती (कुंडिलनी) को नित्य भलीप्रकार चलायमान करें क्योंकि तिसशक्तिके चलायमान करनेसेही रोगी कास श्वास जरा आदि रोगोंसे निवृत्त होजाताहै ॥ ११९॥

# येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥१२०॥

येनेति ॥ येन योगिना शक्तिः कुण्डली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति । अत्रास्मिन्नर्थे बहुक्तेन बहु-प्रशंसनेन किं, न किमपीत्यर्थः । कालं मृत्युं लीलया क्रीडयाना-यासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ १२०॥

भाषार्थ-जिसयोगीने शक्ति चलायमान करली है वह योगी अणिमा आदि सिद्धियोंका पात्र होजाताहै और इसमें अधिक कहनेसे क्या है कालकोभी लीलासे अर्थात् अनायाससे जीत लेताहै ॥ १२०॥

### ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥ मंडलादृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः १२१॥

ब्रह्मचर्येति ॥ ब्रह्मचर्य श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तिस्मन् रतस्य तत्परस्य नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थोशवर्जितमश्ना-तीति तस्य कुण्डल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा तस्य मंडलाञ्चत्वारिशहिनात्मकादनंतरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते ॥ "नासादिक्षणमार्गवाहिपवनात्प्राणो-ऽतिदीर्घीकृतश्चंद्राभः परिपूरितामृततनुः प्राग्वंटिकायास्ततः । छिन्वा कालविशालविह्यशं श्रूरंध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रवं स्कंधवत् ॥" ॥ १२१॥

भाषार्थ-श्रोत्र आदि इंद्रियोंसहित छिंगके संयममें तत्वर जो योगी है और नित्य हितकारी प्रमित अर्थात् चतुर्थाशसे न्यून भोजन करताहै शक्तिचाछनके अन्यासी उस योगीको मंडछ (४० दिन) के अनंतर प्राणायामको सिद्धिको देखतेहैं सोई कहा है कि, नासिकाके दक्षिणमार्गमें बहनेवाले प्रवनसे अत्यंत बढाया और घंटिका (कंठ) से पूर्व चंदमाके समान अमृत है शरीर जिसका ऐसा प्राण जिसके अनंतर विशालकाल और अभि ये घशमें हुई उसकुंडलीके अन्यासशील योगीको कायाको भुकृटीके छिद्दमें वर्तमान नाडीमें पहुँचकर और कायाका छेदन करके इस प्रकार पुनः अत्यंत नवीन करताहै जैसे छेदन करनेसे इस प्रकार पुनः अत्यंत नवीन करताहै जैसे छेदन करनेसे इस प्रकार पुनः अत्यंत नवीन करताहै जैसे छेदन करनेसे

कुंडलीं चालियत्वा तु भस्नां कुर्यादिशेषतः ॥ एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥१२२॥

कुंडलीमिति ॥ कुंडली चालियता शक्तिचालनं कृत्वा । अथा-नंतरमेव भक्षां भक्षारूयं कुंभकं कुर्यात् । नित्यं मितिदनम् । एवसक्त-मकारेणाभ्यसतो यमिनो योगिनो यमभीर्यमाद्भयं कुतः । न कुतोऽ-पीत्यर्थः । योगिनो देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यम् ॥१२२॥

भाषार्थ-कुंडलीको चलायमान करके उसके अनंतरही विशेषकर अह्याना-मके कुंभकप्राणायामको करे, इसप्रकार प्रतिदिन अभ्यास करताहुआ जो यमी (योगी) है उसको यमका भय कहां रहताहै, क्यों कि योगीके देहका त्याग अपने आधीन होताहै ॥ १२२॥

### द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ॥

कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनाहते ॥१२३॥ द्रासप्ततिति ॥ द्राभ्यामधिका सप्ततिः द्रासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्रासप्ततिसहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां नाडीनां मलशो-धने कर्तव्ये सति कुण्डल्यभ्यसनाच्छांकचालनाभ्यासाहते विना कुतः प्रक्षालनोपायः । न कुतोऽपि । शक्तिचालनाभ्यासेनैव सर्वासां नाडीनां मलशोधनं भवतीत्यभिप्रायः ॥ १२३॥ आधि-बहत्तर सहस्र नाडियोंकी मलशुद्धिके करनेमें शक्तिचालनके विना प्रक्षालन (धोना) का अन्य कौन उपाय है अर्थात् कोई नहीं है. शक्तिचालन-मुद्राके करनेसेही संपूर्ण नाडियोंके मलकी शुद्धि होती है।। १२३।।

### इयं तु मध्यमा नाडी हढाभ्यासेन योगिनाम् ॥ आसनप्राणसंयामगुद्राभिः सरला भवेत् ॥१२८॥

इयं त्विति ॥ इयं प्रध्यमा नाडी सुवुम्ना योगिनां हहाभ्यासेना-सनं स्वस्तिकादि प्राणसंयायः प्राणायामः सुद्रा महासुद्रादिका तैः सरहा ऋज्वी भवेत् ॥ १२४ ॥

आवि आसन प्राणायाम और महामुद्रा इनके करनेसे सरळ होजाती है ॥१२४॥

#### अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना॥ रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति॥१२५॥

अभ्यास इति ॥ समाधिनतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाश्येण मनो धृत्वांतःकरणं धारणानिष्ठं कृत्वाभ्यासे मनःस्थितौ यत्ने विगता निद्रा येषां ते तथा तेषाम् । निद्रापद्मालस्योपलक्षणम् । अनलसाना-मित्यर्थः । रुद्राणी शांभवी सुद्रा वा अथवा परान्या उन्मन्यादिका मद्रां शुभां सिद्धं योगसिद्धं प्रयच्छति ददाति । एतेन इठयोगोप-कारको राजयोगः प्रोक्तः ॥ १२५ ॥

भाषार्थ-अन्यविषयों ते वृत्तिके रोकनेसे चित्तकी एकामतारूप समाविसे भनको धारणामें स्थित करके अम्यास करनेमें जो निद्रा और आलस्यसे रहित है उनको शौभवी मुद्रा वा अन्यउन्मनी आदि मुद्रा शौभन योगसिद्धिको देती हैं इससे यह कहा कि, हठयोग राजयोगका उपकारक है॥ १२५॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा॥
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापिन शोभते॥१२६॥

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमीपचारिकश्चेषेणाह-राज-योगिमिति ॥ वृत्त्यंतरिनरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पक-वृत्ती राजयोगः। 'इठं विना राजयोगः ' इत्यत्र सूचितस्तत्साधना-भ्यासो वा तं विना तमृते पृथ्वीशब्देन स्थैर्यग्रणः राजयोगादासनं लक्ष्यते । राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धिरिति हेत्रयेऽपि योजनीयः राजयोगं विना निशेव निशा कुंभको न राजते निशायां यायेण राजजनसंचाराभावात् । निशाशब्देन याणसंचाराभावलक्षणः कुंभको लक्ष्यते । राजयोगं विना सुदा महासुद्रादिरूपा विचित्रापि विविधापि विलक्षणापि वा न राजते न शोभते । पक्षांतरे । राज्ञों नपस्य योगो राजयोगो राजसंबंधस्तं विना पृथ्वी भूमिन राजते। 'शास्तारं विना भूमो नानोपद्रवसंभवात् । राजा चंद्रः । 'सोमोऽ-स्माकं ब्राह्मणानां राजा' इति श्रुतेः । तस्य योगं संबंधं विना निशा रात्रिन राजते । राजयोगं विना नृपसंबंधं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु कियमाणश्चिह्नविशेषः। विचित्रापि । पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणापि । निशापक्षे महनक्षत्रादिभिर्विचित्रापि । सुद्रापक्षे रेखा-भिविचित्रापि न राजते ॥ १२६ ॥

भाषार्थ—अब राजयोगके विना आसन आदिकी निष्कळताको उपचारसे बर्णन करते हैं कि, अन्यवृत्तियोंको रोककर आसिविषयक जो धारावाहिक निर्विकलप मनकी वृत्ति उसे राजयोग कहते हैं और वह राजयोग—'हठके विना राजयोग वृथा है' इस वचनमें सूचित कर आये हैं उस राजयोगके वा उसके साधनोंके विना एथ्वी (स्थिरता) शोभित नहीं होतीहै यहां पृथ्वीशब्दसे स्थिरता और राजयोगयदसे आसन छेना अर्थात् राजयोगके विना परमपुरुवार्थ (मोक्ष) रूप मोक्ष नहीं होसकता. यह हेतु आगेभी सम्पूर्ण वाक्योंमें समझना और राजयोगके विना निशा शोभित नहीं होता अर्थात् निशाके समान कुंभकप्राणायाम शोभित नहीं होता है, क्योंकि जैसे निशामें राजपुरुषोंका संचार नहीं होताहै इसीपकार कुंभकमें प्राणोंका संचार नहीं होताहै इससे निशापदसे कुंभक छेते हैं और राजयोगके विना विचित्र नी मुद्रा अर्थात् अनेक प्रकारकी वा विळक्षण महामुद्रा आदि मुद्रा

शोभित नहीं होतो है पक्षांतरमें इस स्त्रोकका यह अर्थ है कि, राजाके संबंध विना रतन आदिक उत्पन्न करनेवालीभी पृथ्वीकी शोभा नहीं है क्यों कि राजाकी शिक्षाके विना नानाउपद्रव भूमिमें होते हैं और राजा (चंदमा) के संबंध विना प्रहन-नक्षत्रोंसे विचित्रभी निशाकी शोभा नहीं होती है इस श्रुतिसे यहां राजपदसे चंदमा लेते हैं कि, 'सोम हम ब्राह्मणोंका राजाहै' और राजाके योगविना मुद्राकी शोभा नहीं अर्थात् रेखा आदिसे विचित्रभी मुद्रा राजाके हाथसे किये हुये चिह्नविशेष-रूप राजसंबंधके विना प्रहण करने योग्य नहीं होती है॥ १२६॥

#### मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ॥ इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्भनीषिणा ॥ १२७॥

मारुतस्येति ॥ मारुतस्य वायोः सर्वं विधि कुंभकग्रद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत्सम्यगभ्यसेत् । मनीषिणा बुद्धि-मता पुंसा इतरत्र मारुतस्य विधेरन्यस्मिन्विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिनं कर्तव्या न कार्या ॥ १२७ ॥

भाषार्थ-प्राणवायुकी जो कुंभक मुद्रा आदि संपर्ण विधि है उसका मनसे युक्त होकर (मन लगाकर) भलीप्रकार अभ्यास करे और प्राणवायुकी विधिक्ष अन्य जो विषय उनमें मनकी प्रवृत्तिको न करे॥ १२७॥

#### इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ॥ एकैका तामु यमिनां महःसिद्धिप्रदायिनी॥१२८॥

मुद्रा उपसंहरित ॥ इतीति ॥ आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना श् मुखं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन । इत्युक्तरीत्या दश दशसंख्याकाः मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः । तासु मुद्रासु मध्ये एकेकापि प्रत्येकमिक या काचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिपदायिन्यणिमा-दिपदात्री वा ॥ १२८ ॥

आषार्थ-अब मुद्राओंकी समाप्तिका वर्णन करते हैं कि, आदिनाथ, (महा-देव ) ने ये दश मुद्रा कही हैं उन मुद्राओंमें एक १ भी मुद्रा (प्रत्येक ) अर्थात् जो कोई भुद्रा योगीजनोंको भणिमा भादि महासिद्धियोंकी प्रदायिनी ( देने-बाही ) है ॥ १२८॥

#### उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ॥ स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः॥१२९॥

मुद्रोपदेष्टारं गुरुं प्रशंसति उपदेशामिति ॥ यः प्रमान्मुद्राणां महामुद्रादीनां संप्रदायाद्योगिनां गुरुपरंपरारूपादागतं सांप्रदायक मुपदेशं दत्ते ददाति । स एव स प्रमानेव श्रीगुरुः श्रीमान् गुरुः सर्व- गुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः । स्वामी प्रमुः स एव साक्षात्प्रत्यक्ष ईश्वर एव सः। ईश्वराभिन्न एव स इत्यर्थः ॥ १२९॥

भाषार्थ-सांप्रदायिक (योगिया गुरुपरम्परासे चले आये) महामुद्रा आदिके उपदेशको जो पुरुष देताहै वही श्रीमान् गुरु अर्थात् सब गुरुओंमें श्रेष्ठहै और वहीं स्वामी अर्थात् प्रभुहै और वहीं साक्षात् परमेश्वरस्वरूप है ॥ १२९॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ॥ अणिमादिग्रणेः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥१३०॥ इति श्रीस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिका-यां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३॥

तस्येति ॥ तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरोर्वाक्यपरो वाक्यमासनकुंभका-द्यनुष्ठानविषयकं युक्ताहारविहारचेष्टादिविषयकं च तस्मिन् परस्तत्परः तत्परश्चादरवान् । आद्रश्च विहिततपःकरणं भूत्वा संभूय मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासः पौनः पुन्येनावर्तनं तस्मिन् मुद्राभ्यासे समा-हितः सावधानः पुरुषोऽणिमादिगुणैरणिमादिसिद्धिभिः सार्ध साकं कालस्य मृत्योर्वचनं प्रतारणं लभते प्राप्नोति ॥ १३०॥

इति श्रीहठमदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्झा-भिधायां मुद्राकथनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३॥

आषार्थ-तिन मुदाओंके उपदेशकर्ता गुरुके वाक्यमें अर्थात् आसन कुंभक भादिके अनुष्ठान विषयकी और युक्ताहार विहारकी चेष्टा आदि विषयोंकी आज्ञामें तत्पर ( आदरवान् ) और शास्त्रोक्त तप करनेरूप उस आदरके अनंतर बारवार महामुद्रा आदिके अभ्यासमें सावधान होकर मनुष्य अणिमा आदि सिद्धियों सहित कालके वंचनको प्राप्त होता है अर्थात् उसको सिद्धि और कालसे निर्भयता ये दोनों प्राप्त होते हैं ॥ १३०॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठयोगप्रदीपिकायां पं० मिहरचंद्रकृत-आषाविवृतिसहितायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः समाप्तः ॥ ३ ॥

#### अथ चतुर्थोपदेशः ४.

## नमः शिवाय गुरुवे नाद्बिंदुकलात्मने ॥ निरंजनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ॥ १ ॥

प्रथमदितीयतृतीयोपदेशोक्तानामासनकुंभकमुदाणां फलभूतं राज-योगं विवशुः स्वात्मारानः श्रेयांसि वहविद्यानीति तत्र विद्यबाहु-ल्यस्य संभवात्तिवृत्तये शिवाभिन्नग्रुरुनमस्कारात्मकं मंगलमाचरित॥ नम इति ॥ शिवाय सुखरूपायेश्वराभिन्नाय वा । तदुक्तम् । 'नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे' इति । गुरवे देशिकाय यदा गुरवे सर्वातर्यामितया निरिवलीपदेष्ट्रे शिवायेश्वराय । तथा च पातंजलः सूत्रम्-'स पूर्वेषामाप गुरुः कालेनानवच्छेदात्'। नमः प्रद्वीभाबोऽ-स्तु । कीहशाय शिवाय गुरवे नादिंबदुकलात्मने कांस्यघंटानिर्दा-द्वद्तुरणनं नादः । विंदुरनुस्वारोत्तरभावी ध्वनिः । कला नादैकदे-शस्ता आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा तस्मे । नाद्विंदुकलात्मना वर्त-मानायेत्यर्थः । तत्र नाद्विदुकलात्मिन शिवे गुरी नित्यं मितिदिनं परायणोऽवहितः पुमान् । एतेन नादानुसंधानपरायण इत्युक्तं पूर्वपा-देन गुरुशिवयोरभेद्श्य स्चितः । अंजनं मायोपाधिस्तद्रहितं निरंजनं

शुद्धं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं ब्रह्म याति प्रामोति । तथा च वक्ष्यति—'नादानुसंघानसमाधिभाजम्' इत्यादिना ॥ १ ॥

भाषार्थ-प्रथम, द्वितीय, तृतीय उपदेशोंमें कहे जो आसन कुंभक मुद्रा हैं उनका फल्रूप जो राजयोग है उसके कथनका अभिलाषी स्वात्माराम प्रथ-कार 'श्रेयकमोंमें बहुत विघ्न हुआ करतेहैं' इस न्यायसे अनेक विघ्नोंका संभव होसकताहै उन विह्नोंकी निर्वत्तिके लिये शिवरूप गुरुके नमस्कारात्मक मंगलको करतेहैं कि, शिवरूप अर्थात् सुखरूप वा ईश्वरूप सोई कहाहै कि, हे नाव! हे भगवन् ! शिवरूप गुरु जो आप हैं उनको नमस्कार है गुरुको अथवा सबके उपदेशक अंतर्यामिक्षपसे शिवक्षपसे ईश्वरको । सोई पातंजळस्त्रमें कहाहै कि, कालसे अवच्छेदके न होनेसे वह ईश्वर पहिले सब आचार्यांकाभी गुरु है उस गुरु वा ईश्वरको नमस्कार है, जो गुरु नादविंदुकलारूप है कांसीके वंटाके समान जो अनुरणन अर्थात् शब्द उसको नाद कहतेहैं और अनुस्वारके अनंतर जो ध्वनि होतीहै उसको विंदु कहते हैं और नादके एकदेशको कला कहते हैं ये तीनों जिस गुरु वा ईश्वरके रूप हैं अर्थात् जो नाद बिंदु कलारूपसे बतमान है और 'जिस जिस नाद बिंदु कलारूप शिवरूप गुरुमें प्रतिदिन परायण (सावधान ) मनुष्य' इस कथनसे नादके अनुसंधानमें परायण और पूर्व पादसे शिव और गुरुका भेद सूचित किया उस मायोपाधिरूप अंजनसे रहित हुई ब्रह्मपदको प्राप्त होताहै जिसको योगीजन प्राप्त होते हैं उसको पद कहते हैं सोई कहेंगे नादका जो अनुसंधानी और जो समाधिका ज्ञाता है वह योगी है-भावार्थ यह है कि, शिवरूप और नाद बिंदुकला जिसकी आत्मा है ऐसे उस गुरुको नगस्कार है जिसमें प्रतिदिन तत्वर मनुष्य शुद्धरूप ब्रह्मपदको प्राप्त होताहै।। १॥

### अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिकममुत्तमम् ॥ मृत्युन्नं च सुखोपायं ब्रह्मानंदकरं परम् ॥ २ ॥

समाधिकमं प्रतिजानीते-अथेति ॥ अयासनकुंभकमुद्राकथना-नंतरमिदानीमस्मित्रवसरे समाधिकमं प्रत्याहारादिरूपं प्रवक्ष्यामि

विंविच्य वक्ष्मामीत्यन्वयः । कीदृशं समाधिक्रमम् । उत्तमं श्रीआदिनाथोक्तसंपादनकोटिसमाधिपकारेषूत्कृष्टम् । पुनः कीहरां मृत्युं कालं इंति निवारयतीति मृत्युन्नं स्वेच्छया देह-त्यागजनकं तत्त्वज्ञानोद्यमनोनाश्चवासनाक्षयेः सुखस्य जीवन्सु-क्तिसुखस्योपायं । प्राप्तिसाधनं पुनः कीदृशं परं ब्रह्मानंद्करं मारब्धकर्मक्षये सति जीवब्रह्मणोरभेदे नात्यंतिकब्रह्मानंद्प्राप्तिरूपवि-देहमुक्तिकरम् । तत्र निरोधः समाधिना चित्तस्य ससंस्काराही-षवृत्तिनिरोधे शांतघोरमूढावस्थानिवृत्ती 'जीवन्नेवेह विद्वान् हर्ष-द्योकाभ्यां विमुच्यते ' इत्यादिश्चत्युक्तनिर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्युक्तिर्भवति । परमयुक्तिस्तु प्राप्तभोगांतेंऽतःकरणगुणानां प्रति-प्रसर्वेनौपाधिकरूपात्यंतिकनिवृत्तावात्यंतिकं स्वरूपावस्थानं प्रतिप्रस-बसिद्धम् । व्युत्यानिरोधसमाधिसंस्कारा मनिस लीयंते । मनोऽ-स्मितायामस्मिता महाति महान् प्रधान इति चित्तगुणानां प्रतिप्रसवः श्रतिसर्गः स्वकारणे लयः । ननु जीवनमुक्तस्य व्युत्थाने ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमित्यादिव्यवहारदर्शनाचित्तादिभिरौपाधिकभावजननाद्म्ले-न दुग्धस्येव स्वरूपच्यातिः स्यादिति चेन्न । संप्रज्ञातसमाधावनुभूता-त्मसंस्कारस्य तान्विकत्वनिश्चयात्। अतान्विकान्यथाभावस्याविका-रित्वाप्रयोजकत्वात् । अम्लेन दुग्धस्य दिधभावस्तु तात्त्विक इति । इष्टांतवेषम्याच पुरुषस्य त्वंतःकरणोपाधिकोऽहं ब्राह्मण इत्यादिव्य-बहारः स्फटिकस्य जपाकुसुमसन्निधानोपाधिरूपक एव न तास्विकः। जपाकुसुमापगमे स्फटिकस्य स्वस्वरूपस्थितिवद्तःकरणस्य सकल-वृत्तिनिरोधे स्वरूपावस्थितिरच्युतैव पुरुषस्य ॥ २ ॥

भाषार्थ-अब आचार्य समाधिका जो क्रम उसके वर्णनको प्रतिज्ञा करते हैं कि, इसके अनंतर अर्थात आसन कुंभकमुद्रा वर्णन करनेके अनंतर इदानीं (इस अवसरमें) प्रत्याहार आदिरूप उस समाधिके क्रमको प्रकर्षतासे (पृथकृ) कहता हूं जो समाधिका क्रम आदिनाथको कही हुई संपादन कोटिरूप समा- धियोंके प्रकारों (भेदों) में उत्तम है और जो मृत्युका निवारणकर्ता है अर्थात् अपनी इच्छासे देहके त्यागका जनक है और जो उत्पत्ति, मनका नारा, वासनाका क्षय इन तीनोंके होनेपर जीवन्मुक्तिरूप सुखका उपाय (साधन) है और जो परमब्रह्मानंदका कर्ता है अर्थात् प्रारब्ध कर्मका क्षय होनेपर जीव ब्रह्मको अभेदका ज्ञान होनेसे आत्यंतिक ब्रह्मानंदकी प्राप्तिरूप जो मुक्ति उसको करताहै । वहां प्रथम समाधिसे चित्तका निरोध होताहै और संस्कारसहित संपूर्णवृत्तियोंका निरोध होनेपर शांत घोर मृढ अवस्थाओंकी निवृत्ति होतसंते इत्यादि श्रुतियों में कही हुई कि, 'जीवता हुआ ही ज्ञानी हर्षशोकसे छूट जाता है' निर्विकार स्वरूपमें स्थितिरूप जीव-मुक्ति होजातीहै और परममुक्ति तो यह है कि, प्राप्त हुये भोगके अंतमें अंतःकरणके गुणोंका प्रतिप्रसव होनेसे भौगधिकरूपकी अत्यंत निवृत्ति होनेपर आत्यंतिक स्वरूपमें अवस्थान प्रतिप्रसबसे सिद्ध है और व्युत्थान निरोध समाधि संस्कार ये सब मनमें लीन होजाते हैं और मन अस्मि-तामें अस्मिता महान्में महान् प्रधानमें छीन होजाताहै. इसप्रकार चित्तके गुणोंका प्रतिप्रसव अर्थात् अपने २ कारणमें उयरूप प्रतिसर्ग होता है. कदाचित् कोई शंका करे कि, समाधिसे न्युत्थान ( उठना ) के समय मैं ब्राह्मण हूं मैं मनुष्य हूं इत्यादि न्यवहारके देखनेसे चित्त आदिसे औपाधिक भावके पैदाहोनेसे अम्लसे इमके समान अपने ब्रह्मस्वरूपसे च्युति ( पतन ) होजायगा-सो ठीक नहीं है क्योंकि संप्रज्ञात समाधिमें अनुभूत (ज्ञात) जो आत्मसंस्कार उसके तान्विकत्व ( यथार्थता ) का निश्चय होजाताहै और अतात्त्विक जो अन्यथाभाव है वह अधि-कारित्वका प्रयोजक नहीं होताहै-अम्छसे जो दूधका दिधमाव है वह तास्विक है इससे दृष्टांतभी विषम है-मनुष्यको तो अंत:करणरूप उपाधिसे मैं ब्राह्मण हूं इत्यादि व्यवहार होताहै—और वह स्फटिकको जपाकुसुमकी संनिधानरूप उपाधिके समा-नहीं है तात्त्विक नहीं है-जपाकुसुमके हटानेपर स्फटिककी अपने स्वरूपमें स्थितिके समान अंत:करणकी संपूर्ण वृत्तियोंके निरोध होनेपर अपने स्वरूपमें स्थिति नष्ट नहीं होतीहै अर्थात् जीवन्मुक्तिको अवस्थामें मनुष्य बहारूपमें स्थित रहताहै-भावार्थ यह है कि, इसके अनंतर उत्तम मृत्युके नाराक—सुखका उपाय और प्रम ब्रह्मानंदका जनक जो समाधिका क्रम उसको मैं अब वर्णन करताहूँ ॥ २ ॥

राजयोगः समाधिश्र उन्मनी च मनोन्मनी ॥ अमरत्वं लयस्तत्त्वं श्रुन्याशून्यं परं पद्म् ॥ ३ ॥ अमनस्कं तथाद्वेतं निरालंबं निरंजनम्।। जीवन्युक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥ ३ ॥ समाधिपर्यायान् विशेषेणाह-राजयोग इत्यादिना श्लोक-ह्रयेन ॥ स्पष्टम् ॥ ३ ॥ ४ ॥

आचार्थ-अब समाधिके पर्यायोंका वर्णन करते हैं कि, राजयोग-समाधि-उन्मनी-मनोन्मनी-अमरत्व-लय-तत्त्व-शृत्याशृत्यपरंपद-अमनरक-अहेत-निरा-ठंब- निरंजन-जीवन्मृक्ति-सहजा-तुर्या-ये सब एक समाधिकेही वाचक हैं-इन

सब भेदोंका आगे वर्णन करेंगे ॥ ३ ॥ ४ ॥

सिलले सैन्धवं यद्रत्साम्यं भजति योगतः॥ तथात्ममनसोरेक्यं समाधिरभिधीयते ॥ ६॥ यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ॥ तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥ इ॥ तत्समं च द्रयोरेक्यं जीवात्मप्रमात्मनोः ॥ प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ७॥ त्रिभिः समाधिमाइ-सिलल इति ॥ यदेति ॥ तत्समिनि॥ यहचथा सैंधवं सिंधदेशोद्धवं लवणं सलिले जले योगतः संयोगा-त्साम्यं सिंहलसाम्यं सिंहलैक्यत्वं भजति प्राप्नोति तथा तहदात्वा

समाधिरिमधीयते समाधिशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ आषार्थ-जिसप्रकार सिंध्देशमें उत्पन्न हुआ लवण जलकेविषे संयोगसे साम्यको भजता है अर्थात् जलका संयोग होनेसे जलके संग एकताको प्राप्त

च मनश्चात्ममनसी तयोरात्ममनसोरैक्यमेकाकारता । आत्मनि

भारितं मन आत्माकारं सदात्मसाम्यं भजति तादृशमात्ममनसोरिक्यं

होजाताहै तिसीप्रकारसे जो आत्मा और मनकी एकता है अर्थात् आत्मामें धारण किया हुआ मन आत्माकार होनेसे आत्मरूपको प्राप्त होजाताहै उसी आत्मा मनकी एकताको समाधि कहतेहैं जब प्राण भलीप्रकार क्षीण होजाता है और मनकाभी लय होजाताहै उस समयमें हुई जो समरसता उसकोभी समाधि कहते हैं और जीवात्मा और परमात्मा इन दोनोंकी एकतारूपकोही समता कहतेहैं और उससमय नष्ट हुये हैं संपूर्ण संकल्प जिसमें उसको समाधि कहतेहैं ॥९॥६॥७॥

# राजयोगस्य माहातम्यं को वा जानाति तत्त्वतः॥ ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिग्रेरुवाक्येन लभ्यते॥८॥

अथ राजयोगप्रशंसा—राजयोगस्येति ॥ राजयोगस्यानंतरमे-वोक्तस्य माहात्म्यं प्रभावं तत्त्वतो वस्तुतः को वा जानाति । न कोऽपि जानातीत्यर्थः । तत्त्वतो वक्तमशक्यत्वेऽप्येकदेशेन राजयोगप्रभाव-माह—ज्ञानं स्वस्वरूपापरोक्षानुभवः मुक्तिविदेहमुक्तिः स्थितिनिविकार-स्वरूपावस्थितिरूपा जीवनमुक्तिः सिद्धिरणिमादिर्ग्यरुवाक्येन गुरुव-चसा छभ्यते । राजयोगादिति शेषः ॥ ८ ॥

भाषार्थ-अब राजयोगकी प्रशंसाका वर्णन करतेहैं कि, इसके अनंतर कहे हुये राजयोगके माहात्म्यको यथार्थरूपसे कौन जानता है अर्थात् कोई भी नहीं जानता है तत्त्वसे कहनेके अयोग्य भी एकदेशरूपसे राजयोगके प्रभावको वर्णन करतेहैं कि, ज्ञान अर्थात् अपने आत्मस्वरूपका अपरोक्ष अनुभव और विदेहमुक्ति और निर्विकारस्वरूपमें अवस्थितिरूप जीवन्मुक्ति और अणिमाआदि सिद्धि ये सब गुरुके वाक्यसे प्राप्त हुये राजयोगकेद्वारा प्राप्त होतेहैं ॥ ८ ॥

#### दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ॥ दुर्लभा सहजावस्था सद्धरोः कठणां विना ॥ ९॥

दुर्लभ इति ॥ विशेषेण सिन्वंत्यवबधंति प्रमातारं स्वसंगेनेति विषया ऐहिका दाराद्य आमुष्मिकाः सुधादयस्तेषां त्यागो भोगे-च्छाभावो दुर्लभः । तस्वद्र्शनमात्मापरोक्षानुभवः दुर्लभं सहजा-

वस्था तुर्यावस्था सहुरोः 'दृष्टिः स्थिरा यस्य विनेव दृश्यम्' इति वक्ष्यमाणलक्षणस्य करुणां दयां विनेति सर्वत्र संबध्यते । दुर्लभा लब्धुमञ्चया 'दुः स्थात्कष्टनिषधयोः' इति कोञाः । ग्रुरुकृपया तुः सर्वं सुलभमिति भावः ॥ ९ ॥

अग्राषार्थ-अपने प्रमाता (भोक्ता) को जो अपने संगसे विशेष करके बांधे उन्हें विषय कहते हैं और वे विषय इसलोकके स्त्री आदि और परलोकके अमृत आदि होते हैं उन विषयोंका त्याग दुर्लभ है और आत्माके अपरोक्षानुभवरूप सस्वका दर्शन दुर्लभ है—और सहजावस्था (तुरीया अवस्था ) दुर्लभ है अर्थात् वे पूर्वोक्त तीनों सद्गुरुकों दयाके विना दुर्लभ हैं और गुरुकों दयासे तो संपूर्ण सुलभ है और सद्गुरुका स्वरूप यह कहेंगे कि, 'देखनेयोग्य पदार्थके विनाहीं जिसकों दृष्टि स्थिर हो ' वह सद्गुरु होता है ॥ ९ ॥

# विविधेरासनैः कुंभैविचित्रैः करणैरपि ॥

मबुद्धायां महाशक्तो प्राणः शून्ये प्रलीयते ॥ १०॥

विविधिरिति ॥ विविधिरनेकविधैरासनैर्मत्स्येंद्रादिपीठेविचित्रैर्नानाविधैः कुम्मकैः । विचित्रैरिति काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र संबध्यते । विचित्रैरनेकप्रकारकैः करणैईठिसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकैर्महासुद्धादिभिर्महाशक्तौ कुंडलिन्यां प्रबुद्धायां गतनिद्धायां सत्यां प्राणो वायुः
शून्ये ब्रह्मरंध्रे प्रलीयते प्रलयं प्राप्तोति । व्यापाराभावः प्राणस्य
प्रलयः ॥ १०॥

भाषाध-अनेकप्रकारके मत्स्येंद्र आदि आसन और विचित्र २ कुंभक प्राणा-याम और विचित्र अर्थात् अनेक प्रकारके हठिसद्धिमें कहे हुये महामुद्रा आदि इनसे जब महाराक्ति (कुंडिलिनी) प्रबुद्ध होजाती है अर्थात् निद्राको त्याग देती है तब प्राणवायु शून्य (ब्रह्मरेंघ्र) में लय होजाता है—और व्यापारके अमावकोही प्राणका लय कहते हैं ॥ १०॥

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तिनःशेषकर्मणः ॥ योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥ ११ ॥ उत्पन्निति ॥ उत्पन्नो जातः शक्तिबोधः कुण्डलीबोधो यस्य तस्य त्यक्तानि परिहतानि निःशेषाणि समग्राणि कर्माणि येन तस्य योगिनः । आसनेन कायिकव्यापारे त्यक्ते प्राणेद्रियेषु व्यापारित-ष्ठति । प्रत्याहारधारणाध्यानसंप्रज्ञातसमाधिभिर्मानिसकव्यापारे त्यके बुद्धौ व्यापारितष्ठिति 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेरपरिणामी शुद्धः पुरुषः सन्त्रगुणात्मिका परिणामिनी बुद्धिरिति ॥ ११॥

भाषार्थ—उत्पन हुआ है कुंडिलिनीरूप शक्तिका बोध जिसको और त्याग दिये हैं संपूर्ण कर्म जिसने ऐसे योगीको स्वयंही सहजावस्था होजाती है—क्योंिक आसन बांधनेसे देहके व्यापारका त्याग होनेपर प्राण और इंद्रियोंमें व्यापार बना रहता है और प्रत्याहार—धारणा—ध्यान—संप्रज्ञातसमाधि इनसे मानसिक व्यापारके त्याग होनेपर बुद्धिमें व्यापार टिकता है, क्योंिक इस श्रुतिमें असंग यह पुरुष है यह कहा है इससे पुरुष अपरिणामी और शुद्ध है और सत्त्वगुणरूप बुद्धि पार्रणामवाली है और उत्तमवैराग्यसे वा दीर्घकालतक संप्रज्ञात समाधिक अन्या-ससे बुद्धिके व्यापार कभी त्याग होनेपर निर्विकारस्वरूपमें स्थिति होजाती है वही सहजावस्था, तुर्यावस्था, जीवन्सुक्ति अन्यप्रयत्नके विनाही होजाती है क्योंिक इस श्रुतिमें लिखा है कि, जिससे त्यागता है उसकोभी त्यागकर बुद्धिसे संगरहित होजाय॥ ११॥

# सुषुमावादिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ॥ तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयित योगवित् ॥१२॥

परवैराग्येण दीर्घकालसंप्रज्ञाताभ्यासेनैव वा बुद्धिच्यापारे परि-त्यक्ते निर्वकारस्वरूपावस्थितिर्भवति सैव सहजावस्था तुर्यावस्था जीवन्यक्तिः स्वयमेव प्रयत्नांतरं विनैव प्रजायते प्राहुर्भवति । 'येन त्यजित तत्त्यजेति निःसंगः प्रज्ञया भवेत्' इति च श्रुतेः ॥ सुबुद्धेति । प्राणे वायौ सुषुम्नावाहिनि मध्यनाडीप्रवाहिनि सिति मानसेंऽतःकरणे शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदहीने ब्रह्मणि विश्वति साति तदा तरिमन् काले योगिविश्वच्युत्तिनिरोधृतः सर्वाणि कर्माणि सप्रारव्यानि निर्मूलानि करोति निर्मूलयति निर्मूलशब्दात् 'तत्करोति' इति णिच् ॥ १२ ॥

भाषार्थ-प्राणवायु जब सुबुम्नामें बहने लगता है और मन देश, काल वस्तुके परिच्छेदसे शून्यब्रह्ममें प्रविष्ट हो जाता है उस समय चित्तवत्तिके निरोधका ज्ञाता योगी प्रारव्धसहित संपूर्णकर्मोंको निर्भूळ (नष्ट ) करदेता है ॥ १२ ॥

#### अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः॥ पतितं वदने यस्य जगदेतचराचरम् ॥ १३॥

समाध्यभ्यासेन पारब्धकर्मणोऽप्यभिभवाजितकालं योगिनं नम-स्करोति-अमरायेति ॥ न स्त्रियत इत्यमरः । तस्मा अमराय चिरंजीविने तुभ्यं योगिने नमः। सोऽपि दुर्वारोऽपि कालो मृत्युस्तवया योगिना जितोऽभिभूतः । इदं वाक्यं नमस्करणे हेतुः । स कः यस्य कालस्य बदने मुखे एतहृश्यमानं चराचरं स्थावरजंगमं जगत्संसारः पतितः । सोऽपि जगद्भकोऽपीत्यर्थः ॥ १३ ॥

भाषार्थ-समाधिके अम्याससे प्रारव्धकर्मकाभी तिरस्कार हो जाता है इससे जिसने कालकोभी जीत लिया है उस योगीको सब नमस्कार करते हैं कि, तिस अमर (चिरजीवी) आपको नमस्कार हैं. जिसने दुःखते नित्रारण करने योग्यभी वह काछ ( मृत्यु ) जीत छिया जिस काछके मुखमें यह स्थावर जंगमरूप चराचर जगत् प्रतित है ॥ १ र ॥

## चित्ते समत्वमापन्ने वायौ वजिति मध्यमे ॥ तरामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥ १४ ॥

पूर्वोक्तममरोल्यादिकं समाधिसिद्धावेव सिद्ध चतीति समाधिनिक-पणानंतरं समाधितिद्धौ तितादिरित्याह-चित्त इति ॥ चितेंऽतः करणे समत्वं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहत्वं आपने प्राप्ते सति वायौ प्राणे मध्यमे सुषुन्नायां ब्रजात सतीति चित्तसमत्वे हेतुः। तदा तस्मिन् काले अमरोली बज्रोली सहजोली च पूर्वोक्ताः प्रजायंते नाजितप्रा-णस्य न चाजितचित्तस्य सिद्धचंतीति भावः ॥ १४॥

अग्राषार्थ-पूर्वोक्त अमरोली आदि मुद्रा समाधिके सिद्ध होनेपरही सिद्ध हो जाती है इससे समाधिनिरूपणके अनंतर समाधिके सिद्ध होनेपर उनकीभी सिद्धिका वर्णन करते हैं कि, जब अंतः करणरूप चित्त स्थान करने योग्य वस्तुके आकारहित प्रवाहको प्राप्त होजाता है अर्थात् ब्रह्माकार होजाता है और प्राण-चायु सुष्टम्नामें प्रविष्ट होजाता है अर्थात् इसप्रकार चित्तकी समता होनेपर उसकालमें अमरोली, वजोली, सहजोली ये पूर्वीक्त मुद्रा मलीप्रकार होजाती हैं और जिसने प्राण और चित्तको नहीं जीता उसको सिद्ध नहीं होती हैं॥ १४॥

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह ताव— त्राणोऽपि जीवति मनो त्रियते न यावत् ॥ प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः ॥ १५॥

हठाभ्यासं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्धचतीत्याद्द-ज्ञानिसिति ॥
यावत्याणो जीवाति । अपिशन्दादिद्धियाणि जीवंति न तु स्त्रियंते ।
यावन्मनो न स्त्रियते किंतु जीवत्येव । इडापिंगलाभ्यां वहनं माणस्य जीवनं स्वस्वविषयप्रहणिमद्धियाणां जीवनं नानाविषयाकारवृत्युत्पा-द्नं मनसो जीवनं तत्तद्भावतत्तन्मरणमत्र विविधितम् । नतु स्वरूप-तस्तेषां नाशस्तावन्मनस्यंतःकरणे ज्ञानमात्मापरोक्षानुभवः कुतः संभवति न । कर्ताषि माणंदियमनोवृत्तीनां ज्ञानमात्वंधकत्वादिति भावः । प्राणो मनः इदं द्वयं यो योगी विलयं नाशं नयेत्स मोक्षमा-त्यंतिकस्वरूपावस्थानलक्षणं गच्छति प्रामोति । ब्रह्मरंधे निन्धापार-र्यितिकस्वरूपावस्थानलक्षणं गच्छति प्रामोति । ब्रह्मरंधे निन्धापार-रियतिः प्राणस्य लयः । ध्येयाकारावेशात् । विषयांतरेणापरिण मनसो लयोऽन्यः । अलीनप्राणोऽलीनमनाश्च कथंचिद्यपायशतेनापि न मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः । तदुक्तं योगवीजे-'नानाविधैर्विचारस्तु न

साध्यं जायते मनः । तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य जय एव हिं इति । नानामार्गैः सुखदुःखप्रायं कैवल्यं परमं पदं 'सिद्धमार्गेण रुभ्येत नान्यथा शिवभाषितम्' इति च। सिद्धमार्गी योगमार्गः। प्तेन योगं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्धचतीति सिद्धम् । श्रुतिस्मृती-तिहासपुराणादिषु चेदं प्रसिद्धम् । तथाहि अथ 'तद्दर्शनाभ्युपायोः योग' इति तद्दीनमात्मद्दीनम् । 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा थीरो हर्षशोको जहाति' इति । 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेद' इति'यदा पैचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम् ॥ तां योगमिति मन्यंते स्थिरामिद्रियधारणाम् । अप्रमत्त-स्तदा भवाते' इति । 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दयोपमेनेह युक्तः प्रपद्येत् । अजं ध्रवं सर्वतस्वैविशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपादीः ॥ ब्रह्मणे त्वा महस ओमित्यात्मानं युंजीतेति त्रिरुन्नतः स्थाप्य समञ्रीरः हर्दीद्रियाणि मनसा सन्निवेश्य ब्रह्माह्रयेन प्रतरेत विद्वान् स्रोता शस्त सर्वाणि भयावहानि' इति । 'ओमित्येवं ध्यायथ भात्मानम्' इत्याद्याः श्वतयः ॥ यतिधर्मप्रकरणे मनुः-'भूतभाव्यान-बेक्षेत योगेन परमात्मनः । देइद्रयं विहायाग्र मुक्तो भवति बंध-नात् ॥' याज्ञवल्क्यस्मृतौ-'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्म-णाम् । अयं तु परमो धर्मी यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ महर्षिमातंगः-अप्रिष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय दिजसत्तमः । योगाभ्यासरतः शांतः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ब्राह्मणक्षत्रियवैशां स्त्री शूद्राणां च षावनम् । शांतये कर्मणामन्यद्योगानास्ति विमुक्तये ॥ दक्षस्मृतौ व्यतिरेकमुखेनोक्तम्-'स्वसंवेद्यं हि तद्वस्य कुमारी स्नीसुखं यथा। अयोगी नैव जानाति जात्यंघो हि यथा वटम्' इत्याद्याः स्मृतयः ॥ महाभारते योगमार्गे व्यासः-'अपि वर्गावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकां-क्षिणी। तावरयेतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥ यदि वा सर्व-धर्मज़ो यदि वाप्यकृती प्रमान्। यदि वा धार्मिकः श्रेष्ठो यदि वा मापकृत्तमः ॥ यदि वा पुरुष्टयाद्यो यदि वा क्रैब्यधारकः । नरः-

सेव्यं महादुःखं जरामरणसागरम् ॥ अपि जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मा-तिवर्तते ॥ इति ॥ भगवद्गीतायाम्-'युंजन्नेवं सदात्मानं योगी निय-तमानसः । शांति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ यत्सांख्येः प्राप्यते स्थानम्' इत्यादि च ॥ आदित्यपुराणे-'योगात्संजायते ज्ञानं योगो मरयेकचित्तता ॥' स्कंदपुराणे-आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच योगाहते नहि । स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिद्धचित ॥ कूर्मपुराणे शिववाक्यम्-'अतः परं प्रवक्ष्यामि योगं परमदुर्लभम् 🖡 येनात्मानं प्रपश्यंति भानुमंतिमवेश्वरम् । योगामिर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपंजरम् ॥ प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति ॥' गरुडपु-राणे-'तथा यतेत मतिमान्यथा स्यान्निर्दृतिः परा । योगेन लभ्यते सा तु न चान्येन तु केनचित् ॥ भवतापेन तप्तानां योगो हि परमोध-धम् । परावरप्रसक्ता धीर्यस्य निवेदसंभवा ॥ स च योगाग्निना दग्ध-समस्तक्केशसंचयः। निर्वाणं परमं नित्यं प्राप्नोत्येव न संशयः।। संप्राप्तयोगसिद्धिस्तु पूर्णो यस्त्वात्मदर्शनात् । न किंचिद्दश्यते कार्यः तेनेव सकलं कृतम् ॥ आत्मारामः सदा पूर्णः सुखमात्यांतिकं गतः ॥ अतस्तस्यापि निर्वेदः परानंदमयस्य च ॥ तपसा भावितात्मानोः योगिनः संयतेंद्रियाः । प्रतरंति महात्मानो योगेनैव महार्णवस् ॥" विष्णुधर्मेषु-'यच्छ्रेयः सर्वभूतानां स्त्रीणामप्युपकारकम् । अपि कीट-पतंगानां तन्नः श्रेयः परं वद् ॥ इत्युक्तः किपलः पूर्व देवैदेविधिभि-स्तथा । योग एव परं श्रेयस्तेषामित्युक्तवान् पुरा ॥' वासिष्ठे-'दुःसहा राम संसारविषवेगविस्चिका । योगगारुडमंत्रेण पावनेनोपशा-म्यति ॥ ' ननु तत्त्वमस्यादिवाक्येरप्यपरोक्षप्रमाणं भवतीति किमर्थम-तिश्रमसाध्ये योगे प्रयासः कार्यः । न च वाक्यजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वे प्रमाणासंभव इति वाच्यम् । तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानमपरोक्षम् । अपरोक्षविषयकत्वात् । चाक्षुषघटादिप्रत्यक्षवदित्यनुमानस्य प्रमाण-त्वात्। न च विषयगतापरोक्षत्वस्य नीरूपत्वाद्धेतुत्वसिद्धिरिति वाच्यम्। अज्ञानविषयचित्ततत्तादात्म्यापन्नत्वान्यतररूपस्य तस्य सुनिरूपत्वात् ।

यथा हि घटादौ चक्षुःसन्निकर्षेणांतःकरणवृत्तिदशायां तद्धिष्ठानचैत-न्याज्ञाननिवृत्तौ तच्चेतन्यस्याज्ञानविषयता तद्धटस्याज्ञानविषयचेतन्य-तादात्म्यापन्नत्वं चापरोक्षत्वम् । तथा तत्त्वमस्यादिवाक्येन गुद्धचेत-न्याकारांतःकरणवृत्त्युत्थापने सति तदज्ञानस्य निवृत्तत्वे नेव तत्त्वस्या-ज्ञानविषयत्वाचेतन्यस्यापरोक्षत्विमिति न हेत्विसिद्धिः । न चापयोज-कत्वं ज्ञानगम्यत्वापरोक्षत्वं प्रत्यक्षपरोक्षविषयकत्वेन प्रयोजकत्वात् । नित्विन्द्रियजन्यत्वं मनस इंद्रियत्वाभावेन सुखादिपरत्वे व्यभिचारात्। अथवाभिव्यक्तचैतन्याभिन्नतया भासमानत्वं विषयस्यापरोक्षत्वम् । अभिव्यक्तत्वं च निवृत्त्यावरणकत्वं परोक्षवृत्तिस्थले वावरणनिवृत्त्यमा-वन्नातिव्याप्तिः । सर्पादिभ्रमजनकदोषवतस्तु नायं सर्पः किंतु रज्जू-रिति वाक्येन जायमाना वृत्तिस्तु नावरणं निवर्तयतीति तत्र परोक्ष एव विषयः । वेदांतवाक्यजन्यं च ज्ञानमावरणनिवर्तकत्वाद्परीक्षमेव तन्मननादेः पूर्वमुत्पन्नम् । ज्ञाननिवर्तकप्रमाणासंभावनादिदोषसामा-न्याभावविशिष्टस्यैव तस्याज्ञाननिवर्तकत्वात् । किंच 'तं त्वीपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्वृतिप्रतिपन्नमुपनिषन्मात्रागम्यत्वं योगगम्यत्वे-नोपपत्रं स्यात् । तस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्यादेवापरोक्षमिति चेत्र । अनु-मानस्यापयोजकत्वात् । न च प्रत्यक्षं प्रति निरुक्ताक्षसामान्यं प्रतीं-द्वियत्वेन कारणतया तज्जन्यत्वस्येव प्रयोजकत्वान्नित्यानित्यसाधारण-अत्यक्षत्वे तु न किंचित्पयोजकत्विमिति। तन्मते तु अत्यक्षविद्योषे इंद्रियं कारणं तद्विशेषे च शब्द्विशेष इत्येवं कार्यकारणभावद्वयं स्यात् । न च मनसोऽनिद्वियत्वं मनस इंद्रियत्वे वाधकाभावादिंद्वि-याणां मनो नाथ इति मनुष्यमिवोद्दिश्य मनुष्याणामयं राजेत्यादिव-दिंद्रियेष्वेव किंचिदुत्कर्ष ब्रवीति । न तु तस्याप्यनिद्रियत्वं तत्त्वं च षद्स्व खंडोपाधिविशेष एव । अत एव 'कर्मेंद्रियं तु पारवादि मनी-नेत्रादि धींदियम्' इति पत्यक्षं स्यादेंद्रियकमप्रत्यक्षमतींद्रियम्' इति च शक्तिप्रमाणभूतकोशेऽपीदियाप्रमाणकज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वं वदन् मनस इंद्रियत्वज्ञापकत्वं संगच्छते । 'इंद्रियाणि दशैकं च' इति गीताव-

चनं मनस इंद्रियत्वे प्रमाणम् । किंच तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं शाब्दम् । शब्दजन्यत्वाद् 'यजेत' इत्यादिवाक्यजन्य-ज्ञानवदित्यनेनापरोक्षविरोधिशाब्दत्वसाधकेन सत्प्रतिपक्षः । न चेद्मप्रयोजकम् । शाब्दं प्रत्यव शब्दस्य जनकत्वेन लाघवमू-लकानुकूलतर्कात् । त्वन्मते तु शब्दादापि प्रत्यक्षस्वीकारेण कार्य-कारणभावद्वयकरूपने गौरवम् । अपि च मनननिद्ध्यासनाभ्यां पूर्व-मप्युत्पन्नम् । तव मते परोक्षमपि नाज्ञाननिवर्तकमित्यज्ञाननिवृत्ति प्रति वाधज्ञानत्वेनैव हेतुत्विमिति गौरवम् । मम तु समाध्यभ्यासपरि-याकेनासंभावनादिसकलमलरहितेनांतःकरणेनात्मनि दृष्टे सति दर्शन-मात्रादेवाज्ञाने निवृत्ते न कश्चिद्रौरवावकाशः । 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोतमा न प्रकाशते । दृश्यते त्वम्यया बुद्धचा स्क्षमया स्क्षमद्शिभिः। यच्छेदाङ्मनसी प्राज्ञ' इत्यारभ्याज्ञाननिवृत्त्वर्थकेन 'सृत्युमुखात्पमु-च्यते' इत्यंतेन कठवलीस्थमृत्यूपदेशेन संमतोऽयमर्थ इति न कश्चिद्त्र विवादः इति । यदि तु मननादेः पूर्वमुत्पन्नं ज्ञानं परोक्षमेवेति न पति-बद्धत्वक्रतगौरवमिति मतमाद्रियते तद्पि श्रवणादिभिर्मनःसंस्कारे सिद्धेऽव्यवहितोत्तरमात्मदर्शनसंभवात्तदुत्तरं वाक्यस्मर्णादिकल्पनं महद्रीरवापादकमेव। ननु न वयं केवलेन तर्केण शब्दजन्यज्ञानस्या-परोक्षत्वं वदामः किंतु श्रुत्यापि । तथाहि-'तं त्वीपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रत्या चौपनिषदत्वं पुरुषस्य नोपनिषज्जन्यबुद्धिव-ययत्वमात्रं प्रत्यक्षादिगम्येष्यौपनिषद्त्वे व्यवहारापत्तेः । यथा हि द्वादशकपालेऽष्टानां कपालानां सत्त्वेऽपि द्वादशकपालसंस्कृते-नाष्टाकपालादिव्यवहारः । यथा द्विप्रत्रादावेकपुत्रादिव्यवहारस्त-थात्रापि । नान्यत्र तथा व्यवहार इति । उपनिषन्मात्रगम्यत्वमेव प्रत्ययार्थः । तच मनोगम्यत्वेऽनुपपन्नमिति चेन्न । नहि प्रत्य-येनोपनिषद्भिन्नं सर्वं कारणत्वेन व्यावर्त्यते । शब्दापरोक्षवादिना त्वयाप्यातमपरोक्षे मनआदीनां करणत्वस्यांगीकारात् । किंतु पुराणा-दिशब्दांतरमेव 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः ' इति स्मरणात्स चाथीं ममापि संमत इति न किंचिदेतत् । प्रमाणांतरव्यावृत्तौ तात्पर्यकरूपनं चात्मपरोक्षे शब्दस्य प्रमाणत्वे सिद्ध एव वक्तमुचितम् । शब्दांतर-व्यावृत्तितात्पर्यं तु श्वत्यादिसंमतत्वात्कलपयितुसुचितमेव । एवं स्थिते 'मनसेवानुद्रष्टव्यं मनसेवेद्माप्तव्यम्' इत्यादिश्वतयोऽप्यांजस्येन प्रति-पादिता भवेयुः । यत्तु कैश्चिदुक्तम् । दर्शनवृत्तिं प्रति मनोमात्रस्यो-पादानत्वपरायत्ताः श्वतयो न विरुध्यंत इति तद्तीव विचारासहस् । यतः प्रमाणाकांक्षायां प्रवृत्तास्ताः कथमुपादानपरा भवेयुः । 'कामः संकल्पो विचिक्तित्सा' इत्यादिश्चत्या सावधारणया सर्वासां वृत्तीनां मनोमात्रोपादानकत्वे वोधिते आकांक्षाभावेनोपादानतात्पर्यकत्वेन वर्णायितुं कथं शक्येरम् । पूर्वं द्वितीयवल्यां प्रणवस्य ब्रह्मबोधकत्वे॰ नोक्तस्तस्याप्यपरोक्षहेतुत्विमाति शंकां निवारियतुं 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादिसावधारणवाक्यानीत्येव वर्णियतुं शक्यानि स्युरित्यलमति-वाग्जालेन । वस्तुतस्तु योगिनां समाधौ दूरविप्रकृष्टपदार्थज्ञानं सर्व-शास्त्रपासिद्धं न परोक्षम् । तदानीं परोक्षसामध्यभावात् । नापि स्मरणम् । तेषां पूर्वविशिष्याननुभवात् । नापि सुखादिज्ञानवत्साक्षि-रूपम् । अपसिद्धांतात् । नाप्यप्रमाणकं प्रमासामान्ये करणनियमात् । नापि चक्षुरादिजन्यम् । तेषामसन्निकर्षात् । तस्मान्मानसिकी प्रमेव सा वाच्येति मनस इन्द्रियत्वं प्रमाणत्वं च दूरमपह्रवमेवेति । येऽपि योगश्चत्योः समुचयं कल्पयंति तेषामापि पूर्वीक्तदूषणगणस्तद्वस्थ एव । तस्माद्योगजन्यसंस्कारसचिवमनोमात्रगम्य आत्मेति सिद्धम्। न च कामिनीं भावयतो व्यवहितकामिनीसाक्षात्कारस्येव भावना-जन्यत्वेनात्मसाक्षात्कारस्याप्रमात्वप्रसंगः । अवाधितविषयत्वातः दोषजन्यत्वाभावाच । कामिनीसाक्षात्कारस्य तु वाधितविषयत्वाद्दोष-जन्यत्वाचाप्रामाण्यं न । भावनाजन्यत्वात् । न च भावनासमाधेर्जा-पकत्वे प्रमाणांतरापातः । तस्या मनःसहकारित्वात्प्रमाणनिरूपणा-निषुणैर्नियायिकादिभिरापि योगजप्रत्यक्षस्यालौकिकप्रत्यक्षेंऽतर्भावः कृतः । योगजालौकिकसन्निकर्षण योगिनो व्यवहितविप्रकृष्टस्क्मार्थ-

मात्मानमपि यथार्थ पर्यंति । तथा च पातंजले सूत्रे-"ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात्" तत्र संभाधौ या प्रज्ञास्याः श्रतं श्रवणं शाब्दबोधः । अनुमननमनुमानं यौक्तिकज्ञानं तद्रूपप्रज्ञाभ्यामन्यविषया । कुतः । विशेषार्थत्वात् । विशेषो निर्विक-ल्पोऽथों विषयो यस्याः सा तथा तस्या भावस्तथात्वं तस्माच्छब्दस्याप-दार्थतावच्छेदकपुरस्कारेणेवानुमानस्य व्यापकत्वावच्छेदकपुरस्कारेणेव धीजनकत्वनियमेन तद्वहणे योग्यविद्योष्यमात्रपरतादित्यर्थः । अत्र बाद्रायणकृतं भाष्यम्-श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयं नह्या-गमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुं कस्मात्राहि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इत्यारभ्य समाधिपज्ञानिर्याह्य एव सविशेषो भूतस्क्ष्मगतो वा पुरुष-गतो वेति ॥ योगबीजे-'ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितें-द्रियः । विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ॥ ' किंच-'तदेव सक्तः सह कर्मणेति छिंगं मनो यत्र निषिक्तमस्य' इति श्रुतेः। 'कारणं गुणसंगोऽस्य सद्सद्योनिजन्मसु' इति स्मृतेश्च देहावसान-समये यत्र रागाचुद्बुद्धो भवति तामेव योनि जीवः प्रामोतीति योग-हीनस्य जन्मांतरं स्यादेव मरणसमये रामुद्धतवैक्रव्यस्यायोगिना वार-यितुमशक्यत्वात् । तदुक्तं योगबीजे-'देहावसानसमये चित्ते यद्य-द्विभावयेत् । तत्तदेव भवेजीव इत्येवं जन्मकारणम् ॥ देहांते कि भवे-ज्जन्म तन्न जानंति मानवाः । तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जपश्च केवलं श्रमः ॥ पिपीलिका यदा लगा देहे ज्ञानाद्विमुच्यते । असौ किं वृश्चि-कैर्द्षो देहांते वा कथं सुखी ॥ 'इति । योगिनां तु योगबलेनांतकाले-ऽप्यात्मभावनया मोक्ष एवेति न स्याज्जन्मांतरम् । तदुक्तं भगवता-'प्रयाणकाले मन्साऽचलेन भत्तया युक्तो योगवलेन चैव।' इत्या-दिना । 'शतं चैका हृदयस्य नाडचः' इत्यादि श्रुतेश्च । न च तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वे तद्विचारस्य वैयर्थ्यमेवेति शंक्यम् । वाक्यविचारजन्यज्ञानस्य योगद्वाराऽपरोक्षज्ञानसाधनत्वात् । अत्र च योगवीजे गौरीश्वरसंवादो महानस्ति ततः किचिहिर्द्यते। दें व्युवाच ॥ ज्ञानिनस्तु मृता ये वै तेषां भवति की हशी। गतिः कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे ॥ ईश्वर उवाच ॥ देहांते ज्ञानिना युण्यात्पापात्फलमवाप्यते। यादृशं तु भवेत्तत्तद्भवत्वा ज्ञानी पुनर्भवेत्।। पश्चात्युण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम्। ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा ॥ ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषि-तम् ॥ देव्युवाच ॥ ज्ञानादेव हिं मोक्षं च वदंति ज्ञानिनः सदा। न कथं सिद्धयोगेन योगः कि मोक्षदो भवेत् ॥ ईश्वर उवाच ॥ ज्ञाने-नैव हि मोक्षो हि तेषां वाक्यं तु नान्यथा । सर्वे वदंति खड्नेन जयो भवति तर्हि किम् ॥ विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात्। तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् ॥ 'इत्यादि । ननु जनकादीनां योगमंतरेणाप्यप्रतिबद्धज्ञानमोक्षयोः श्रवणात्कथं योगादेवाप्रतिबद्ध-ज्ञानं मोक्षश्चेति चेत् । उच्यते । तेषां पूर्वजन्मानुष्ठितयोगजसंस्कारा-ज्ज्ञानपाप्तिरिति पुराणादौ श्रूयते । तथाहि—'जैगीषव्यो यथा विप्रो यथा चैवासिताद्यः । क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाधाराद्यो विद्यः ॥ संपाप्ताः परमां सिद्धि पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः । धर्मव्याधादयः सप्त रादाः पेलवकादयः ॥ मैत्रेयी सुलभा शाङ्गी शांडिली च तपस्विनी । एते चान्ये च वहवो नीचयोनिगता अपि ॥ ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः ॥ ' इति । किंच । पूर्वजन्मानुष्ठितयोगाभ्यास-पुण्यतारतम्येन केचिद्रहात्वं केचिद्रहापुत्रत्वं केचिद्देविंदवं केचिद्रहा-र्षित्वं केचिन्मुनित्वं केचिद्धक्तत्वं च प्राप्ताः संति । तत्रोपदेशमंतरेणै-वात्मसाक्षात्कारवंतो भवेयुः । तथाहि-हिरण्यगर्भवसिष्ठनारदसनत्कुमा-खामदेवशुकाद्यो जन्मसिद्धा इत्येव पुराणादिषु श्रूयते । यनु ब्राह्मण एव मोक्षाधिकारीति श्रूयते पुराणादी तद्योगिपरम् । तदुक्तं गरुड-पुराणे-"योगाभ्यासो नृणां येषां नास्ति जन्मांतराहतः। योगस्य पाप्तये तेषां शूद्रवैश्यादिकक्रमः ॥ स्त्रीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येति ततो वैश्य-त्वमाप्नुयात् । ततश्च क्षत्रियो विप्रः कृपाहीनस्ततो भवेत् ॥ अनुचानः स्मृतो यज्वा कर्मन्यासी ततः परम्। ततो ज्ञानित्वमभ्योति योगी

मुक्ति कमालुभेत् ॥' इति । शूद्रवैश्यादिकमाद्योगी भूत्वा मुक्ति लमें-दित्यर्थः । इत्थं च योगे सर्वाधिकारश्रवणाद्योगोत्पन्नतस्वज्ञानेन सर्व एव मुच्यंत इति सिद्धम् । योगिनस्तु श्रष्टस्यापि न शूद्रादिकमः । 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगश्रष्टोऽभिजायते ॥ अथवा योगिनामेव' इत्यादि भगवद्यचनादित्यलम् ॥ १५ ॥

आषार्थ-अब हठाभ्यासके विना ज्ञान और मोक्ष सिद्ध नहीं होते इसका वर्णन करते हैं कि, जबतक प्राण और इंद्रिय जीवते हैं और मनभी नहीं मरता है अर्थात् जीवता है इंडा और पिंगलामें प्राणके बहनेको प्राणका जीवन और अपने २ विषयोंका ग्रहण करना इंदियोंका जीवन और नाना प्रकारके विष-योंको उत्पन्न करना मनका जीवन कहाताहै-और तिस २ भावको प्राप्त हो जानाही यहां तिस २ का मरण विवक्षित है कुछ स्वरूपसे इनका नाश विवक्षित नहीं है-तबतक मन्रूप अंतःकरणमें अपरोक्षानुभवरूप ज्ञान कैसे हो सकता है अर्थात् कदाचित्भी नहीं हो सकताहै. क्योंकि प्राण, इंद्रिय, मन इनकी जो वृत्ति हैं वे ज्ञानकी प्रतिबंधक होती हैं-और जो योगी प्राण और इन दोनोंका विशेषकर उय करदेता है वह योगी आत्यंतिक स्वरूपमें स्थितिरूप मोक्षको प्राप्त होताहै-और ब्रह्मरंधमें जो विना व्यापार प्राणकी स्थिति वहीं प्राणका लय कहाता है और ब्रह्मसे भिन्न विषयों में ज्यापाररहित होनाही मनका लय कहाता है और जो अन्य है अर्थात् जिसके प्राण और मनका छय नहीं हुआहै वह योगी सैकडों उपायोंसेभी किसीप्रकार मोक्षको प्राप्त नहीं होताहै सोई योग-बीजमें कहाहै कि, नानाप्रकारके विचारोंसे तो मन साध्य नहीं होताहै तिससे तिस मनका जयही प्राणका जय है अनेकप्रकारके मागाँसे बहुधा जिसमें सुख-दुःख है वह जन्म होताहै और योगमार्गसे कैवल्य (मोक्ष) रूप परमपद मिछताहै अन्यथा नहीं मिछताहै यह शिवजीका कथन है इससे यह सिद्धभया कि, योगके विना ज्ञान और मोक्ष सिद्ध नहीं होते हैं और श्रुति, स्मृति, इति-हास, पुराण आदिकों में भी यही प्रसिद्ध है कि इसके अनंतर आत्मदर्शनका उपाय योग है और अध्यात्मयोगकी प्राप्तिसे देवको मानकर धीरमनुष्य हर्ष और शोकको त्यागताहै और श्रद्धा भक्ति ध्यान योगसे आत्माको जानता

अया-और जब मनसहित पांचों ज्ञान इंद्रिय विषयोंसे रहित टिकती हैं और बुद्धि भी चेष्टा न करती हो उसको परमगित योगीजन कहते हैं-और उस स्थिर इंदियोंकी धारणाकोही योग मानते हैं और उससमय योगी अप्रमत्त होजाताहै और जीव दयावान् आत्मतत्त्व ( आत्मज्ञान ) से योगी ब्रह्मतत्त्वको देखताहै तव अज और नित्य जो संपूर्णतत्त्वोंसे विशुद्ध देव है उसको जानकर संपूर्णबंघनोंसे छुटता है ब्रह्मरूप तेज तुझ आत्माकी ओंकाररूपसे उपासना करै-और तिन उन्नत (सीधे) और सम शरीरको स्थापन करके और मन सहित इंद्रियों को इदयमें प्रविष्ट करके ब्रह्मनामसे भयके दाता संपूर्ण स्रोतोंको विद्वान् योगी तरै-ओंकाररूपसे आत्माका ध्यान करो-और यतिधर्म-प्रकरणमें मनुने लिखा है कि, परमात्माके योगसे भूत और भावि पदार्थोंको देखे तो स्थ्ल सूक्ष्मरूप दोनों देहोंको शीव्र त्यागकर बंधनसे छुट जाताहै-याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें लिखाहै कि, यज्ञ, आचार, इंद्रियोंका दमन, अहिंसा, दान, स्वाध्याय, कर्म-इनका यही परमधर्म हैं कि, योगसे आत्माको देखना-मातंगमहर्षिका वाक्य है नाह्मण अमिष्टोम आदि संपूर्ण यज्ञोंको छोडकर योगाभ्यासमें तत्वर हुआ शांत होकर परब्रह्मको प्राप्त होताहै । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री और शूद्र इनके छिये पवित्रक्तमोंकी शांति और मुक्तिके अर्थ योगसे अन्य कोई वस्तु नहीं है--दक्षसम्-तिमें निषेधमुखसे कहाहै कि, स्वसंवेद्य (स्वयं जानाजाय) जो वह ब्रह्म उसको योगीसे भिन्न इस प्रकार नहीं जानते हैं जैसे कुमारी (कन्या ) स्त्रीके सुखको और जन्मांघ घटको नहीं जानताहै-इत्यादि स्मृतियोंमें और महाभारतमें भी योग-आर्गमें न्यासने कहाहै कि, वर्गावकृष्ट (पतित) वा धर्मकांक्षिणी नारी हो वे दोनों भी इस मार्गसे परमगतिको प्राप्त होते हैं संपूर्णधर्मोंका ज्ञाता हो वा अकृती (पुण्य-हीन ) हो धार्मिक हो वा अत्यंत पापी हो पुरुष हो वा नपुंसक हो ऐसा मनु-च्यभी जरामरणसमुद्रके महादुःखके सेवनके जाननेका अभिलाषी शब्दबह्मका अवलंबन करताहै भगवद्गीतामें भी लिखा है कि, वशीभूत है मन जिसके ऐसा मनुष्य सदा इसप्रकार आत्मयोगको करता हुआ मेरेमें स्थितिरूप और मोक्ष है परम जिसमें ऐसे शान्तिक्र स्थानको प्राप्त होताहै जो स्थान सांख्योंको प्राप्त होताहै उसीमें योगीभी जाते हैं-आदित्यपुराणमें लिखा है, कि योगसे ज्ञान होताहै

और मेरेमें एक रस चित्त रखनेको योग कहते हैं। स्कंदपुराणमें लिखा है कि. आत्मज्ञानसे मुक्ति होती है वह आत्मज्ञान योगके विना नहीं हो सकता और वह योग चिरकालके अभ्याससेही सिद्ध होताहै-कूर्मपुराणमें शिवजीका वाक्य है कि, इससे आगे परमदुर्छम योगको कहताहुँ जिससे सूर्यके समान ईश्वर आत्माको योगी देखते हैं योगरूप अमि शीव्रही संपूर्ण पापके पंजरको दग्ध करती है और प्रसन्न ज्ञान होताहै और ज्ञानसे मोक्ष होजाताहै-गरुडपुराणमें कहा है कि. बुद्धिमान् मनुष्य तिसप्रकार यत्नकरै जैसे परमसुखहो और वह सुख योगसे मिल-ताहै अन्य किसीसे नहीं-संसारके तापोंसे तपायमान मनुष्योंके छिये योग परम औषघ है जिसकी निर्वेद (वैराग्य ) से उत्पन्न हुई बुद्धि परभवरमें प्रकृत हैं योगरूप अमिसे दग्धहरो हैं समस्त क्षेत्रासंचय जिसके ऐसा वह परमनिर्वाणपदको सदैव प्राप्त होताहै इसमें संशय नहीं है-प्राप्त हुईही है योगसिद्धि जिसको उसको और आत्माके दर्शनसे पूर्ण जो है उसको कुछभी कर्तव्य नहीं देखते उसने सब-कर लिया-आत्माराम और सद्दा पूर्णरूप और आत्यंतिक सुखको प्राप्त है इससे परमानंदरूप उसको निर्वेद ( सुख ) होजाताहै-तपसे जानाहै आत्मा जिन्होंने और वशमें हैं इन्द्रियें जिनके ऐसे महातमा योगीजन योगऐही महासमुद्र (जगत्) को तर जातेहैं-और विष्णुधमोंमें छिखाहै कि, जो सब मूर्तोंका श्रेय है और ब्रियोंका और कीट पतंगोंका भी उपकार है उस परमश्रेयको हमारे प्रति कहो. इसप्रकार देव और देवर्षियोंने कहाहै जिनको ऐसे कपिल्मुनि पहिले समयमें योगकोही श्रेय कहते भये-त्रासिष्ठमें लिखा है कि, हे राम! संसारके विषका जो वेग उसकी विसूचिका दु:सह है वह योगरूप और पवित्र गारुडमंत्रसेही शांत होती है कदाचित कोई शंकाकरे कि तत्त्वमिस आदि महावाक्योंसे भी अपरोक्ष प्रमाण (ज्ञान) होताहै तो किसलिये अत्यंतश्रमसे साध्ययोगमें प्रयास करते हो-फदाचित् कहो कि बाक्यसे जन्य ज्ञानके अपरोक्ष होनेमें प्रमाणका असंभव है सो नहीं-क्योंकि, तत्त्वमिस आदि वाक्योंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान-अपरोक्ष है-अपरोक्ष विषयक होनेसे—चक्षुसे हुये घट आदिके प्रत्यक्षकी तुल्य यह अनुमान प्रमाण है। कदाचित् कहो कि, विषयकी अपरोक्षताके नीरूप (रूपहीन) होनेसं हेतुकी असिद्धि है सो ठीक नहीं, क्योंकि अज्ञानका विषय चित्त, और चित्तके संग

तादात्म्यरूपको प्राप्तत्व, ये दोनों हें रूप जिसके ऐसी जो विषयकी अपरोक्षता वह भलीप्रकार निरूपण करने योग्य है जैसे घट आदिमें जब चक्षुकी संनिकर्ष-द्शामें उसके अधिष्ठानरूप चैतन्यकी अज्ञाननिवृत्तिके होनेपर उसका चैतन्य अज्ञानका विषय होना, और उस घटका अज्ञान विषय चैतन्यके संग तादा-तम्यकी प्राप्ति होना, ये दोनों अपरोक्ष हैं-तिसीप्रकार तत्त्वमिस आदि वाक्योंसे शुद्ध चैतन्याकार वृत्तिके होनेपर उसके अज्ञानकी निवृत्ति होनेसेही तत्त्व अज्ञान नका विषय नहीं रहा इससे चैतन्य अपरोक्ष है इससे हेतुकी असिद्धि नहीं है-कदाचित् कहो कि, हेतु अप्रयोजक है अर्थात् अपने साध्यको सिद्ध नहीं कर-सकता, अपरोक्षता ज्ञानसे होती है इससे प्रत्यक्ष जो परोक्ष उसका विषयक होनेसे हेतु प्रयोजक है कुछ इंद्रियजन्यही अपरोक्ष नहीं होता, क्योंकि मन इंद्रिय नहीं है उसकोभी सुख आदिकी विषयकता होनेसे व्यभिचार होजायगा अथवा अभिव्यक्त (प्रकट) चैतन्यके अभिन्नरूपसे जो भासमान होना वहीं विषयकी अपरोक्षताहै और आवरणकी निवृत्ति होनेकोभी अभिव्यक्त कहतेहैं-और परोक्ष वृत्तिके स्थलमें आवरण निवृत्तिका अभाव है इससे वहां अतिन्याप्ति-रूप दोष नहीं है-जो मनुष्य रज्जु आदिमें सर्प आदि भ्रमके उत्पादक दोष-वाटा है उसको जो यह सर्प नहीं किंतु रज्जु है इस वाक्यसे उत्पन्न हुई जो वृत्ति वह आवरणको निवृत्त नहीं करती है इससे वहां परोक्षही विषय है और वेदांतके वाक्योंसे जो ज्ञान उत्पन्न होताहै आवरणका निवर्तक होनेसे वह अप-रोक्षही है, क्योंकि वह मनन आदिसे पूर्व उत्पन हुआहै और ज्ञाननिवर्तक प्रमा-णकी असंभावना आदि संपूर्ण दोषोंके अभाव विशिष्टही उस वेदांतवाक्योंसे जन्यज्ञानको अज्ञानको निवर्तकताहै और उस उपनिषदौंसे प्रतिपादन किये पुरु-पको पूछताहूं इस श्रुतिसे प्रतिपन्न (सिद्ध ) उपनिषद मात्रसे जो जाना जाताहै वह योगसेही जानाजायगा तिससे तत्त्वमसि आदि वाक्यसेही अपरोक्षज्ञान होताहै—सो ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमान अप्रयोजक है, क्योंकि प्रत्यक्षके प्रति और पूर्वोक्त अक्ष ( इन्द्रिय ) सामान्यके प्रति इंद्रियरूपसे कारणताहै इससे इंद्रियसे जन्यत्वहीं प्रयोजक है और नित्य अनित्य साधारण प्रत्यक्षमें तो कुछ प्रयोजक नहीं होताहै और उनके मतमें तो किसी प्रत्यक्षमें इंद्रिय कारण हैं

और किसी प्रत्यक्षमें शब्दविशेष कारण है इसप्रकार दो कार्य कारणभाव होजायँगे अर्थात् एक कार्यके दो कारण मानने पडेंगे-कदाचित् कहो कि मन इंद्रिय नहीं है सो भी नहीं क्योंकि, मन इंद्रियोंका नाथ है यह वचन मनुष्यके समान उद्देश करके मनुष्योंका यह राजाहै इसके समान मनुष्योंमें ही कुछ उत्कर्षको कहताहै कुछ मनको इंद्रियभिन नहीं कहताहै और तत्त्व तो यह है कि, मन इन्द्रियोंमें एक अखंडोपाधिरूपही है इसीसे पायु (गुदा) आदि कमेंद्रिय और मन नेत्र आदि ज्ञानेंद्रिय हैं और जो प्रत्यक्षहो वह ऐद्रियक भीर जो अप्रत्यक्ष हो वह अतींद्रिय कहताहै इन शक्तिके निर्णायक कोशोंमें इंद्रियाप्रमाणक ज्ञानको अप्रत्यक्ष कहते हुये मनको इंद्रिय होना प्रतीत कराते हैं और दश और एक इंद्रिय है यह गीता वचनभी मनके इंद्रिय होनेमें प्रमाण है-और तत्त्वमिस आदि वाक्योंसे पैदा हुआ ज्ञान-शब्दसे उत्पन है, शन्दसे उत्पन होनेसे, -यज्ञ करै इत्यादि वाक्योंसे उत्पन ज्ञानके समान-इस अप्रत्यक्ष विरोधि शब्दजन्यके साधक अनुमानसे सत्प्रतिपक्षभी है विरोधि पदा-र्थके साधक हेतुको सत्प्रतिपक्ष कहतेहैं-कदाचित् कहो कि, यह अनुमान अप्रयोजक है सोभी नहीं क्योंकि शब्दजन्य ज्ञानकाही शब्द जनक होताहै यह लाघवमूलक अनुकूल तर्क इस अनुमानमेंहै-तरे मतमें तो शब्दसेभी प्रत्यक्षके स्वीकार करनेसे दो कार्य कारण भाव होजायँगे इससे गौरवहैं-और मनन, निदि-ध्यासनसे पहिले भी उत्पन है और तेरे मतमें परोक्षभी, उक्तज्ञान अज्ञानका निव-र्तक नहीं होगा इससे अज्ञाननिवृत्तिके प्रति बाधज्ञानरूपसेही हेतु मानना पडेगा यह भी गौरव है, मेरे मतमें तो समाधिका जो अभ्यास उसके पारिवाकसे असं-भावना आदि संपूर्ण मर्छोंसे रहित अर्थात् अंतःकरणसे आत्माके देखनेपर और दर्शनमात्रसेही अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है इससे कोई भी गौरवका अवकाश नहीं है--और संपूर्ण भूतोंमें यह गुप्त आत्मा प्रकाशित नहीं होता है, परंतु सूक्ष्म-दर्शी मनुष्य इस आत्माको सूक्ष्म और मुख्य जो बुद्धि उससे देखते हैं-धीर मनुष्य बाणी और मनको रोके इन वचनोंसे छेकर अज्ञानकी निवृत्ति है अर्थ जिसका ऐसे इस कठवलीके मृत्युके मुखसे छुटताहै मृत्युके उपदेशकोभी यह बात संमत है इससे इसमें कोई विवाद नहीं है-और यदि मनन आदिसे पूर्व

उत्पन हुआ ज्ञान परोक्षही है इससे प्रतिबंधका किया गौरव नहीं है इस सतको मानोंगे तो तब भी श्रवण आदिसे मनका संस्कार सिद्ध होनेपर उसके अनंतर कालहीमें आत्माका दर्शन संभव है इससे उसके अनंतर वाक्योंके स्मरण आदिको कल्पना करनेमें भी महान् गौरवहै-कदाचित् शंका करो कि हम केवळ तर्कसं रान्दजन्य ज्ञानको अपरोक्ष नहीं कहतेहैं किंतु श्रुति भी कहती है सोई दिखातेहैं कि, उस उपनिषदोंसे कहे हुये पुरुषको मैं पूछता हूँ इस श्रुतिसे जो पुरुषको औप-निषद्रूप कहाहै वह कुछ उपनिषदों से उत्पन्न जो बुद्धि उसकी विषयमात्र नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदिसे जानने योग्यमें औपनिषद् यह व्यवहार होजायगा जैसे बारह कपालोंमें आठ कपालोंके होनेपरभी द्वादश कपालोंमें संस्कार किये पदार्थमें आठ कपालोंमें संस्कृत यह व्यवहार नहीं होताहै और जैसे द्विपुत्र मनुष्यमें एक-पुत्र व्यवहार नहीं होताहै तैसेही यहां भी समझना और अन्यत्र तैसा व्यवहार नहीं होताहै इससे उपनिषद्मात्रसे जानने योग्यही यहां प्रत्ययका अर्थ है और मनसे जानने योग्य आत्माको मानोंगे तो वह सिद्ध नहीं होगा यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्ययसे, उपनिषद्से भिन्न जो सवकारण हैं उनकी निवृत्ति (निषेध) नहीं होती है, क्योंकि शब्दके अपरोक्षवादी अपने भी आत्माके परोक्षज्ञानमें मन आदि करण माने हैं किंतु प्रत्ययसे पुराण आदि जो अन्य राव्द हैं उनकाही व्यावृत्ति होती है, क्योंकि श्रुतिके वाक्योंसे आत्मा सुनने योग्य है यह कहाहै और वह अर्थ मुझे भी संमत है इससे आपका कथन तुच्छ है और प्रमाणांतरकी व्यावृत्तिमें श्रुतिके तात्पर्यकी कल्पना तभी कहनी योग्य है जब शब्दरूप प्रमाण सिद्ध होजाय और पुराण आदि शब्दांतरकी व्या-वृत्तिमें तात्पर्य तो श्रुति आदिका संमत होनेसे कल्पना करनेको उचितही है ऐसा सिद्ध होनेपर यह आत्मा मनसेही देखने योग्य हैं इत्यादि श्रुतिभी अनायाससे लगसकती है जो किसीने यह कहा है कि, दर्शनवृत्तिके प्रति जो मनमात्रकोही उपादान कहती हैं उन श्रुतियोंके संग कुछ विरोध नहीं है। यह उनका कहना तो अत्यंतही विचारमें नहीं आसकता क्योंकि, प्राणकी आकांक्षामें प्रवृत्त हुई वे श्रुति उपादानमें तत्पर कैसे होसकती हैं क्योंकि काम, संकल्प, विचिकित्सा ( संदेह ) ये सब मनहींसे हैं इत्यादि श्रुतिसे निश्चयपूर्वक सब वृत्तियौंका मनकोही

उपादान कारण बोधन करदिया तब आकांक्षाके अभावसे उपादानमें तात्पर्यको श्रुति कैसे वर्णन करसकती हैं। पहिले दूसरी बल्लीमें औंकारको ब्रह्मबोधक कहा है इससे ओंकारभी अपरोक्षज्ञानका हेतु होजायगा, इस शंकाके निवारण करनेके लिये मनसे ही आत्मा देखने योग्य है. इत्यादि निश्वायक वचन हैं इसरीतिसे संपूर्ण श्रुति वर्णन करने ( लगाने ) को शक्य हैं इसप्रकार वाक्जालसे अलं है अथीत् वाणीके जालको समाप्त करते हैं सिद्धांत तो यहहै कि, योगियोंको समा-धिकेविषे दूर और विप्रकृष्टपदार्थोंका जो ज्ञानहै संपूर्ण शास्त्रोंमें प्रसिद्ध वह ज्ञान परोक्ष नहीं है, क्योंकि उससमय कोई परोक्षकी सामग्री नहीं है और स्मरण भी नहीं है क्योंकि उनका पहिले पृथक् २ अनुभव नहीं है और सुखआदिके ज्ञान समान वह साक्षिस्वरूपभी नहीं है क्योंकि इसमें सिद्धांतका विघात है और प्रमाण-रहितभी नहीं है क्योंकि संपूर्ण प्रमाणोंमें कारणका नियम है और चक्कुआदिसे उल्ल भी वह ज्ञान नहीं है क्योंकि चक्षुआदिका उस समय संनिकर्ष नहीं है तिससे वह मानिसक प्रमाही कहनी चाहिये इससे मन प्रमाणरूप और इंद्रिय है यह निर्दोषहै-और भी जो योग और श्रुतिके समुचयक्ती कल्पना करते हैं उनके भी मतमें पूर्वीक्त दूषणोंका गण तदवस्थही है तिससे यह सिद्धभया कि, योगजन्य संस्कारहै सहायक जिसका ऐसे मनसेही आत्मा जानने योग्यहै कदाचित् कोई कहै कि, कामिनीकी भावना करनेवाले पुरुषको जैसे व्यवहित (दूरस्थित) कामि-नीका साक्षात्कार अप्रमा होताहै इसीप्रकार भावनासे उत्पन्न आत्मसाक्षात्कारभी अप्रमा होजायगा सोभी ठीक नहीं क्योंकि आत्मसाक्षात्कारका विषय (आत्मा) बाधित नहीं है और न दोषसे जन्य है कामिनीका साक्षात्कार तो बाधित विषयक है और दोषजन्यभी है इससे अप्रमाणहै तिससे भावनासे जन्य आत्मसाक्षात्कार अप्रमाण नहीं है कदाचित् कहो कि, भावनाको समा-चिका ज्ञापक मानोगे तो यह भी एक प्रमाण हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि, भावना मनकी सहकारिणीहै इससे प्रमाणके निरूपणमें अनिपुण नैयायिक आदि-कोंने भी योगजप्रसक्षका अलौलिक प्रसक्षमें अंतर्भीव किया है और योगसे उत्पन्न हुये अछौलिक संनिक्षेसे योगीजन व्यवहित विप्रकृष्ट और सूक्ष्म पदार्थरूप भी आत्माको यथार्थरीतिसे देखते हैं—सोई इस पातंजलसूत्रमें कहाहै कि, उक्त समा- विमें जो सत्यप्रज्ञा ( बुद्धि ) है उसके शाब्दबोध और अनुमानसे अर्थात् युक्ति-सिद्रज्ञान है उनसे वह प्रज्ञा अन्यविषयक होजाती है अर्थात् भिन्न अर्थकोभी विषय करलेती है क्योंकि उसका विषय निर्विकल्प अर्थ है-तिससे शब्द पदार्थ वृत्तिधर्म ( घटत्व आदि ) पुरस्कारके विनाही और अनुमानव्यापकमें वर्तमान धर्मके पुरस्कार ( ज्ञान ) सेही बोधके जनक नियमसे है इससे अर्थके प्रहणमें योग्य विशेष्यमेंही तत्पर है अर्थात् योगविषयकोही प्रहण करते हैं-यहां व्यासजीका रचा यह भाष्यहै कि, श्रुतनाम आगमविज्ञान है-वह आगमविज्ञान सामान्य विषय हैं क्योंकि आगम विशेषको नहीं कहसकता, क्योंकि विशेषरूपसे शब्दका संकेत नहीं होताहै-इससे आरंभ करके समाधि प्रज्ञासे भलीप्रकार प्रहण करने योग्य वह विशेष है और वह पुरु-वगत है वा भूतस्क्ष्मगत है-योगबीजमें कहाहै कि, ज्ञाननिष्टहो वा विरक्तहो धर्मज्ञहो वा जितेंद्रियहो योगके विना देव भी हे प्रिये! मोक्षको प्राप्त नहीं होता है और यह श्रुति भी है कि, कर्मके संग उसीबातके करनेमें यह मनुष्य असक हैं जिसमें इसका मनरूप लिंग प्रविष्ट है और स्मृति भी है कि सत् असत् योनि-योंके जन्मोंमें इसको गुणोंका संगही कारण है-देहके मरणसमयमें जिसविषयमें राग आदिसे उद्बुद्ध होताहै उसीयोनिको जीव प्राप्त होताहै इससे योगहीनका अन्य जन्म होताही है, क्योंकि मरणके समयमें हुई जो विक्रवता उसको अयोगी नहीं हटा सकता है सोई योगवीजमें कहाहै कि, देहके अंतसमयमें जिस २ को विचारता है वही वह जीव होजाता:है यही जन्मका कारण है देहके अंतमें कौन जन्म होगा यह मनुष्य नहीं जानते हैं-तिससे ज्ञान, वैराग्य, जप ये केवल अम हैं-जब पिपीलिका (चेटी) देहमें लगजाती है और ज्ञानसे छुटजाती है तो वृश्चिकोंसे डसा हुआ यह जीव देहके अंतमें कैसे सुखी हो सकताहै-योगियोंको तो योगके बलसे अंतकालमें भी आत्मविचारसे मोक्षही होताहै जन्मांतर नहीं, होता है सोई भगवान्ने कहा है कि मरण समयमें अचल मनसे भक्तिसे युक्त चा योगके बलसे मौक्ष होताहैं और यह श्रुतिभी है कि एकसौ एक हृदयकी नाडी हैं कदाचित् कही कि, तत्त्वमिस आदि वाक्यको अपरोक्षज्ञानका जनक मानोगे तो उसका विचार करना व्यर्थ है, सो ठीक नहीं क्योंकि वाक्यके

विचारसे उत्पन्न जो ज्ञान है वह योगके द्वारा अपरोक्ष साधन है इसविषयमें योगबीजमें गौरी और महादेवका बहुत संवादहै उसमें से कुछ यहां लिखते हैं कि पार्वती बोळी जो ज्ञानी मरते हैं उनकी कैसी गति होती है-हे देवेश! हे दयारूप अमृतके समुद्र! इसको कहो, ईश्वर बोले कि, देहके अंतमें ज्ञानीको पुण्य पापसे जो फल प्राप्त होता है उसको भोगकर किर ज्ञानी होजाताहैं किर पुण्यसे सिद्धोंके संग संगतिको प्राप्त होता है किर सिद्धोंकी क्रपासे योगी होताहै अन्यथा नहीं होता, फिर संसार नष्ट होजाता है अन्यथा नहीं । यह शिवका कथनहै, पार्वती बोली ज्ञानी सदा ज्ञानसेही मोक्षको कहते हैं तो सिद्धयोगसे योग मोक्षका दाता कैसे होजाता है ? ईश्वर बोले ज्ञानसं मोक्ष होताहै यह उनका वचन अन्यथा नहीं है-जैसे सब कहते हैं कि, खड़्नसे जय होताहै तो युद्ध और वीर्यके विना जयकी प्राप्ति कैसे होगी-तैसेही योगरहित ज्ञानसे मोक्ष नहीं होताहै इत्यादि-कदाचित कोई शंका करै कि, जनक आदिकोंको योगके विनाही प्रतिबंध रहित ज्ञान और मोक्ष सुने जाते हैं तो कैसे योगसेही प्रतिबंधरहित ज्ञान और मोक्ष होंगे-इसशंकाका उत्तर देतेहैं कि, उनको पूर्वजन्ममें किये योगसे उत्पन्न जो संस्कार उससे ज्ञानकी प्राप्ति पुराण आदिमें सुनी जाती हैं सोई दिखा-तेहैं कि जैसे जैगीषव्य ब्राह्मण और असित आदि ब्राह्मण और जनक आदि क्षत्रिय और तुलाधार आदि वैश्य ये पूर्वजनमें किये अभ्यासके योगसे परमसिद्धिको प्राप्त हुये और धर्मव्याध आदि सात शूद पैलवकआदि—और मैत्रेयी सुलमा शार्झी— शांडिली ये तपस्विनी-ये और अन्य बहुतसे नीचयोनिमें गतभी पूर्वजन्ममें किये अभ्यासके योगसे प्रमज्ञाननिष्ठाको प्राप्त हुये-और पूर्वजन्ममें किये योगके पुण्यके अनुसार कोई ब्रह्मा कोई ब्रह्माके पुत्र कोई देवर्षि कोई ब्रह्मार्थ कोई मुनि कोई भक्तरूपको प्राप्त हुये हैं-और उपदेशके विनाही आत्मसाक्षात्कारवाले हो जायँगे सोई दिखातेहैं कि हिरण्यगर्भ, विसष्ठ, नारद, सनत्कुमार, वामदेव, शुक आदि ये पुराण आदिमें जन्मसेही सिद्ध सुनेहैं और जो पुराण आदिमें यह सुनाहै कि, ब्राह्मणहीं मोक्षका अधिकारी है-वह योगीसे भिन्नके विषयमें समझना सोई गरुडपुराणमें कहाहै कि, जन्मतिरमें किया योगाभ्यास जिन मनुष्योंको नहींहै उनको योगप्राप्तिके लिये शूद्र वैश्य आदिका कम है वे स्त्रीसे शूद्र होतेहैं और शूद्रसे वैश्य होतेहें और दयासे रहित क्षत्रिय होजाते हैं फिर अनूचान (विद्या-वान् )-यज्ञका कर्ता-फिर कर्मसंन्यासी होते हैं फिर इानी योगी होकर क्रमसे मुक्तिको प्राप्त होजाते हैं अर्थात् राह्र वैश्य आदि क्रमसे योगी होकर मुक्तिको प्राप्त होजातेहैं इसप्रकार सब जातियों का अधिकार सुननेसे योगसे उत्पन्न तत्त्व-ज्ञानके द्वारा सब मुक्त होते हैं यह सिद्ध भया-और अष्टभी योगीको तो शृद्ध आदिका कम नहीं है क्योंकि भगवान्का यह वचनहै कि, योगसे अष्टमनुष्य, शुद्ध जो धनी उनके कुलमें पैदा होताहै अथवा बुद्धिमान योगियोंके कुलमें वैदा होताहै-इतिअलम्-भावार्थ यहहै कि, जबतक प्राण जीवे और मन न मरे तबतक इसलोकमें ज्ञान कहांसे होसकता है और जो मनुष्य प्राण और मनका लयकरहे वह मोक्षको प्राप्त होता है अन्यमनुष्य किसीप्रकार भी प्राप्त नहीं होताहै ॥ १५॥

### ज्ञात्वा सुषुम्रासद्रेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम्।। स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरंधे निरोधयेत् ॥ १६॥

प्राणमनसोर्लयं विना मोक्षो न सिध्यतीत्युक्तम् । तत्र प्राणलयेन मनसोऽपि लयः सिध्यतीति तल्लयरीतिमाह-ज्ञात्वेति ॥ सदैव सर्वदैव सुस्थाने शोभने स्थाने 'सुराज्ये धार्मिके देशे' इत्याद्यक्तलक्षणे स्थित्वा स्थिति कृत्वा वसित कृत्वेत्यर्थः । सुषुम्ना मध्यनाडी तस्याः सद्भेदं शोभनं भेदनप्रकारं ज्ञात्वा गुरुमुखादिदित्वा वायुं प्राणं मध्यगं मध्यनाडीसंचारिणं कृत्वा ब्रह्मरंधे मुर्धावकाशे निरोधयेन्नितरां रुद्धं कुर्यात् । प्राणस्य ब्रह्मरंधे निरोधो लयः प्राणलये जाते मनोऽपि लीयते । तदुक्तं वासिष्ठे-'अभ्यासेन परिस्पंदे प्राणानां क्षयमागते । मनः प्रशाममायाति निर्वाणमविशष्यते ॥ इति । प्राणमनसोर्लये सति भावनाविद्येषरूपसमाधिसहकृतेनांतःकरणेनाबाधितात्मसाक्षा-त्कारो भवति तदा जीवन्नेव मुक्तः पुरुषो भवति ॥ १६ ॥

भाषार्थ-प्राण और मनके लयविना मोक्ष सिद्ध नहीं होता यह कहा उनमें प्राणके लयसे मनकाभी लय सिद्ध होताहै इससे प्राणके लयकी रीतिका वर्णन करतेहैं कि, सदैव उत्तमस्थानमें अर्थात् उत्तमराज्य और धार्मिकदेशमें स्थित होकर सुषुम्ना नाडीके मेदनको भलीप्रकार गुरुमुखसे जानकर और प्राणवायुको मध्यनाडीमें गत ( संचारी ) करके ब्रह्मरंध्र ( मूर्झांके अवकाश ) में निरुद्ध करे ( रोके ) प्राणका ब्रह्मरंध्रमें जो निरोध वहीं लय है और प्राणके लय होनेपर मनका भी लय होजाताहै सोई वासिष्ठमें कहा है कि अभ्याससे जब प्राणोंकी क्रियाका क्षय होजाताहै तब मन शांत होजाता है और निर्वाणहीं शेष रहजाताहै और प्राण और मनका लय होनेपर भावना विशेषरूप समाधि है सहकारी जिसकी ऐसे अंतःकरणसे अवाधित आत्मसाक्षात्कार जब होजाताहै तब पुरुष जीवन्मुक्त होजाताहै ॥ १६॥

### सूर्याचंद्रमसौ धतः कालं रात्रिंदिवात्मकम् ॥ भोक्री सुषुष्ठा कालस्य गुह्ममेतदुदाहृतम् ॥ १७॥

पाणलये कालजयो भवतीत्याह—सूर्याचंद्रमसाविति ॥ सूर्यश्च चंद्रमाश्च सूर्याचंद्रमसौ ॥ 'देवताइंदे च'' इत्यानङ् । रात्रिश्च दिवा च रात्रिंदिवस् । 'अचतुर' इत्यादिना निपातितः । रात्रिंदिवं आत्मा स्वरूपं यस्य स रात्रिंदिवात्मकस्तं रात्रिंदिवात्मकं कालं समयं धत्तो विधत्तः कुरुतः । सुषुम्ना सरस्वती कालस्य सूर्याचंद्रमोभ्यां कृतस्य रात्रिंदिवात्मकस्य समयस्य भोक्ती भिक्षका विनाशिका । एत-सुद्धं रहस्यमुदाहृतं कथितम् । अयं भावः । सार्धं घटिकाइयं सूर्यो वहति सार्धं घटिकाइयं चंद्रो वहति । यदा सूर्यो वहति तदा दिनमुच्यते । यदा चंद्रो वहति तदा रात्रिश्च्यते । पंचघटिकामध्ये रात्रिंदिवात्मकः कालो भवति । लौकिकाहोरात्रमध्ये योगिनां द्वाद्व-शाहोरात्रात्मकः कालव्यवहारो भवति । तादशकालमानेन जीवाना-मायुर्मानमस्ति । यदा सुषुम्नामार्गेण वायुर्बहारंश्चे लीनो भवति । तदा रात्रिंदिवात्मकस्य कालस्याभावादुक्तम् 'भोक्ती सुषुम्ना कालस्य' इति । यावद्बहारंध्रे वायुर्लीयते तावद्योगिन आयुर्वर्धते । दीर्घकाला-भ्यस्तसमाधियोगी पूर्वमेव मरणकालं ज्ञात्वा ब्रह्मरंध्रे वायुं नीत्वा कालं निवारयति स्वेच्छपा देहत्यागं च करोतीति ॥ १७ ॥

आशार्थ-अब प्राणका लय होनेपर कालका जय होताहै इसको वर्णन करतेहैं कि सूर्थ और चंद्रमा, रात्रिदिन हैं खरूप जिसके ऐसे कालको करतेहैं और सुपुन्ना जो नाडी है वह सररवर्तारूप नाडी सूर्थ और चंद्रमाके किये रात्रिदिनरूप कालको भक्षण करनेवाली है अर्थात् नाशिका है यह गुप्त वस्तु कही है तास्वर्य यह है कि, अढाई घडीतक सूर्थ बहताहै और अढाई घडीतक चंद्रमा बहताहै जब सूर्यस्वर बहताहै वह दिन कहाताहै और जब चंद्रमा बहताहै तब रात्रि कहातीहै. इसप्रकार पांच घडीके मध्यमें ही रात्रिदिनरूप काल होजाताहै लौकिक अहोरात्रके मध्यमें योगियोंके बारह अहोरात्र होतेहें और उसी लौकिक कालके मानसे जीत्रोंकी आयुका प्रमाण है जब सुपुन्नाके मार्गसे चायु ब्रह्मरंधमें लीन होजाताहै तब रात्रिदिनरूप कालके अभावसे कहा है कि, सुपुन्ना कालको भोक्री है जितने कालतक वायु ब्रह्मरंधमें लीन रहता है उतनेही कालतक योगियोंकी आयु बढतीहै बहुत कालतक कियाहै समाधिका अभ्यास जिसने ऐसा योगी पहिलेही अपने मरणसमयको जानकर और ब्रह्मरंधमें प्राण-वायुको लेजाकर कालका निवारण करताहै और अपनी इच्लासे देहका ज्याग करता है ॥ १७॥

# द्वासप्ततिसद्याणि नाडीद्वाराणि पंजरे ॥ सुषुमा शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः॥१८॥

द्वासततीति॥ पंजरे पंजरविच्छरास्थिभिर्वद्धे शरीरे द्वाभ्यामधि-का सप्ततिः द्वासप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीनां शिराणां द्वाराणि वायुप्रवेशमार्गाः संति सुषुन्ना मध्यनाडी शांभवी शक्तिरस्ति शं सुखं भवत्यस्माद्धक्तानामिति शंसुरीश्वरस्तस्येयं शांभवी । ध्यानेन शंसुप्रापकत्वात् । शंभोराविर्भावजनकत्वादा शांभवी । यदा शं सुखक्षो भवति तिष्ठतीति शंसुरात्मा तस्येयं शांभवी चिदिभिन्यक्तिस्थानत्वाद्ध्यानेनात्मसाक्षात्कारहेतुत्वाञ्च । शेषा इडापिंगलादयस्तु निरर्थका एव निर्गतोऽर्थः प्रयोजनं यासां ता निर-र्थकाः । पूर्वोक्तप्रयोजनाभावात् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—इस मनुष्यके पंजरमें अर्थात् पंजरके समान शिरा अस्थियोंसे वैंधेहुये शरीरमें वहत्तर सहस्र नाडियोंके द्वार हैं अर्थात् वायुप्रवेश होनेके मार्ग हैं
उनमें सुषुन्ना जो मध्यनाडी है वह शांभवी शक्ति है अर्थात् तिससे भक्तोंको
सुखहो ऐसे शंभु (शिवजी) की शक्ति है क्योंकि वह नाडी ध्यानसे शंभुको
प्राप्त करती है वा शंभुकी प्रकटताको पैदा करती है इसीसे शांभवी कहाती है
अथवा शं (सुख) रूप जो टिके उस आत्माको शंभु कहतेहैं उसकी जो शक्ति
वह शांभवी कहाती है क्योंकि वह चैतन्यकी अभिव्यक्ति (प्रकटता) का स्थान
है और ध्यानसे आत्माके साक्षात्कारका हेतु भी सुषुन्ना है और शेष जो इडा
पिंगला आदि नाडी हैं वे सब निष्प्रयोजन हैं अर्थात् उनसे पूर्वोक्त प्रयोजन सिद्ध
नहीं होताहै ॥ १८॥

# वायुः परिचितो यस्मादिमिना सह कुंडलीम् ॥ बोचियत्वा सुषुम्नायां प्रविशेदिनरोचतः ॥ १९॥

वायुरिति ॥ यस्मात्परिचितोऽभ्यस्तो वायुस्तस्माद्ग्निना जठ-राग्निना सह कुण्डली शक्ति वोधियत्वा अनिरोधतोऽमितवंधा-त्सुषुम्नायां सरस्वत्यां प्रविशेत् वायोः सुषुम्नाप्रवेशार्थमभ्यासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥

भाषार्थ-जिससे परिचित अर्थात अम्यास किया वायु जठरामिके संग कुडळीशक्तिको बोधन (जगा) करके निरोध (रोक) के अभावसे सरस्वतीरूप सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै इससे वायुका सुषुम्नामें प्रवेशके लिये अम्यास करना उचित है ॥ १९॥

सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्धचत्येव मनोन्मनी ॥ अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् २० खुष्टनिति ॥ प्राणे सुष्टम्नावाहिनि सति मनोन्मनी उन्मन्य-वस्था सिद्धचत्येव । अन्यथा प्राणे सुष्टम्नावाहिन्यसति तु इतरा-भ्यासाः सुष्टम्नेतराभ्यासा योगिनां योगाभ्यासिनां प्रयासायेव श्रमा-येव भवंतीत्यर्थः ॥ २० ॥

आषार्थ—जब प्राण सुषुमामें बहने लगताहै तब मनोन्मनी अवश्य सिद्ध होजातीहै और प्राणके सुषुमावाही न होनेपर तो सुषुमाके अभ्याससे भिन्न जितने अभ्यास योगियोंके हैं वे सब द्या हैं अर्थात् परिश्रमके ही जनक होनेसे उनसे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होताहै ॥ २०॥

#### पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ॥ मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥ २१॥

पवन इति ॥ येन योगिना पवनः प्राणवायुर्वध्यते वद्धः क्रियते तैनैव योगिना मनो वध्यते । येन मनो वध्यते तेन पवतो वध्यते । मनःपवनयोरेकतरे वद्धे उभयं वद्धं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

भाषार्थ-योगी जिससे पवनका बंधन करलेताहै उसीसे मनको भी बंधन करलेता है और जिस कारणसे मनका बंधन करसकता है उसी रीतिसे प्राण-कोभी बांध सकता है अर्थात् मन और पवन इन दोनोंमेंसे एकके बंधनसे दोनोंका बंधन हो सकता है ॥ २१॥

हेतुद्रयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ॥
तयोर्विनष्ट एकस्मिस्तो द्वाविप विनश्यतः॥ २२॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्येति ॥ चित्तस्य प्रवृत्तौ हेतुद्वयं कारणद्वय-महित किं तिद्वत्यांह—वासना भावनाख्यः संस्कारः समीरणः प्राणवा-युश्च तयोवीसनासमीरणयोरेकस्मिन्विनष्टे साति क्षीणे सित तौ द्वाविषि विनश्यतः । अयमाश्चयः । वासनाक्षये समीरणचित्ते क्षीणे भवतः । समीरणे क्षीणे चित्तवासने क्षीणे भवतः । चित्ते क्षीणे समीरणवासने क्षीणे भवतः । तदुक्तं वासिष्ठे—'द्वे बीजे राम चित्तस्य प्राणस्यंद्नवा-सने । एकस्मिश्च तयोर्नष्टे क्षिपं द्वे आपि नश्यतः ॥' तत्रैव व्यतिरे- केणोक्तम्-'याविद्विहीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः। न क्षीणा वासना याविद्यतं तावन्न शास्यित ॥ न यावद्याति विज्ञानं न ताविद्यत्तसंक्षयः। यावन्न चित्तोषशमो न तावत्तस्ववेदनम् ॥ यावन्न वासनाना-शस्तावत्तस्वागमः कुतः । यावन्न तस्वसंप्राप्तिनं तावद्वासनाक्षयः॥ तस्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च ॥ मिथः कारणतां गत्वा-दुःसाध्यानि स्थितान्यतः ॥ त्रय एते समं यावन स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः। तावन्न तस्वसंप्राप्तिभवत्यपि समाश्रितेः ॥' इति ॥ २२ ॥

भाषार्थ-चित्तकी प्रवृत्तिमें दो हेतु हैं एक तो वासना अर्थात् भावना नामका संस्कार और प्राणवायु, वासना और प्राणवायु इन दोनोंमेंसे एकके नष्ट होनेपर वे दोनोंभी नष्ट हो जाते हैं-यहां यह आशय है कि, वासनाके क्षय होनेपर-पवन और चित्त नष्ट होजातेहैं और पवनके क्षीण होनेपर चित्त और वासना नष्ट होजातेहैं-और चित्तके क्षीण होनेपर पवन और वासना क्षीण होजातेहैं-सोई वासिष्ठमें कहाहै कि, हे राम ! प्राणकी क्रिया और वासना ये दोनों चित्तक बीज हैं उन दोनोंके मध्यमें एकके नष्ट होनेपर वे दोनोंभी नष्ट हो जातेहैं-और वासिष्ठमें ही व्यतिरेक (निषेघ) के द्वारा कहा है कि जबतक मनका लय नहीं होता तबतक वासनाका क्षय नहीं होताहै और इतने वास-नाका क्षय नहीं होता तब तक चित्त शांत नहीं होताहै और जबतक विज्ञान नहीं होता तबतक चित्तका संक्षय नहीं होता है-और जबतक चित्त शांत नहीं होता तबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता है और जबतक वासनाका नारा न हो तबतक तत्त्वका आगमन कहां-और जबतक तत्त्वका आगम (प्राप्ति ) न हो तबतक बासनाका क्षय नहीं होता-इससे तत्त्वज्ञान मनका नाश-और वासनाका क्षय ये तीनों परस्पर कारण होकर दुःखसे साध्यरूप होकर स्थित हैं इससे जबतक इन तीनोंका समरीतिसे वारंवार अभ्यास न किया जाय तबतक अन्य कारणोंसे तत्त्व ( ब्रह्मज्ञान ) की संप्राप्ति नहीं होती है ॥ २२॥

मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ॥ पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥ २३॥

मन इति ॥ यत्र यस्मिन्नाधारे मनो लीयते तत्र तस्मिन्नाधारे पवनो विलीयत इत्यन्वयः ॥ २३॥

भाषार्थ-जिसमें मनका लय होता है वहांही पवनका लय हो जाता है और जहां पवनका लय होता है वहां ही मनभी लीन हो जाता है ॥ २३॥

दुग्धां बुवत्सं मिलिता बुभौ तो तुरुय कियो मानस-मारुतौ हि ॥ यतो मरुत्रत्र मनःप्रवृत्तिर्यतो मन-स्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥ २४ ॥

दुग्धां बुविदिति ॥ दुग्धां बुवत्क्षीरनी रवत्सं मिलितौ सम्यक् मिलितौ तावुभौ द्वाविष मानसमारुतौ मानसं च मारुतश्च मानसमारुतौ चित्तप्राणी तुल्यिकयो तुल्या समा किया प्रवृत्तिर्थयोस्ताहशौ भवतः तुल्यक्रियत्वमेवाह-यत इति। यतः यत्र सार्वविभक्तिकस्तिसिः। यस्मिन् चक्रे मरुद्रायुः पवर्तते तत्र तस्मिन् चक्रे मनःपवृत्तिः मनसः मंवृत्तिर्भवति । यतो यस्मिन् चके मनः प्रवत्तते तत्र तस्मिश्चके मरुत्प्रवृत्तिः वायोः प्रवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । तदुक्तं वासिष्ठे-'अविनाभा-विनी नित्यं जंतूनां प्राणचेतसी । कुसुमामोदविनमश्रे तिलतेले इवा-स्थिते ॥ कुरुतश्च विनाशेन कार्य मोक्षारूयमुत्तमम्' इति ॥ २४॥

भाषार्थ-दूध और जलके समान मिलेड्रुये मन और पवनक्षप जो चित्त और प्राण हैं वे दोनों तुल्यिक्रय हैं अर्थात् दोनोंकी प्रवृत्ति तुल्य होती है अर्थात् जिस नाडियोंके चक्रमें वायु प्रवृत्त होताहै उसी चक्रमें मनकी प्रवृत्ति होती है और जिस चक्रमें मन पृष्टत होता है उसी चक्रमें वायुकी प्रवृत्ति होती है सोई वासिष्ठमें कहा है कि, प्राणियोंके प्राण और चित्त दोनों अविनामावी हैं अर्थात् एकके बिंना एक नहीं होसकता है और पुष्प और सुगंधके समान मिलें हुए तिल और तेळके समान स्थित हैं और ये अपने विनारासे मोक्षरूप उत्तम कार्यको करते हैं ॥ २४ ॥

तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ॥ अध्वस्तयोश्चेदियवर्गवृत्तिः प्रध्वस्तयोमीक्षपद-स्य सिद्धिः ॥ २५ ॥

तत्रेति ॥ तत्र तयोर्मानसमारुतयोर्मध्ये एकस्य मानसस्य मारुतस्य वा नाशाल्यादपरस्यान्यस्य मारुतस्य मानसस्य वा नाशो लयो भवित । एकप्रवृत्तेरेकस्य मानसस्य मारुतस्य वा प्रवृत्तेर्व्यापारादपरप्रवृत्तित्परस्य मारुतस्य मानसस्य वा प्रवृत्तिर्व्यापारो भवित । अध्वस्तयो-रलीनयोर्मानसमारुतयोः सतोरिद्वियवर्गवृत्तिरिद्वियसमुद्वायस्य स्वस्विवये प्रवृत्तिभवित । प्रध्वस्तयोः प्रलीनयोर्सत्योः सतोमिक्षपदस्य मोक्षात्व्यपदस्य सिद्धिनिष्पत्तिभवित । तयोर्लये पुरुषस्य स्वरूपेऽवस्थानादित्यर्थः । 'तत्रापि साध्यः पवनस्य नाशः पडंगयोगादिनिषेवणीन । मनोविनाशस्त ग्रुरोः प्रसादान्तिमेषमात्रेण सुसाध्य एव ॥' योगवीजे मूलक्षोकस्यायमुत्तरः क्षोकः ॥ २५ ॥

भाषार्थ-उन दोनों पवन और मनके मध्यमें एक मन वा पवनके नारासे दूसरे पवन वा मनका नारा होता है और एक मन वा पवनके व्यापारसे दूसरे मन वा पवनका व्यापार होता है और जबतक मन और पवन नष्ट नहीं होते तवतक संपूर्ण इन्द्रियोंका समुदाय अपने २ विषयमें प्रवृत्त होता है और जब मन और प्राणका भछीप्रकार छय हो जाता है तब मोक्षक्रप पदकी सिद्धि होती है, क्योंकि इन दोनोंका छय होनेपर पुरुषकी अपने स्वक्रपमें स्थिति होजाती है और इस मूछके श्लोकका उत्तरश्लोक योगबीजमें यह छिखाहै कि, षडंगयोग आदिके सैवनसे पवनका नारा साधन करने योग्य है और मनका विनाश तो गुरुके प्रसादद्वारा निमेषमात्रसे सुसाध्य है ॥ २९॥

रसस्य मनस्थिव चंचलत्वं स्वभावतः ॥
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्धचित भूतले॥२६॥

रसस्येति ॥ रसस्य पारदस्य मनसो मानसस्य स्वभावतः स्वभावा-चंचलत्वं चांचल्यमस्ति । रसः पारदो बद्धश्चेन्मनश्चित्तं बद्धं भवति । ततो भूतले पृथिवीतले किं न सिद्धचित सर्वं सिद्धचतीत्यर्थः ॥२६॥

भाषार्थ-और रस (पारा) और मन ये दोनों स्वभावसे चंचल हैं यदि रस और मन ये दोनों बंधजायँ तो भूतलमें ऐसी वस्तु कौन है जो सिद्ध न हो सकै अर्थात् सब पदार्थ सिद्ध होसकते हैं ॥ २६॥

सूर्चिछतो इरते व्याधीनमृतो जीवयति स्वयम् ॥ बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ॥ २७॥

तदेवाह-मूर्च्छित इति ॥ औषधिविशेषयोगेन गतचापछो रसो मूर्च्छितः कुम्भकांते रेचकनिवृत्तो वायुर्मूर्च्छित इत्युच्यते । हे पार्व-तीति पार्वतीसुवोधायेश्वरवाक्यम् । मूर्च्छितो रसः पारदो वायुः प्राणश्च व्याधीन् रोगान् हरते नाशयित । भस्मीभूतो रसो ब्रह्मरंश्रे छीनो वायुश्च मृतः स्वयमात्मना स्वसामर्थ्यनेत्यर्थः । जीवयित दीर्घकाछं जीवनं करोति । क्रियाविशेषेण ग्रुटिकाकारकृतो रसः बद्धो स्मध्यादौ धारणाविशेषेण धृतो वायुश्च बद्धः खेचरतामाकाशगितं धत्ते विधत्ते करोतीत्यर्थः । तदुक्तं गोरक्षकशतके—'यद्भिन्नांजनपुंज-सन्निभमिदं वृत्तं सुवोरंतरे तत्त्वं वायुम्यं पकारसहितं तत्रेश्वरो देवता । भाणं तत्र विछाप्य पंचघटिकं चित्तान्वितं धारयेदेषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायुना धारणा' इति ॥ २७ ॥

भाषार्थ-औषधिविशेषके योगसे नष्टहुई है चपलता जिसकी ऐसा रस मूर्चित कहाताहै और कुंभकके अंतमें रेचकसे निवृत्त वायुको मृर्च्छित कहतेहैं. हे पार्वती! चिछत कियाहुआ पारद और प्राणवायु संपूर्ण रोगोंको नष्ट करता है और मारा-इआ अर्थात् भस्म कियाहुवा पारा और ब्रह्मरंध्रमें लीन प्राणवायु, यह अपने सामर्थ्यसे मनुष्यको दीर्घकालतक जिवा सकता है और बद्ध किये हुए वे दोनों अर्थात् कियाबिशेषसे गुटिकाकार किया हुआ पारा और भुकुटिके धारणविशेषसे धारण कियाहुआ प्राणवायु ये दोनों आकाशगतिको करते हैं अर्थात् वह योगी

पिक्षयों के समान आकाशमें उडसकता है सोई गोरक्षकशतक में कहा है कि, भिन्नां-जन पुंजके समान अर्थात् पिसे हुए अंजनके समूहकी तुल्य गोलाकार वायुरूप और पकार सिहत तत्त्व (प्राण) भुकुटियों के मध्यमें है उस तत्त्वका ईश्वर देवता है उस ईश्वरमें प्राणको चित्तसिहत लय करके पांचवटी पर्यंत धारण करे, यह बायुके संग चित्तकी धारणा योगीजनोंका आकाशमें गमन करती है ॥ २७॥

# मनःस्थेयें स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत् ॥ विंदुस्थेयीत्सदा सत्त्वं पिंडस्थेयें प्रजायते ॥ २८॥

मनःस्थैर्य इति ॥ मनसः स्थेर्ये सित वायुः प्राणः स्थिरो भवेत् । ततो वायुस्थैर्याद्धिदुर्वीर्यं स्थिरो भवेत् । बिंदोः स्थैर्यात्सदा सर्वदा सत्त्वं बलं पिंडस्थैर्यं देहस्थैर्यं प्रजायते ॥ २८ ॥

आषार्थ-मनको स्थिरता होनेपर प्राणभी स्थिर होताहै और वायुकी स्थिरतासे वीर्यकी स्थिरता होती है और वीर्यकी स्थिरतासे सदैव बळ होताहै और उससेही देहकी स्थिरता होतीहै ॥ २८॥

#### इंद्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥२९॥

इंद्रियाणामिति ॥ इंद्रियाणां श्रोत्रादीनां मनोंऽतःकरण नाथः प्रवर्तकः । मनोनाथो मनसो नाथो मारुतः प्राणः । मारुतस्य प्राणस्य लयो मनोविलयो नाथः । स लयो मनोलयः नादमाश्रितो नादे मनो लीयत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

भाषार्थ-श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका नाथ (प्रवर्त्तक ) अंतःकरण-मनहै और मनका नाथ प्राणहै और प्राणका नाथ मनका लयहै और वह मनका लय नादके आश्रित है अर्थात् नादमें मनका लय होताहै ॥ २९ ॥

सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतांतरे ॥ मनःप्राणलये कश्चिदानंदः संप्रवर्तते ॥ ३०॥

सोऽयिमिति ॥ सोऽयमेव चित्तलय एव मोक्षाख्यो मोक्षपद-वाच्यः । मतांतरेऽन्यमते मास्तु वा । चित्तलयस्य सुषुप्ताविष सत्त्वा-न्मनःप्राणयोर्लये सित कश्चिद्निर्वाच्य आनंदः संमवर्तते सम्यक् प्रवृत्तो भवति । अनिर्वाच्यानंदाविभवि जीवन्मुक्तिसुखं भवत्येवेति भावः ॥ ३० ॥

भाषार्थ-सो यही चित्तका छय मोक्षरूप है अर्थात् इसकोही मोक्ष कहते हैं अथवा मतांतरमें इसको मोक्ष मतमानों, क्योंकि चित्तका छय सुवृितमें भी होता है तोभी मन और प्राणके छय होनेपर जो कुछ अकथनीय आनंद प्रकट होताहै उस अनिर्वचनीय आनंदके प्रकट होनेपर जीवन्मुक्ति रूप सुख अवश्य होताहै ॥ ३०॥

# प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः॥ निश्चेष्टो निर्विकारश्चलयो जयति योगिनाम्॥३१॥

प्रनष्टिति ॥ श्वासश्च निश्वासश्च श्वासनिश्वासौ प्रनष्टौ लीनो श्वास-निश्वासौ यस्मिन् स तथा बाह्यवायोरंतः प्रवेशनं श्वासः अंतः स्थितस्य वायोर्वहिनिः सरणं निश्वासः प्रध्वस्तः प्रकर्षण ध्वस्तो नष्टो विषयाणां शब्दादीनां ग्रहो ग्रहणं यस्मिन् निर्गता चेष्टा कायिक्रया यस्मिन् निर्गतो विकारों ऽतः करणिक्रया यस्मिन् एताह्यो योगिनां लयों ऽतः-करणवृत्ते ध्येयाकारा वृत्तिर्जयित सर्वोत्कर्षण वर्तते ॥ ३१॥

भाषार्थ—जिसमें श्वास और निःश्वास मछीप्रकार नष्ट होजाय अर्थात् बाह-रकी पवनका जो भीतर प्रवेश वह श्वास, और भीतरकी पवनका बाहर निका-सना यह निःश्वास, यह दोनों जिसमें न रहें और इन्द्रियोंसे विषयोंका प्रहण करनाभी जिससे भछीप्रकार नष्ट होजाय, और देहकी क्रियारूप चेष्टाभी जिसमें न रहें; और अंतःकरणका क्रियारूप विकारभी जिसमें न हो, ऐसा जो योगि-योंका छय है अर्थात् ध्यान करने योग्य वस्तुके आकारकी जो अंतःकरणवृत्तिह वह सबसे उत्तमहै ॥ २१॥

#### उच्छित्रसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ॥ स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः॥३२॥

उच्छिन्नेति ॥ उच्छिन्ना नष्टाः सर्वे संकल्पा मनःपरिणामा यस्मिन् स तथा निर्गतः शेषो येभ्यस्तानि निःशेषाण्यशेषाणि चेष्टि-तानि यस्मिन् स तथा स्वेनैवावगंतुं बोढुं शक्यः स्वावगम्यः वाचा-मगोचरो विषयः कोऽपि विलक्षणो लयः जायते योगिनां प्रादु-भंवति ॥ ३२ ॥

आषार्थ-जिसमें मनके परिणाम रूप संपूर्ण संकल्प नष्ट होगये हों और जिसमें संपूर्ण चेष्टित न रहे हों अर्थात् कर चरण आदिका व्यापार निष्टत्त हो और जो अपने आपही जानने योग्य हो अर्थात् जिसको अन्य पुरुष न जानसके और जो वाणीकाभी अगोचर हो अर्थात् वाणीभी जिसको न कहसके ऐसा विलक्षण लय योगीजनोंको प्रगट (उत्पन्न ) होताहै ॥ ३२ ॥

# यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतद्रियसनातनी ॥ सा शक्तिजीवभूतानां द्रे अलक्ष्ये लयं गते ॥३३॥

यत्र दृष्टिरिति ॥ यत्र यिस्मिन्विषये ब्रह्मणि दृष्टिरंतःकरणवृ-त्तिस्तत्रैव लयो भवति । भूतानि पृथिव्यादीनि इंद्रियाणि श्रोत्रादीनि सनातनानि शाश्वतानि यस्यां सा सत्कार्यवादेऽविद्यायां कार्यजातस्य सन्वात् । जीवभूतानां प्राणिनां शक्तिर्विद्या इमे दे अलक्ष्ये ब्रह्मणि लयं गते योगिनामिति शेषः ॥ ३३॥

भाषाधी—जिस ब्रह्मरूप विषयमें अंतःकरणकी वृत्ति होतीहै उसीमें मन लया होताहै और पृथ्वी आदि पंच महाभूत और श्रोत्र आदि इन्द्रिय ये जिसमें न हों वह अविद्या, क्योंकि सत्कार्यवाद मतमें अविद्यामें संपूर्ण कार्यका समृह रहता है. सत्कार्यवाद यहहै कि, घट आदिकार्य सत्कृप है—और प्राणियोंकी शक्तिकृप विद्या, ये अविद्या और विद्यारूप दोनों अलक्ष्य ब्रह्ममेंही योगियोंके लय हो जातेहैं ॥ ३३॥

#### लयो लय इति प्राहुः कीहशं लयलक्षणम् ॥ अपुनर्वासनोत्थानाछयो विषयविस्मृतिः॥ ३४॥

लय इ.ति ॥ लय इति प्राहुर्वदंति वहवः । लयस्य लक्षणं लय-स्वरूपं कीदृशमिति प्रश्नपूर्वकं लयस्वरूपमाह—अपुनरिति । अपुनर्वा-सनोत्थानात्पुनर्वासनास्थानाभावाद्विषयविस्मृतिर्विषयाणां शब्दादीनां ध्येयाकारस्य विषयस्य वा विस्मृतिर्लयो लयशब्दार्थ इत्यर्थः ॥ ३४॥

आषार्थ—बहुतसे मनुष्य छय ऐसा कहते हैं परंतु छयका छक्षण (स्वरूप) क्याहै ऐसा कोई पूछै तो शब्द आदि संपूर्ण विषयोंकी वा ध्यान करनेयोग्य विषयकी जो विस्मृति उसको छय कहते हैं क्योंकि उस मनमें फिर वासना नहीं उठती हैं वा वह मन फिर वासनाओंका स्थान नहीं रहता है ॥ ३४॥

### वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥ एकैव शांभवी सुद्रा गुप्ता कुलवधारिव ॥ ३५॥

वेदेति ॥ वेदाश्चत्वारः शास्त्राणि पट् पुराणान्यष्टादश सामान्या गणिका इव वेश्या इव । बहुपुरुषगम्यत्वात् । एका शांभवी मुद्रैव कुलवधूरिव कुलस्त्रीव गुप्ता । पुरुषविशेषगम्यत्वात् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—चारों वेद और छहों शास्त्र और अष्टादश १८ पुराण ये सब सामान्य गणिका (वेश्या) के समानहें क्यों कि ये अनेक पुरुषोंके जानने योग्य हैं—और एक पूर्वोक्त शांभवी मुद्राही कुछवधूके समान गुप्त है क्यों कि उसको कोई बिरहा मनुष्य ही जानसकताहै ॥ ३९॥

# अंतर्रुक्ष्यं बहिर्दृष्टिनिमेषोन्मेषवर्जिता ॥ एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥ ३६॥

वित्तलयाय प्राणलयसाधनीभूतां मुद्रां विवश्चस्तत्र शांभवीं मुद्रा-माह-अंतर्लक्ष्यमिति ॥ अंतः आधारादिब्रह्मरंध्रांतेषु चक्रेषु मध्ये स्वाभिमते चक्रे लक्ष्यमंतःकरणवृत्तिः । वहिर्देहाद्धहिःप्रदेशे दृष्टिः चक्षुःसंवंधः । कीहशी दृष्टिः निमेषोन्मेषवर्जिता निमेषः पक्ष्मसंयोगः उन्मेषः पक्ष्मसंयोगविश्लेषः ताभ्यां वर्जिता रिहता चित्तस्य ध्येया-कारावेशे निमेषोन्मेषवर्जिता दृष्टिभवति । सोकेषा मुद्रा शांभवी शंभोरियं शांभवी शिविषया शिवाविर्भावजनिका वा भवति । कीहशी वेदशास्त्रेषु गोषिता वेदेषु ऋगादिषु शास्त्रेषु सांख्यपातंजलादिषु गोषिता रिक्षता ॥ ३६ ॥

भाषार्थ-चित्तके लयार्थ प्राणलयका साधन जो शांमबीमुद्रा उसके कय-नके अभिलाषी आचार्य-प्रथम शांमबीमुद्राका वर्णन करतेहैं कि, भीतरके जो आधार आदि चक्र हैं उनके मध्यमें अपनेको अभीष्ट जो चक्रहो उसमें लक्ष्य (अंतःकरणकी वृत्ति) हो और वाहिरके विषयोंमें जो दृष्टि हो वह निनेष और उन्मेषसे वर्जित हो अर्थात् पक्ष्म (पलक) के संयोग और वियोगसे हीन हो, क्योंकि चित्तमें ध्यान करनेके योग्य जो वस्तु उसके आकारके आवेश होनेसे निमेष उन्मेष रहित प्रकाशितही नेत्र बने रहतेहों-वेद और शास्त्रोंमें गुप्त यह मुद्रा अर्थात् ऋग्वेद आदि वेद और सांख्य पातंजल आदिशास्त्रोंमें भी छिपीहुई यह मुद्रा शांभवी कहातीहै कि, इससे शंभुका आविर्माव (प्रकटता) होताहै वा यह मुद्रा शंभु भगवान्ने कहीहै॥ ३६॥

अंतर्रुश्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते हष्ट्या निश्चलतारया बहिरघः पश्यन्नपश्यन्नपि ॥ मुद्रेयं खळु शांभवी भवति सालब्धा प्रसादाद्वरोः ज्ञून्याज्ञून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्वं परं शांभवम् ३७॥

शांभवीं मुद्रामिभनीय दर्शयति—अंतर्रुक्ष्यिनिति ॥ यदा यस्या-मवस्थायामंतः अनाहतपद्मादौ यह्नक्ष्यं सगुणेश्वरमूर्त्यादिकं तत्त्वम-स्यादिवाक्यह्रक्ष्यं जीवेश्वराभिन्नमहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थभूतं ब्रह्म वा तस्मिन्विलीनो विशेषण लीनो चित्तपवनौ मनोमारुतौ यस्य स तथा योगी वर्तते निश्चलतारया निश्चला स्थिरा तारा कनीनिका यस्य ताहश्या दृष्ट्या बहिर्दहाद्धहिःप्रदेशे पश्यन्नापे 'चक्कुःसंबंधं कुर्वन्निप अपश्यन् बाह्यविषयप्रहणमञ्जर्वन् वर्तते आस्ते। खिल्लिति वाक्या-छंकारे। इयमुक्ता शांभवी मुद्रा शांभवीनामिका मुद्रयित क्रेशानिति मुद्रा ग्रुरोदेशिकस्य प्रसादात्प्रीतिपूर्वकादनुप्रहाल्ल्ल्वा प्राप्ता चेत्तदिद-मिति वक्तुमशक्यं शांभवं शांभवीमुद्रायां भासमानं पदं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदमात्मस्वरूपं शून्याशून्यविष्ठक्षणं ध्येयाकारवृत्तेः सद्भावाच्छून्यविष्ठक्षणं तस्या आपि भानाभावादशून्यविष्ठक्षणं तस्यं वास्तविकं वस्तु स्फुरित प्रतीयते। तथाचोक्तम्-'अन्तर्लक्ष्यमनन्यधी-रविरतं पश्यनमुद्रा संयमी दृष्ट्युन्मेषिनमेषवर्जितिमयं मुद्रा भवेच्छा-मनोलयकरी मुक्तिपदा दुर्लभा ॥१॥ अर्ध्वदृष्टिरधोदृष्टिक्रध्ववेधो ह्यधः-शिराः। राधायंत्रविधानेन जीवन्मुक्तो भवेत्क्षितौ । २।॥ ३७॥

भाषार्थ-अब शांभवीमुदाके स्वरूपको घटाकर दिखातेहैं कि, जिस कालमें योगी इसप्रकार वर्ते अर्थात् स्थित रहें कि. भीतर अनाहत (निश्चल ) पद्म आदिमें जो सगुण मूर्ति आदि लक्ष्य है वा तत्त्वमिस आदि महावाक्योंसे लक्ष्य जो जीव ईश्वरके अभेदरूप में ब्रह्म हूं इस वाक्यका अर्थरूप ब्रह्म है उसमेंही विशेषकर जिसके चित्त और पवन (प्राण) ये दोनों लीनहों और निश्चल है तारे जिसमें ऐसी दृष्टि (नेत्र) से देहसे वाहिरके देशमें देखताहुआभी अदृष्टाके समान हो अर्थात् वाहिरके विषयको न जानताहुआ अधोदृष्टि रहताहै—यह पूर्वीक शांभवी नामकी मुद्रा है और जो क्रेशोंको लियाले उसे मुद्रा कहते हैं—यदि यह मुद्रा गुरुके प्रसादसे प्राप्त होजाय तो वह शांभव शंभुभगवान्का तत्त्व जिसको इसप्रकार नहीं बतासकते कि, यहहै शांभवीमुद्रामें भासमान वह योगियोंको प्राप्त होने योग्य आत्मारूप तत्त्व अर्थात् ध्येयाकार वृत्तिके होनेसे श्च्यों विलक्षण और अंतमें ध्येयाकार वृत्तिकेभी अभावसे अश्चन्यसे विलक्षण वास्तिकक वस्तु योगीजनोंके मनमें स्पुरती है अर्थात् प्रतीत होती है—सोई कहा है कि अनन्यवृद्ध होकर अर्थात् अन्यविषयमें बुद्धिको न लगाकर भीतरके लक्ष्य

(ब्रह्म) को दृष्टिक उन्मेष निमेषसे वर्जित नैत्रोंसे निरंतर आनंदसे देखताहुआ संयमी (योगी) होयतो यह शांभवी मुद्रा होती है और तंत्रके ज्ञाता गिरीश (शिव) ने यह गुप्त रक्खी है और यह दुर्छभमुद्रा तत्त्रके अभिलाषी योगि-जनोंके मनको लय करती है और मुक्तिको भलीप्रकार देती है और ऊर्ध्व और अधोदृष्टि होकर और ऊर्ध्ववेध और अधः—शिर होकर स्थित योगी इस राधायंत्रके विधानसे भूमिमें रहताहुआभी जीवन्मुक्त होता है-भावार्थ यह है कि, भीतरके लक्ष्यमें लयहुये हैं चित्त पवन जिसके और निश्चल हैं तारा जिसके ऐसी दृष्टित बाहिरके विषयको देखताहुआभी न देखनेके समान हो ऐसे योगीकी यह शांभवीमुद्रा होती है यदि यह गुरुके प्रसादसे प्राप्त हो जाय तो योगीको शून्य अशून्यसे विलक्षण जो शंभुका पदरूप परम तत्त्व है वह प्रतीत होताहै॥ ३७॥

#### श्रीशांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाचामभेदतः ॥ भवेचित्तलयानंदः श्रुत्ये चित्सुखरूपिण ॥ ३८॥

श्रीशांभव्या इति ॥ श्रीशांभव्याः श्रीमत्याः शांभवीमुद्रायाः खेचरीमुद्रायाश्चावस्थाधामभेदतः अवस्थाऽवस्थितिधांम स्थानं तयो-भेदाच्छांभव्यां वहिर्दृष्ट्या वहिःस्थितिः खेचर्या भूमध्यदृष्ट्याऽव-स्थितिः । शांभव्यां हृद्यभावनादेशः खेचर्या भूमध्य एव देशः । तयोभेदाभ्यां शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्ये सजातीयविजातीय-स्वगतभेदशून्ये या चित्सुखक्रपिणि चिदानंदस्वक्रपिण्यात्मिनि चित्त-लयानंदो भवेतस्यात् । श्रीशांभवीखेचर्योरवस्थाधामक्रपसाधनांशे भेदः, नतु चित्तलयानंदक्रपफलांश इति भावः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—इस पूर्वोक्त श्रीमती शांभवीमुद्राके और खेचरीमुद्राके द्वारा अवस्था और धाम (स्थान) के भेदसे अर्थात् शांभवीमुद्रामें बाहिर दृष्टिसे बहि:स्थिति और खेचरीमुद्रामें बुकुटीके मध्यमें दृष्टिसे स्थिति होती है और शांभवीमें हृदय भावनाका देश है और खेचरीमें बुकुटीका मध्यही देश है इन दोनों भेदोंसे देश काल बस्तुके परिच्छेदसे और सजातीय विजातीय

स्वगतरूप भेदसे शून्य (रहित) चिदानंद स्वरूप आत्मामें चित्तके छयका आनंद होता है अर्थात् दोनों शांभवी खेचरीमुदाओंका अवस्था और धाम- रूप साधन अंशमें तो भेद है और चित्तछयके आनंदरूप फलके अंशमें भेद नहीं है। ३८॥

### तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिडुन्नमयेद्भवौ ॥ पूर्वयोगं मनो युंजन्तुनमनीकारकः क्षणात् ॥ ३९॥

उन्मनीमुद्रामाह नारे इति ॥ तारे नेत्रयोः कनीनिके ज्योतिषी तारयोनीसाग्रे योजनात्प्रकाशमाने तेजिस संयोज्य संयुक्ते कृत्वा भुवो किंचित्स्वल्पमुन्नयेदूर्ध्वं नयेत् । पूर्वः पूर्वोक्तोंऽतर्रुक्यविहर्दृष्टिरि-त्याकारको योगो युक्तिर्यस्मिन् तत्तादृशं मनोंऽतःकरणं युंजन् युक्तं कुर्वन् योगी क्षणान्मुहूर्तादुन्मनीकारण उन्मन्यवस्थाकारको भवति ॥ ३९॥

भाषार्थ—अब उन्मनीमुद्राक्षा वर्णन करते हैं कि, नेत्रोंकी कनीनिकारूप तारोंको ज्योतिमें अर्थात् तारोंको नासिकाके अप्रभागमें संयोग करमेसे प्रकाश-गान जो तेज उसमें संयुक्त करके भुकुटियोंको किंचित् (कुछेक ) उपरको करदे और पूर्वोक्त जो अंतः स्क्ष्य बहिः दृष्टि (भीतर स्क्ष्य बाहिर दृष्टि ) रूप योग है जिसमें ऐसा अंतः—करण (मन) उसको युक्त करता हुआ योगी क्षणकात्रमें उन्मनी अवस्थाका कारक होताहै अर्थात् पूर्वोक्त अवस्थासे स्थित योगीकी उन्मनीमुद्रा होती है ॥ ३९॥

## केचिदागमजालेन केचिनिगमसंकुलैः॥ केचित्तर्केण मुद्यंति नैव जानंति तारकम्॥ ४०॥

उन्मनीमंतराऽन्यस्तरणोपायो नास्तीत्याह—केचिदिति ॥ केचि-च्छास्रतंत्रादिविदः आगच्छंति बुद्धिमारोहंत्यर्था एभ्य इत्यागमाः शास्त्रतंत्रादयस्तेषां जालेर्जालवद्भंधनसाधनैस्तदुक्तेः फलेर्मुद्यंति मोहं माप्तुवंति । तत्रासक्ता बध्यंत इति भावः । केचिद्देदिका निगमसंकुले- निगमानां निगमोक्तानां संकुलेः फलबाहुल्येर्मुद्धांति । केचिद्देशेषिका-दयस्तर्केण स्वकल्पितयुक्तिविशेषेण मुद्धांति । तारयतीति तारकस्तं तारकं तरणोपायं नेव जानंति । उक्तोन्मन्येव तरणोपायस्तं न जानं-तीत्यर्थः ॥ ४० ॥

आषार्थ-अब इसका वर्णन करते हैं कि, उन्मनीके विना अन्य तरनेका उपाय नहीं है कि, कोई शास्त्र और तंत्र आदिके ज्ञाता आगमके जालसे अर्थात् जिससे बुद्धिमें पदार्थ आजाय उन्हें आगम कहते हैं वे शास्त्र और तंत्र- रूपोंके समूहसे मोहको प्राप्त होजाते हैं अर्थात् जालके समान बंधनके कर्ता जो शास्त्रतंत्रमें कहे हुये फल उनमेंही मोहित रहते हैं उनमें आसक्त हुये वंध जाते हैं—और कोई निगम (वेद ) में कहे जो फलोंके समुदाय उससेही मोहित रहते हैं—और कोई बैशेषिक आदि अपनी कल्पना कियेहुये जो युक्तिरूप विशेष्ट वर्तक उनसेही मोहित रहते हैं—परंतु तारकको नहीं जानते हैं अर्थात् संसार- समुद्रके तरनेका उपाय जो पूर्वोक्त उन्मनी उसको नहीं जानते हैं—भावार्थ यह है कि, कोई शास्त्र और तंत्रके जालसे कोई वेदोक्त फलोंसे--कोई तर्कसे--मोहित रहते हैं परंतु उन्मनीरूप तारकको नहीं जानते हैं ॥ ४०॥

अधोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासायद्तेक्षण-श्रंद्राकीविप लीनतामुपनयन्निष्पंद्रभावेन यः ॥ ज्योतीह्रपमशेषवीजमिखलं देदीप्यमानं परं तत्त्वं तत्पद्मेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम्॥४१॥

अधींन्मीलितिति ॥ अधम् उन्मीलिते अधींन्मीलिते अधींन्मी-लिते लोचने येन स अधींन्मीलितलोचनः अधींद्वाटितलोचन इत्यर्थः। स्थिरं निश्चलं मनो यस्य स स्थिरमना नासाया नासिकाया अग्रेऽग्रभागे नासिकायां द्वादशांगुलपर्यते वा दत्ते महिते ईक्षणे येन स नासाग्रद्ते-क्षणः। तथाह वसिष्ठः—'द्वादशांगुलपर्यते नासाग्रे विमलेंऽवरे। संवि-दशोः प्रशाम्यंत्योः प्राणस्पंदो निरुध्यते॥' इति। निस्पंद्स्य निश्च- रुस्य भावो निस्पंद्भावः कायेंद्रियमनसां निश्चलर्सं तेन चंद्राकीं चंद्रस्यांविष लीनतां लीनस्य भावो लीनता लयस्तमुपनयन्प्रापयन्कायेंद्रियमनसां निश्चलत्वेन प्राणसंचारमिष स्तंभयित्रत्यर्थः। तदुक्तं प्राक्-'मनो यत्र विलीयेत' इत्यादिपूर्वोक्तविशेषणसंपन्नो योगी ज्योतीरूपं ज्योतिरिवास्विलपकाशकं रूपं यस्य स तथा तमशेषवी-जमाकाशास्त्रत्पित्तद्वारा सर्वकारणमस्विलं पूर्ण देदीप्यमानमितशयेन दीप्यत इति देदीप्यमानं तत्तथा स्वप्नकाशकं परं कायेंद्रियमनसां साक्षिणं तत्त्वमनारोपितं वास्तविकिमत्यर्थः। तदिद्मिति वक्तप्रशक्यं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं परमं सर्वोत्कृष्टं वस्तु आत्मस्वरूपं एति प्रामोति। उन्मन्यवस्थायां स्वस्वरूपावस्थितो योगी भवतीत्यर्थः। अत्राधिकं कि वाच्यम्। अपरं वस्तु प्रामोतीत्यत्र कि वक्तव्य-प्रित्यर्थः॥ ४१॥

भन जिसका और नासिकाके बारह अंगुळपर्यंत अप्रभागमें लगाये हैं नेत्र जिसके—सोई विसष्टने कहाहें कि, द्वादरा अंगुळ पर्यंत निर्मळ जो नासिकाके अप्रभागमें आकार उसमें यदि ज्ञान, दृष्टि दोनों भळीप्रकार शांत होजाय तो प्राणोंका स्पंद (गित ) एक जाती हैं—ऐसा योगी और देह इंद्रिय मन इनके निस्पंदभाव (निश्चलता) से चंद्रमा और सूर्यकी भी लीनताको करताहुआ अर्थात् देह, मन, इंद्रियोंकी निश्चलतासे प्राणके संचारको भी रोकताहुआ सोई कहभी आये हैं कि, जहां मनभी विलय हो जाता है—इसपूर्वोक्त प्रकारका योगाम्यासी ज्योतिक समान सबका प्रकारक—और आकारा आदिकी उत्पत्तिके द्वारा सबका कारण और अखिल (पूर्ण) रूप और अत्यंत प्रकाशमान और देह इंद्रिय मन इनका साक्षी-रूप पर--और वास्तिविक तत्त्ररूप—जो वह पद है जिसको यह नहीं कह सकते कि,—वह यह है—और योगीजन जिसमें जायँ उसे पद कहते हैं--उस परम (सबसे उत्तम) आत्मस्वरूपको प्राप्त होताहै अर्थात् उन्मनी अवस्थामें योगी अपने स्वरूपमें स्थित होताहै--इसमें अधिक और क्या कहने योग्य है अन्यवस्तु-

हों मन स्थिरहो नासिकाके अप्रभागमें दृष्टि हो और जिसने देह आदिकी निश्च-छतासे प्राणकोभी छीन कराछियाहो ऐसा योगी, ज्योतिस्वरूप सबके कारण, पूर्ण, देदीप्यमान साक्षीरूप जो तत्त्व उस प्रमपदको प्राप्त होताहै इसमें अधिक क्या कहने योग्यहै॥ ४१॥

#### दिवा न पूजयेछिगं रात्रौ चैत्र न पूजयेत्॥ सर्वदा पूजयेछिगं दिवारात्रिनिरोधतः॥ ४२॥

उन्मनीभावनायाः कालनियमभावमाह-दिवा नेति ॥ दिवा सूर्यसंचारे लिंगं सर्वकारणमात्मानम् ॥ 'एतस्मादात्मन आकादाः संभूतः' इत्यादिश्वतेः ॥ न पूजयेत् न भावयेत् ॥ ध्यानमेवात्मपूजनम् ॥ तदुक्तं वासिष्ठे—'ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानमस्य महार्चनम् ॥ विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो' इति ॥ रात्रौ चंद्रसंचारे च नैव पूजयेत्रैव भावयेत् ॥ चंद्रसूर्यसंचारे चित्तस्थेर्याभावात् ॥ 'चल्ने वाते चलं चित्तम्' इत्युक्तत्वात् ॥ दिवारात्रिनिरोधतः सूर्यचंद्रौ निरुध्य ॥ स्यग्लेलेषे पंचमी तस्यास्तिसल् ॥ सर्वदा सर्वस्मिन् काले लिंगं आत्मानं पूजयेद्वावयेत् ॥ सूर्यचंद्रयोनिरोधे कृते सुबुम्नांतर्गते प्राणे मनःस्थेर्यात् ॥ तदुक्तम्—'सुबुम्नांतर्गते वायौ मनःस्थेर्य प्रजा-यते' इति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ-अव उन्मनीभावनामें कालके नियमका अमाव वर्णन करते हैं कि दिनमें अर्थात् सूर्यके संचारमें लिंगका पूजन न करें अर्थात् सबके कारण लिंग-रूप आत्माका ध्यान करें सोई कहा है कि, इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ और यहां ध्यानही पूजनशब्दसे लेना पुष्प आदिसे पूजन नहीं सोई वासिष्ठमें विसिष्ठजीने कहाहै कि, आत्माका उपहार (भेंट) ध्यानही है और ध्यानही इसका अर्चन (पूजा) है उसके विना यह आत्मा प्राप्त नहीं होता है और रात्रिमें अर्थात् चंद्रमाके वारमें भी लिंगरूप आत्माका पूजन न करे क्योंकि, चंद्र और सूर्यके वारमें चित्तकी स्थिरता नहीं रहती है कहभी आये हें कि प्राणवायुके चलायमान होनेसे चित्तभी चलायमान होजाताहै और दिवा और रात्रिके निरो-

घको करके सबकालमें लिंगका पूजन कर क्योंकि सूर्य और चंद्रका निरोध होनेपर प्राण सुषुम्नाके अंतर्गत होजाताहै और उससे मनकी स्थिरता होजाती है उस-समय लिंगरूप आत्माका ध्यान कर सोई कहा है कि, सुषुम्नाके अंतर्गत सूर्यके होनेपर मनकी स्थिरता होजाती है-भावार्थ यहहै कि, सूर्य और चंद्रमाके संचा-रमें आत्माका ध्यान कर और सूर्य और चंद्र संचारको रोककर सबकालमें आत्माका ध्यान करे। १२ ॥

### सन्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः ॥ तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः ॥४३॥

खेचरीमाह—संख्येति ॥ सव्यद्क्षिणनाडिस्थो वामतदितरनाडिस्थो मारुतो वायुर्यत्र मध्ये चरति यस्मिन्मध्यप्रदेशे गच्छति तस्मिन्स्थाने तस्मिन्प्रदेशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरा भवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्य-योश्च' इत्यात्मनेपद्म् । न संशयः उक्तेऽथं संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥४३॥

भाषार्थ-अब खेचरीमुद्र।का वर्णन करते हैं कि, इडा पिंगला नामकी जो सन्य दक्षिण नाडी हैं उनमें स्थित प्राणवायु जिस मध्य प्रदेशमें गमन करताहै उसी स्थानमें खेचरीमुद्रा स्थिर होजाती है इसमें संशय नहींहै ॥ ४३॥

# इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ॥ तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनःपुनः ॥ ४४ ॥

इडापिंगलयोरिति ॥ इडापिंगलयोः सन्यदक्षिणनाडचोर्मध्ये यच्छून्यं खम् । कर्त् । अनिलं प्राणवायुं यत्र प्रसेत । सून्ये प्राणस्य स्थिरीभाव एव प्रासः । तत्र तस्मिञ्छून्ये खेचरी मुद्रा तिष्ठते । पुनः पुनः सत्यिमिति योजना ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—इडा पिंगला जो सन्य दक्षिण नाडी हैं उनके मध्यमें जो शून्य (आकाश) है वह शून्य जिसमें प्राणावायुको प्रस ले और शून्यमें प्राणकी जो स्थिरता उसकोही प्रास कहते हैं उसशून्यमें खेचरीमुद्रा स्थिर होती है यह बात वार्रवार सत्य है। १४॥

### सूर्याचंद्रमसोर्मध्ये निरालंबांतरं पुनः ॥ संस्थिता व्योमचक्रे या सामुद्रा नाम खेचरी४५॥

सूर्याचंद्रमसोरिति ॥ सूर्याचंद्रमसोरिडापिंगलयोर्मध्ये निरालंबं यदंतरमवकाशस्तत्र । पुनः पादपूरणे । व्योम्नां खानां चक्रे समुदाये । भूमध्ये सर्वखानां समन्वयात् । तदुक्तम्-'पंचस्रोतःसमन्विते' इति । या संस्थिता सा मुद्रा खेचरीनाम ॥ ४५ ॥

भाषार्थ-सूर्य और चंद्रमा अर्थात् इडा और पिंगलांक मध्यमें जो निरा-लंब अंतर (अवकाश) है उस आकाशोंक समुदायरूप चक्रमें क्योंकि, भुकु-टींके मध्यमें सब आकाशोंका समन्वय (मेल) है सोई कहाहै कि, पांच स्रोतोंसे युक्त भूका मध्य है उस उक्त अवकाशमें जो भलीप्रकार स्थित हो वह खेचरी नामकी मुद्रा होती है ॥ ४९॥

# सोमाचत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववङभा ॥ पूरयेदतुलां दिन्यां सुषुमां पश्चिमे मुखे ॥ ४६॥

सोमादिति ॥ सोमार्चद्राचत्र यस्यां खेचर्या धाराऽमृतधारा उदितोद्धता सा खेचरी साक्षाच्छिववल्लभा शिवस्य प्रियेति पूर्वेणा-न्वयः । अतुलां निर्मलां निरुपमां दिन्यां सर्वनाडचुत्तमां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे पूरयेत् जिह्नयेति शेषः ॥ ४६ ॥

भाषार्थ-जिस खेचरीमुद्रामें चंद्रमासे अमृतकी धारा उत्पन्न होती है वह खेचरीमुद्रा साक्षात् शिवजीको वछुम (प्यारी) है और अतुल अर्थात् जिसकी उपमा न हो और दिव्यरूप अर्थात् सब नाडियोंमें उत्तम जो सुपुम्ना है उसको पश्चिम मुखके विषे जिह्नासे पूर्ण करें ॥ ४६॥

पुरस्ताचैव पूर्यंत निश्चिता खेचरी भवेत् ॥ अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी संप्रजायते ॥ ४७॥

पुरस्ताचैविति ॥ पुरस्ताचैव पूर्वतोऽपि पूर्येत । सुषुम्नां प्राणे-निति शेषः । यदि तिहै निश्चिताऽसंदिग्धा खेचरी खेचर्याख्या मुद्रा भवेदिति । यदि तु पुरस्तात्माणेन न पूर्येत जिह्नामात्रेण पश्चिमतः पूर्येत तर्हि मुहावस्थाजिनका । न निश्चिता खेचरी स्यादिति भावः । खेचरीमुद्राप्यभ्यस्ता सती उन्मनी संप्रजायते चित्तस्य ध्येयाकारा-वेशानुर्यावस्था भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ-और पूर्वमुखके विषेभी पूर्ण करे अर्थात् सुपुन्नाको प्राणसे पूर्ण करे तो निश्चयसे अर्थात् निःसंदेह खेचरी नामकी मुद्रा होता है और यदि पूर्वमुखमें प्राणसे पूर्ण न करे और पश्चिम मुखमें केवल जिह्नासेही पूर्ण करदे तो खेचरीमुद्रा मृद्र अवस्थाको पैदा करती है इससे वह निश्चित नहीं है और अभ्यास कींहुई खेचरीमुद्राभी उन्मनी होजाती है अर्थात् चित्तके ध्येयाकार होनेसे तुर्यावस्था होजाती है ॥ ४७॥

# भुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ॥ ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥ ४८॥

भुवोरिति ॥ भुवोर्मध्ये भुवोरंतराले शिवस्थानं शिवस्येश्वरस्य स्थानं शिवस्य सुखरूपस्यात्मनोऽवस्थानमिति शेवः । तत्र तस्मिन् शिवे मनो लीयते शिवाकारवृत्तिप्रवाहवद्भवति तश्चित्तलयरूपं तुर्य पदं जायत्स्वप्रसुषुप्तिभ्यश्चतुर्थाख्यं ज्ञातव्यम् । तत्र तस्मिन् पदे कालो मृत्युर्न विद्यते । यद्वा सूर्यचंद्रयोर्निरोधादायुः श्चयकारकः कालः समयो न विद्यत इत्यर्थः ॥ तदुक्तम् । 'भोक्की सुषुम्ना कालस्य' इति ॥४८॥

भाषार्थ—दोनों भुकुटियोंके मध्यमें शिवरूप ईश्वरका वा सुखरूप आत्माका स्थान है उस शिव वा आत्मामें मन लीन होताहै अर्थात् मनकी वृत्तिका प्रवाह शिवाकार होजाताहै और वह चित्तका लय तुर्यपद अर्थात् जाग्रत् स्वम सुष्ठितिसे चौथा पद जानना और उस पदमें काल (मृत्यु) नहीं है अथवा सूर्य और चंद्रके निरोधसे अवस्थाके क्षयका कारक समय नहीं है सोई कह आये हैं कि, सुष्ठमा कालके मौगनेवाली है ॥ ४८॥

#### अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ॥ संप्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥४९॥

अभ्यसेदिति ॥ तावत्खेचरीं मुद्रामभ्यसेत् । यावद्योगनिदितः । योगः सर्ववृत्तिनिरोधः सैव निद्रा योगनिद्राऽस्य संजाता इति योग-निद्रितः तादृशः स्यात् । संप्राप्ता योगनिद्रा येन स संप्राप्तयोगनिद्र-स्तस्य कदाचन कस्मिश्चिद्षि समये कालो मृत्युनीस्ति ॥ ४९ ॥

आषार्थ-योगी जबतक योगनिद्रित हो अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका निरोध-रूप जो योग वह निद्रारूप जिसको हो वह योगनिद्रित कहाताहै तबतक खेचरी-मुद्राका अभ्यास करें और जिस योगीको योगनिद्रा भलीप्रकार प्राप्त होगई हो उसकी किसी कालमेंभी मृत्यु नहीं होती॥ ४९॥

## निरालंबं मनः कृत्वा न किंचिदिप चिंतयेत ॥ स बाह्याभ्यंतरे व्योग्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥५०॥

निरालंबिमिति॥ यो निरालंबिमालंबशून्यं मनः कृत्वा किचि-दिष न चितयेत् खेचरीमुद्दायां जायमानायां ब्रह्माकारामापे वृत्ति परवराग्येण परित्यजेदित्यर्थः । स योगी बाह्माभ्यंतरे बाह्मे बहिभेवे आभ्यंतरेऽभ्यंतभेवे च व्योम्न्याकाशे घटवात्तिष्ठति ध्रुतम् । निश्चित-मेतत् । यथाकाशे घटो बहिरंतश्चाकाशपूणों भवति तथा खेचर्यामालं-बनपरित्यागेन योगी ब्रह्मणा पूर्णस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ५० ॥

भाषार्थ-जो योगी निराठंव (निराश्रय) मनको करके कि चित् भी चिता नहीं करताहै अर्थात् खेचरीमुद्राके सिद्ध होनेपर ब्रह्माकार दृत्तिकाभी प्रमविराग्यसे त्याग करताहै वह योगी बाहिर और भीतरके आकाशमें घटके समान निश्चयकर टिकताहै अर्थात् जैसे घट आकाशके विषय बाहिर और भीतर आकाशसे पूर्ण होताहै तिसीप्रकार खेचरीमुद्राके होनेपर आठंबनके परित्यागसे योगीभी ब्रह्मसे पूर्ण टिकताहै ॥ ५०॥

## बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः॥ स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥ ५१॥

बाह्यति ॥ बाह्यो देहाद्वहिर्भवो वायुर्यथा लीनो भवति खेच-र्याम् । तस्यांतः प्रवृत्त्यभावात् । तथा मध्यो देहमध्यवती वायुर्लीनो भवति तस्य वहिः प्रवृत्त्यभावात् । न संशयः । अस्मिन्नर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः । स्थीयते स्थिरीमूयतेऽस्मिन्निति स्थानं स्वस्य प्राणस्य स्थानं स्थैयीधिष्ठानं ब्रह्मरंधं तत्र मनसा चित्तेन सह पवनः प्राणः स्थिरतां निश्चलतामेति प्रामोति ॥ ५१ ॥

भाषार्थ-खेचरीमुद्राके विषय देहसे बाहिरका पवन जिसप्रकार छीन होताहै, क्योंकि, उसकी भीतर प्रवृत्ति नहीं होती, तिसीप्रकार देहके मध्यका वायुभी छीन होजाताहै क्योंकि, उसकी बाहिर प्रवृत्ति नहीं होती इसमें संशय नहीं है किंतु मनसहित पवन प्राणकी स्थिरताका स्थान जो ब्रह्मरंघ है उसमें निश्चछताको प्राप्त होजाताहै ॥ ५१॥

#### एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ॥ अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥ ५२ ॥

एवमिति ॥ एवमुक्तप्रकारेण वायुमार्गे प्राणमार्गे सुषुम्नाया-मित्यर्थः । दिवानिशं रात्रिंदिवमभ्यसमानस्याभ्यासं कुर्वतो योगिनोऽ-भ्यासाद्यत्र वस्मिन्नाधारे वायुः प्राणो जीर्यते क्षीयते लीयत इत्यर्थः । तत्रैव वायोर्लयाधिष्ठाने मनश्चित्तं लीयते जीर्यत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—इसपूर्वोक्त प्रकारसे प्राणरूप वायुका मार्ग जो सुषुम्ना उसमें रात्रिदिन अभ्यास करतेहुए योगीके अभ्याससे जिस आधारमें प्राणवायु जीर्ण होजाताहै अर्थात् छय होजाताहै उसीवायुके छयाधिष्ठान (स्थान) में मनभी छीन होजाताहै ॥ ५२॥

अमृतैः प्रावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ॥ सिद्धचत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥ ५३॥ इति सेचरी। अमृतैरिति ॥ अमृतैः सुषिरिनर्गतैः पादतलं च मस्तकं च पादतलः मस्तकम् । 'द्वंदश्च प्राणितूर्यसेनांगानाम्' इत्येकवद्भावः । पादतलः मस्तकमभिव्याप्येत्यापादतलमस्तकं देहमाञ्जावयेदाञ्जावितं कुर्यात् । महानुत्कृष्टः कायो यस्य स महाकायः महांतौ वलपराक्रमो यस्येत्येताहशो योगी सिद्धचत्येव । अमृतञ्जावनेन सिद्धो भवत्येव ॥५३॥

भाषार्थ-योगी पादतल और मस्तक पर्यत देहको सुषिर (चंद्रमा) से निक्से जो अमृत उनसे सेचन करें तो उत्तम है काया जिसकी और अधिक बल पराक्रम जिसके ऐसा योगी पूर्वोक्त अमृतके स्नानसे ग्रुद्ध होजाताहै ॥ ९ ३॥

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ॥ मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पद्म् ॥ ५४॥

शक्तिमध्य इति ॥ शक्तिः कुण्डलिनी तस्या मध्ये मनः कृत्वा तस्यां मनो धृत्वा तदाकारं मनः कृत्वेत्यर्थः । शक्ति मानसमध्यगां कृत्वा । शक्तिध्यानावेशाच्छक्ति मनस्येकीकृत्य तेन कुण्डलीं बोध-यित्वेति यावत् । 'प्रबुद्धा विद्वयोगेन मनसा मरुता सह' इति गोर-क्षोक्तेः मनसांतःकरणेन मन आलोक्य बुद्धि मनसाऽवलोकनेन स्थिरी-कृत्वेत्यर्थः । परमं पदं सर्वोत्कृष्टं स्वरूपं धारयेद्धारणाविषयं कुर्या-दित्यर्थः ॥ ५४ ॥

भाषार्थ-राक्ति (कुण्डिलनी ) के मध्यमें मनको घरकर अर्थात् कुंडलीके आकारका मनको करके और राक्तिको मनके मध्यमें करके अर्थात् राक्ति ध्यानके आवेशसे राक्तिको मनमें एककरके और उससे कुंडलीका बौधन करके सोई गोरक्षने कहा है कि, मन और पवन सहित कुंडली बहिके योगसे प्रबुद्ध होती है और अंतःकरणरूप मनसे मनको देखकर अर्थात् मनसे देखनेके द्वारा बुद्धिको स्थिर करके सर्वोत्तम स्वरूप जो परमपद है उसकी धारणा करे अर्थात् ब्रह्ममें

मनको लगावै ॥ ५४ ॥

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ॥ सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिद्पि चिन्तयेत्॥५५॥ खमध्य इति ॥ खमिव पूर्ण ब्रह्म खं तन्मध्ये आत्मानं स्वस्व-रूपं कुरु । ब्रह्माहमिति भावयेत्यर्थः । आत्ममध्ये स्वस्वरूपे च खं पूर्ण ब्रह्म कुरु । अहं ब्रह्मेति च भावयेत्यर्थः । सर्व च खमयं कृत्वा ब्रह्ममयं विभाव्य किमपि न चितयेत् । अहं ब्रह्मेतिध्यानमपि परि-त्यजेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ-आकाराके समान पूर्ण जो ब्रह्म उसके विषे अपने आत्माको करके अर्थात् ब्रह्म में हूं, ऐसी भावना करके अपने रूप स्वरूप आत्मामें पूर्ण ब्रह्मको करो-में ब्रह्महूं ऐसी भावना कर, और संपूर्ण प्रपंचको ब्रह्ममय करके अर्थात् ब्रह्मस्य करके अर्थात् ब्रह्मस्य करके अर्थात् में ब्रह्महूं इस प्यानकाभी परित्याग करदे ॥ ५५॥

# अंतःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुंभ इवांबरे ॥ अंतःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णः कुंभ इवार्णवे ॥ ५६॥

एवं समाहितस्य स्वरूपे स्थितिमाह—अंतःशून्य इति ॥ अंतः अंतःकरणे शून्यः । ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्वितीयशून्यः । बहिरंतः-करणाद्विहिरापि शून्यः । द्वितीयाद्र्शनात् । अंबरे आकाशे क्रम्भो घटो यथांतर्विहःशून्यस्तद्वदंतःकरणे हदाकाशे वायुपूर्णः ब्रह्माकार-वृत्तेः सद्भावाद्ववासत्वाद्या । विहःपूर्णांऽतःकरणाद्विहंद्वकाशाद्ध-हिर्वा पूर्णः । सत्तया ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्वह्मपूर्णत्वाद्या । अणीवे समुद्रे कुम्भो घटो यथा सर्वतो जलपूर्णा भवत्येवं समाधिनिष्ठो योगी ब्रह्मपूर्णो भवतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—इसप्रकार समाधिमें स्थित योगीकी अपने स्वरूपमें स्थितिका वर्णन करते हैं कि, अंतकरणमें शून्यहो अर्थात् ब्रह्मसे अतिरिक्त वृत्तिके अमावसे दूसरेकी प्रतीति न होती हो और दूसरेके न देखनेसे अंतःकरणसे बाहिरभी इसप्रकार शून्य हो जैसे आकाशमें स्थित घट भीतर और बाहिर जलसे शून्य होता है—और तिसी प्रकार हृदयके आकाशरूप अंतःकरणमें ब्रह्माकार वृत्तिके होनेसे वा ब्रह्मकी वासनासे वायुसे पूर्ण हो और अंतःकरणसे वा हृदयाकाशसे बाहिरभी पूर्ण हो अर्थात् सत्तारूपसे वा ब्रह्मातिरिक्त वृत्तिके अभावसेवा ब्रह्मरूपसे इसप्रकार पूर्ण हो जैसे समुद्रके विषे डुवाहुआ कुंभ चारोंतरफसे जलपूर्ण होता है इसीप्रकार समाधिमें स्थित पुरुषभी ब्रह्मसे पूर्ण होता है ॥ ५ ६ ॥

#### बाह्यचिता न कर्तव्या तथेवांतरचितनम् ॥ सवाचतां परित्यज्य न किंचिद्रपि चिंतयेत्॥५०॥

बाह्यचितिति॥ समाहितेन योगिनेत्यध्याहारः। बाह्यचिता वाह्य-विषया चिन्ता न कर्तव्या तथैव बाह्यचिताकरणवदांतरचितनमांतराणां मनसा परिकल्पितानामाशामोदकसोधवाटिकादीनां चितनं न कर्त-व्यमिति छिगविपरिणामेनान्वयः। सर्वचितां बाह्याभ्यंतरचितनं परित्यज्य किचिद्पि न चितयेत्परवैराग्येणात्माकारवृत्तिमपि परि-त्यजेत्। तत्त्यागे स्वरूपावस्थितिरूपा जीवनमुक्तिर्भवतीति भावः॥५७॥

भाषार्थ—समाधिमें स्थित योगी बाहिरके माला चंदन आदि विषयोंकी चिंता न करे और तिसीप्रकार अंतः करणमें मनसे कल्पना किये जो आशामोदक, श्वेतमंदिर, वाटिका आदि हैं उनका भी चिन्तन न करें इसप्रकार बाहर भीतरकी सम्पूर्ण चिंताओंका परित्याग करके किंचित्की भी चिंता न करें अर्थात् परमवैराग्यसे ब्रह्माकारवृत्तिकाभी परित्याग करदे क्योंकि ब्रह्माकारवृत्तिका त्याग अपने स्वरूपमें स्थितिरूप मुक्ति जीवन समयमें ही हो जाती है ॥ ५७॥

संकरपमात्रकलनेव जगत्समग्रं संकरपमात्रकलनेव मनोविलासः ॥ संकरपमात्रमतिमुत्सृज निर्विकरप-माश्रित्य निश्चयमवामुहि राम शांतिम् ॥ ५८॥

वाह्याभ्यंतरचिंतापरित्यागे शांतिश्च भवतीत्यत्र वसिष्ठवाक्यं प्रमा-णयति-संकल्पेति ॥ संकल्पो मानसिको व्यापारः स एव संकल्प- मात्रं तस्य कलनेव रचनेवेदं दृश्यमानं समग्रं जगत् वाह्मप्रंचो मनीमात्रकित इत्यर्थः । मनसो मानसस्य विलासो नानाविषयाकारकल्पना आशामोदकसौधवािटकािदकल्पनारूपो विलासः संकल्पमात्रकलनेव । मानसः प्रपंचोऽपि संकल्पमात्ररचनेवेत्यर्थः । संकल्पमात्रे
वाह्याभ्यंतरप्रपंचे या मितः सत्यत्वचुिद्धस्तामुत्मुज । तिर्हि कि कर्तव्यमित्यत आह्—निर्विकल्पमिति । विशिष्टकल्पना विकल्पः । आत्मिनि
कर्तृत्वभोक्तृत्वसुित्वसजातीयविजातीयस्वगतभेददेशकाल्वस्तुपिरच्छे
दकल्पनारूपः तस्मान्निष्कांतो निर्विकल्पस्तमात्मानमािश्रत्य धारणादिविषयं कृत्वा हे राम ! निश्चयमसंदिग्धं शांति परमोपरितमवापन्निहि । ततः सुखमिप प्राप्स्यसीित भावः । तदुक्तं भगवता व्यतिरेकेण—'न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कृतः सुखम्' इति ॥ ५८ ॥

भाषार्थ-बाह्य और आम्यंतर चिंताओं के परित्यागसे शांति भी होती है इसमें विषयि के वाक्यका प्रमाण देते हैं कि, मानसिक व्यापाररूप जो संकल्प है उसकी रचनारूपही यह दश्यमान संपूर्ण जगत् है अर्थात् बाह्य प्रपंच मन-सेही किंवत है और आशामोदक श्वेतमंदिर वाटिका आदि नाना प्रकारके विषयोंकी कल्पनाका जो विलास है वहभी संकल्पकीही रचनाहै अर्थात् मानस-प्रपंचभी संकल्पकीही रचनारूप है इससे हे राम! संकल्प मात्रमें जो मित अर्थात् बाह्य और आम्यंतरके प्रपंचमें सत्यत्व बुद्धि है उसको त्याग दे कदाचित् कहो कि, किर क्या करूं इससे कहतेहैं कि, निर्विकल्पके आश्रय होकर अर्थात् आत्माके विषे जो कर्ता भोता सुखी दुःखी—सजातीय—विजातीय—स्वगत भेद—देश—काल—शहतु—परिच्छेदरूप विशिष्ट कल्पना हैं उनसे रहित जो निर्विकल्परूप अर्थात् पूर्वोक्त विशिष्ट कल्पनासे शुन्य आत्मा है उसकोही धारणाका विषय करके हे राम! निश्चयसे त् शांतिको प्राप्त हो उस शांतिसे किर सुखको भी प्राप्त हो जायगा—सोई मगवान्ने गीतामें कहा है कि विचारहीन पुरुषको शांति नहीं होती है और अशांत मनुष्यको सुख कहांसे होताहै ॥ ९८ ॥

#### कर्प्रमनले यद्वत्सेंघवं सिलले यथा ॥ तथा संघीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ ५९॥

कर्प्रमिति ॥ यद्वयथाऽनलेशी संधीयमानं संयोज्यमानं कर्प्रं विलीयते विशेषेण लीयते लीनं भवति । अग्न्याकारं भवति । यथा सलिले जले संधीयमानं सेंधवं लवणं विलीयते लवणाकारं परित्यज्य जलाकारं भवति तथा तद्वत्तस्वे आत्मिन संधीयमानं कार्यमानं मनो विलीयते आत्माकारं भवति ॥ ५९॥

भाषार्थ-जैसे कपूर अग्निमं संयोग करनेसे विशेषकर छीन होता है अर्थात् अग्निके आकार हो जाताहै और जैसे जलमें संयुक्त किया सैंधव छवण विलीन होताहै अर्थात् छवणके आकारको त्यागकर जलाकार होजाता है—ितिसी प्रकार तत्त्वरूप आत्मामें संयुक्त किया मन विलीन होता है। अर्थात् आत्मा-कार हो जाता है॥ ५९॥

#### ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते ॥ ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पंथा द्वितीयकः॥६०॥

मनसो विलये जाते द्वेतमिष लीयत इत्याह त्रिभिः-ज्ञेयमिति ॥
सर्व सकलं ज्ञेयं ज्ञानाई प्रतीतं च ज्ञातं च ज्ञानं च इदं सर्व मन
उच्यते । सर्वस्य मनःकल्पनामात्रत्वान्मनःशब्देनोच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं
च समं मनो विलीयते मनसा सार्ध नष्टं यदि तर्हि द्वितीयकः
द्वितीय एव द्वितीयकः पंथा मनोविषयो नास्ति । द्वेतं नास्तीति
फलितार्थः ॥ ६०॥

आषार्थ—अब मनके छय होनेपर द्वैतकाभी छय वर्णन करते हैं कि, संपूर्ण जो क्षेय (ज्ञानके योग्य) अर्थात् ज्ञात प्रतीयमान है और ज्ञान यह सब मन कहाता है क्योंकि ये सब मनकी कल्पनामात्र हैं यदि ज्ञान और ज्ञेय मन-सहित नष्ट हो जायँ तो दूसरा मार्ग नहीं है अर्थात् मनका विषय जो द्वैत है। वह नहीं रहता है ॥ ६०॥

# मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किचित्सचराचरम् ॥ मनसो ह्युन्मनीभावाद्देतं नैवोपलभ्यते ॥ ६१ ॥

मनोदृश्यमिति ॥ इद्मुपलभ्यमानं यिकचिद्यत्किमपि चरं जंगममचरं स्थावरं चरं चाचरं च चराचरे ताभ्यां सह दर्तत इति सचराचरं यज्जगत्सर्व मनोदृश्यं मनसा दृश्यम् । मनःसंकल्पमात्र-मित्यर्थः । मनःकल्पनासन्त्वे प्रतितेस्तद्भावे चाप्रतितेर्भ्रम एव सर्व जगत् । भ्रमस्य प्रतीतकश्ररीरत्वात् । न च बौद्धमतप्रसंगः । भ्रमा-चिष्ठानस्य ब्रह्मणः सत्यत्वाभ्युपगमात् । मनस उन्मनीभावाद्विलया-द्वैतं भेदः नैवोपलभ्यते नैव प्रतीयते । द्वैतभ्रमहेतोर्मनःसंकल्पस्याभा-वात् । हि तद्धेतावन्ययम् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ-यह दीखता हुआ जो स्थावर जंगम (चराचर) रूप सहित जगत् जो कुछ है वह सब मनसे देखने योग्य है अर्थात् मनसे कल्पित है अर्थात् मनकी कल्पना होनेपर प्रतीत होताहै और कल्पनाके अभावमें प्रतीत नहीं होताहै इससे भमरूपही है और अमका शरीर प्रतीतिमाण होता है कदा-चित् कहो कि, ऐसे कहोंगे तो बौद्धमतका प्रसंग होजायगा सो ठीक नहीं क्योंकि, अमके अधिष्ठान ब्रह्मको सत्य मानतेहैं—और उक्त मनके उन्मनीभाव (विलय) से हैत (भेद) प्रतीतही नहीं होताहै क्योंकि, हैत अमका हेतु जो सनका संकल्प है उसका अभाव है॥ ६१॥

#### यवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ॥ मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ॥ ६२ ॥

द्वेयमिति ॥ क्षेयं ज्ञानविषयं यद्वस्तु सर्व चराचरं यद्दश्यं तस्य परित्यागान्नामरूपात्मकस्य तस्य परिवर्जनाद्विलयं सचिदानंदरूपात्मा-कारं भवति । मनसो विलये जाते सति केवलयं केवलस्यात्मनो भावः केवल्यमविज्ञाच्यते । अदितीयात्मस्वरूपमविज्ञाष्टं भवतीत्यर्थः ॥६२॥

भाषार्थ-ज्ञानका विषय जो चराचरक्रप दृश्य है उसके परित्यागसे अर्थात् नामक्रपात्मक जगत्के वर्जित करनेसे मन विष्ठयको प्राप्त होजाता है अर्थात् सचिदानंदक्रप आत्माकार होजाता है और मनका विष्ठय होनेपर कैवल्य शेष रहजाता है अर्थात् अद्वितीय आत्मारूपही शेष रहता है ॥ ६२॥

# एवं नानाविधोपायाः सम्यक्तवानुभवान्विताः॥ समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्येर्महात्मभिः॥६३॥

एवमिति ॥ एवमंतर्लक्ष्यं बहिर्देष्टिरित्याद्युक्तप्रकारेण महान् सप्राधिपरिशीलनशुद्ध आत्मांतःकरणं येषां ते महात्मानस्तैर्महात्मभिः पूर्वे च ते आचार्याश्च पूर्वाचार्या मत्स्येद्वाद्यस्तैः समाधिश्चत्तवृत्ति-निरोधस्य मार्गाः पाप्त्युपायाः कथिताः । कीह्शाः समाधिमार्गाः । नानाविधोपायाः नानाविधा उपायाः साधनानि येषां ते तथा सम्यक् समीचीनतया संश्यविपर्ययराहित्येन यः स्वानुभव आत्मानु-भवस्तेनान्विता युक्ताः ॥ ६३ ॥

आषार्थ-इसप्रकार नानाप्रकारके उपाय (साधन) हैं-जिनके और मली-प्रकार जो स्वानुभव अर्थात् संशय और विपर्ययसे रहित आत्मानुभव उससे युक्त चित्तरृत्तिनिरोधरूप समाधिके मार्ग अर्थात् प्राप्तिके उपाय पहिले महात्मा आचार्योने कहे हैं अर्थात् समाधिके अभ्याससे महान् (शुद्ध) है आत्मा (अंत:करण) जिनका ऐसे महात्मा मत्स्येंद्र आदि पूर्वीचार्योंने अपने अनुभवसे पूर्वीक्त समाधिके मार्ग वर्णन किये हैं ॥ ६३॥

#### सुषुमाय कुंडलिन्ये सुधाये चंद्रजनमने ॥ मनोन्मन्ये नमस्तुभ्यं महाशक्तये चिद्रातमने॥६४॥

सुबुम्नादिभ्यः कृतकृत्यस्ताः प्रणमति—सुबुम्नाये इति ॥ सुबुम्ना मध्यनाडी तस्ये कुंडिलन्ये आधारशत्त्ये चंद्राद्श्रूमध्यस्थाज्ञनम यस्याः तस्ये सुधाये पीयूषाये मनोन्मन्ये तुर्यावस्थाये चित्रैतन्यमात्मा स्वरूपं यस्याः सा तथा तस्ये । महती जडानां कायेंद्रियमनसां चैत-

न्यसंपादकत्वात्सर्वोत्तमा या शक्तिश्चिच्छक्तिः पुरुषरूपा तस्यै। तुभ्यमिति प्रत्येकं संबध्यते । नमः प्रद्वीभावोऽस्तु ॥ ६४॥

भाषार्थ-सुषुप्ता आदि नाडियोंसे इतक्रत्य हुये आचार्य उनको प्रणाम करते हैं कि, मध्यनाडीरूप सुषुप्ताको और आधारशक्तिरूप कुंडिलिनीको और चंद्रमासे है जन्म जिसका ऐसी सुधाको और तुर्यावस्थारूप उस मनोन्मनीको नमस्कार है जो मनोन्मनी देह इंद्रिय मनरूप जो जड पदार्थ हैं उनकोभी चेत-नताको संपादक होनेसे सबसे बडी शक्ति (चित् शक्ति पुरुष) रूप है और जो चेतन आत्मा स्वरूप है—इस स्रोकमें तुमको नमस्कार है इस पदका सर्वष संबंध है ॥ ६४॥

#### अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम् ॥ प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥ ६५ ॥

नानाविधान्समाध्युपायानुक्ता नादानुसंधानरूपं मुख्योपायं मितजानीते—अशक्येति ॥ अव्युत्पन्नत्वादशक्यस्तत्त्वबोधस्तत्त्वज्ञानं येषां ते तथा तेषां मुहानामनधीतानां संमतम् । अपिशब्दात्किमुताधीतानामिति गम्यते । गोरक्षनाथेन मोक्तमित्यनेन महदुक्तत्वाद्धपादेयत्वं गम्यते । नाद्स्यानाहतध्वनेरुपासनेऽनुसंधानरूपं सेवन-मुच्यते कथ्यते ॥ ६५ ॥

भाषार्थ-अनेकप्रकारके समाधिके उपायोंको कहकर नादानुसंधान रूप मुख्य जो उपाय है उसके वर्णनकी प्रतिज्ञा करते हैं कि, अव्युत्पन्न (मूर्ख) होनेसे जिनको तत्त्रज्ञान अशक्य है उन मूढोंकोभी जो संमत है और अपि-शब्दसे पठित मनुष्योंको तो संमत क्यों न होगा ऐसे गोरक्षनाथके कहेहुये नादो-पासन अर्थात् अनाहतध्यनिका सेवन वर्णन करते हैं और यह नादका अनुसंधान गोरक्षनाथ महान् पुरुषने कहाहै इससे अवश्य करने योग्य है ॥ ६९॥

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयंति ॥ नादानुसंघानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥ ६६ ॥ श्रीआदिनाथेनेति ॥ श्रीआदिनाथेन शिवेन कथिताः मोकाः पादेन चतुर्थाशेन सह वर्तमानाः कोटिसंख्याका लयपकाराश्चित्तल-यसाधनभेदा जयंत्युत्कर्षण वर्तते । वयं तु नादानुचितनमेव एकं केवलं लयानां लयसाधनानां मध्ये युख्यतममतिशयेन युख्यं युन्या-महे जानीमहे उत्कृष्टानां लयसाधनानां मध्ये उत्कृष्टतमत्वाद्गोरक्षा-भिमतत्वाच्च नादानुसंधानमेव अवश्यं विधेयमिति भावः ॥ ६६ ॥

आषार्थ-श्रीआदिनाथ (शिवजी) ने सवाकरोड चित्तके उपके प्रकार कहे हैं और वे सर्वोत्तम रूपसे वर्तते हैं हम तो एक नादानुसंधान (नादका-सेवन) कोही केवळ अत्यंत मुख्य ळयके साधनों में मानते हैं क्योंकि, वह सबसे उत्तम है और गोरक्षनाथको अभिमत है इससे अवस्य करने योग्यहै ॥ ६६ ॥

#### मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संघाय शांभवीम् ॥ शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नाद्मंतःस्थमेकधीः ॥ ६७॥

शांभवीमुद्राया नादानुसंधानमाह—मुक्तासन इति ॥ मुक्तासने सिद्धासने स्थितो योगी शांभवीं मुद्राम् 'अंतर्रुक्ष्यं बहिईष्टिः' इत्या-दिनोक्तां संधाय कृत्वा। एकधीरेकायचित्तः सन् दक्षिणे कर्णेऽन्तस्थ-सुबुम्नानाडचां संतमेव नादं ऋणुयात्। तदुक्तं त्रिपुरसारसमुचये—'आदी मत्तालिमालाजनितरवसमस्तारसंस्कारकारी नादोऽसौ वांशि-कस्यानिलभित्तलसदंशिनःस्वानतुल्यः। घंटानादानुकारी तद्नु च जलिध्वानधीरो गभीरो गर्जन्पर्जन्यधोषः पर इह कुहरे वर्तते ब्रह्मनाडचा' इति ॥ ६७॥

भाषार्थ-अब शांभवी मुद्रासे नादानुसंधानका वर्णन करते हैं कि, मुक्ता-सन सिद्धासनमें स्थित योगी भीतर छक्ष्य और बाहिर दृष्टि इत्यादि प्रथसे कहीं हुई शांभवीमुद्राको करके और एकाप्रचित्त होकर दक्षिणकर्णके विषे दुष्टुम्ना-नाडीमें वर्तमान जो देहके भीतरका शब्द है उसको सुनै सोई त्रिपुरसारसमुच-यमें कहाहै कि, तारके संस्कारका कर्ता नाद प्रथमतो उन्मत्त अमरोंके समूहका जो शब्द उसके समान और फिर पवनसे भरेहुये शोभित वंशके शब्दकी तुल्य और फिर घंटाके शब्द समान और समुद्रके शब्दकी तुल्य धीर और फिर गर्ज-तेहुये मेचका जो शब्द उसके समान गंभीर ऐसा पूर्वीक्त नाद इस देहमें सुषुम्ना-नाडीके छिद्रमें वर्तताहै ॥ ६७॥

श्रवणपुटनयनयुगलत्राणमुखानां निरोधनं कार्यम्।। जुद्धमुषुत्रासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥६८॥

पराङ्गुखीमुद्रया नादानुसंधानमाह-श्रवणिति ॥ श्रवणपुटे नय-नयोनित्रयोर्युगळं युग्मं प्राणशब्देन घ्राणपुटे मुखमास्यमेषाम् । इंद्रे प्राण्यंगत्वादेकवद्भावे प्राप्तेऽपि सर्वस्यापि इंद्रेकवद्भावस्य वैकल्पिकत्वाच्न भवाति । तेषां निरोधनं करांगुलिभिः कार्यम् । निरोधनं चेत्थम्— 'अंग्रहाभ्यामुभी कर्णी तर्जनीभ्यां च चक्षुषी । नासापुटी तथान्याभ्यां प्रच्छाच करणानि च' इति । चकारात्तदन्याभ्यां मुखं प्रच्छाचेति समुचीयते । शुद्धा प्राणायामेर्मलसहिता या सुषुग्नासरणिः सुषु-म्नापद्धतिस्तस्याममलो नादः स्फुटं व्यक्तं श्रूयते ॥ ६८ ॥

भाषार्थ-अब पराङ्मुखीनाडीसे नादके अनुसंवानका वर्णन करते हैं कि, कर्ण और नेत्र और व्राण इन तीनोंके युगल (दोनों छिद्र) और मुख इनका निरोध कर अर्थात् हाथकी अंगुलियोंसे इनको रोके और निरोध भी इस घचनके अनुसार करें कि, अंगुष्ठोंसे दोनों कानोंका और तर्जनियोंसे दोनों नेत्रोंका और मध्यमाओंसे नासापुटोंका और चकारके पढ़नेसे तर्जनियोंसे मुखका आच्छादन करें इसप्रकारका इंदियोंका निरोध करनेसे प्राणायामोंसे मलरहित जो सुखुन्नाका मार्ग है उसमें स्फुट (प्रत्यक्ष) अमल (स्पष्ट) नाद सुनताहै ॥ ६८॥

आरंभश्च घटश्चेव तथा परिचयोऽपि च ॥

निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्याद्वस्थाचतुष्ट्यम् ॥६९॥ अथ नादस्य चतस्रोऽवस्थाः प्राह-आरंभश्चेति ॥ आरंभावस्था चटावस्था परिचयावस्था निष्पत्त्यवस्था इति । सर्वयोगेषु सर्वेषु चित्तवृत्तिनिरोधोपायेषु शांभव्यादिषु व्यवस्थाचतुष्ट्यं स्यात् । चचैव-तथापिचाः पादपूरणार्थाः ॥ ६९ ॥

आषार्थ-अव नादकी चार अवस्थाओंका वर्णन करतेहें कि, आरंभ अव-स्या-घटावस्था-परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था ये चारअवस्था संपूर्ण चित्त-वृत्तिके निरोधरूपयोगोंमें होतीहें अर्थात शांभवीमुद्रादिकोंमें ये चारही अवस्था होती हैं ॥ ६९ ॥

#### अथारंभावस्था ।

# ब्रह्मत्रंथेभवेद्रेदो ह्यानंदः शून्यसंभवः ॥ विचित्रः कणको देहेऽनाहतःश्रूयते ध्वनिः ॥ ७० ॥

तत्रारंभावस्थामाह—ब्रह्मप्रंथेरिति ॥ ब्रह्मप्रंथेरनाहतचके वर्तमानाया भेदः प्राणयामाभ्यासेन भेदनं यदा भवेत्तदेति यत्तदोरध्याहारः । आनंदयतीत्यानंदः आनंदजनकः शून्ये हृदाकाशे संभवतीति
शून्यसंभवो हृदाकाशोत्पन्नो विचित्रो नानाविधः कणो भूषणनिनदः स एव कणकः भूषणनिनदसदश इत्यर्थः । 'भूषणानां तु
शिजितम् । निकाणो निकणः काणः कणः कणनामित्यपि' इत्यमरः ।
अनाहतो ध्वनिरनाहतो निर्वादो देहे देहमध्ये श्रूयते श्रवणविषयो
भवतीत्यर्थः ॥ ७० ॥

आषार्थ-उन चारोंमें आरंभावस्था जो सबसे प्रथम है उसका वर्णन करतेहें कि, अनाहतचक्रमें वर्तमान ब्रह्मप्रंथिका जब प्राणायामोंके अभ्याससे भेद
होताहै तब आनंदका उत्पादक और हृदयाकाशरूप शून्यमें उत्पन्न-और अनेकविध और भूषणोंके शब्दकी तुल्य-अनाहत अर्थात् विना ताडनासे उत्पन्न चिन
(शब्द) देहके मध्यमें धुनता है—इस श्लोक्तमें कणकशब्दसे भूषणोंका शब्द—इस
अमरके श्लोकसे छेना कि, भूषणोंके शब्दको शिजित-निकाण-निकण-काण-कण
कान कहतेहैं॥ ७०॥

दिन्यदेहश्च तेजस्वी दिन्यगंधस्त्वरोगवान् ॥ संपूर्णहद्यः शून्य आरंभो योगवान्भवेत् ॥ ७१ ॥ दिव्यदेह इति ॥ ग्रून्ये हदाकाशे य आरंभो नादारंभस्तस्मित्त सित हदाकाशिवशुद्धाकाशश्रूमध्याकाशाः ग्रून्यातिशून्यमहाग्रून्य- शब्दैव्यवहियंते योगिभिः । संपूर्णहृद्यः प्राणवायुना सम्यक् पूर्ण हृद्यं यस्य स तथा आनंदेन पूर्णे हृद्ये योगवान् योगी दिव्यो रूपलावण्यवलसंपन्नो देहो यस्य स दिव्यदेहः तेजस्वी प्रतापवान् दिव्यगंधः दिव्य उत्तमो गंधो यस्य स तथा अरोगवान् रोगरहितो भवेदिति संबंधः ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—हदाकाशरूप श्रूपमें आरंभ (नादका प्रारंभ) होनेपर अर्थात् यदि हृदयमें नादकी प्रतीति होय तो-प्राणवायुसे मलीप्रकार पूर्ण है हृदय जिसका और आनंदसे पूर्ण हृदयके होनेपर योगी-रूपलावण्यसे सपन्नरूप दिन्यदेह होताहै और तेजस्वी (प्रतापी) और उत्तम गंधवान् और रोगोंसे रहित होताहै यहां श्रूप्यसे हृदयाकाश इसल्ये कहाहै कि हृदाकाश विश्वद्धाकाश भुकुटिमध्यका आकाश इन तीनोंका क्रमसे श्रूप्य अतिशृज्य-महाश्रूप्य शब्दोंसे व्यवहार योगी-जन करते हैं ॥ ७१॥

#### अथ घटावस्था।

# द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ॥ हढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥ ७२॥

वटावस्थामाह — द्वितीयायामिति ॥ द्वितीयायां घटावस्थायां वायुः प्राणः घटीकृत्य आत्मना सहापानं नादिवंदू चैकीकृत्य मध्यगो मध्यचक्रगतः कण्ठस्थाने मध्यचक्रम् । तदुक्तमत्रैव जालंधरबंधे— 'मध्यचक्रमिदं त्रेयं षोडशाधारबंधनम्' इति यदा भवेदित्यध्याहारः । तदास्यामवस्थायां योगी योगाभ्यासी हदमासनं यस्य स हदासनः स्थिरासनो ज्ञानी पूर्वापेक्षया कुशलबुद्धिर्देवसमो रूपलावण्याधिक्या-देवतुल्यो भवेत् । तदुक्तमीश्वरोक्ते राजयोगे—'प्राणापानी नाद्बिंदू जीवातमपरमात्मनोः । मिलित्वा घटते यस्मात्तसमात्स घट उच्यते ॥' इति ॥ ७२ ॥

भाषार्थ-अन घटावस्थाको कहते हैं कि, दूसरी घटावस्थामें प्राण वायु अपने संग अपान और नाद बिंदु इनको एक करके कंठस्थानके विषे वर्तमान जो मध्यचक्र उसमें गत हो (पहुंच) जाता है सोई जालंधर बंधमें कह आये हैं कि, सोळह आधार हैं बंधन जिसका ऐसा यह मध्यचक्र जानना अर्थात् जब यह पूर्वीक्त अवस्था होजाय तो योगी उस अवस्थामें दढ (स्थिर) आसन और ज्ञानी अर्थात पूर्वकी अपेक्षाते कुरालबुद्धि और रूप लावण्यकी अधिकतासे देवतुल्य होजाताहै सोई ईश्वरोक्त राजयोगमें कहाहै कि, जिससे प्राण अपान नाद बिंदु जीवात्मा परमात्मा इनको मिलकर यह घटतीहै तिससे घटावस्था कहाती है ॥ ७२॥

विष्णुत्रंथेस्ततो भेदात्परमानंदसूचकः॥ अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥ ७३ ॥

विष्णु प्रंथेरिति ॥ ततो ब्रह्म यंथिभेदनानंतरं विष्णु प्रंथेः कण्ठे वर्तमानाया भेदात्कुंभकेर्भेद्नात्परमानंदस्य भाविनो ब्रह्मानंदस्य सूचको ज्ञापकः । अतिशून्ये कण्ठावकाशे विमदींऽनेकनादसंमदीं भेर्याः शब्द इव शब्दो भेरीशब्दो भेरीनादश्च तदा तस्मिन्काले भवेत् ॥ ७३ ॥

आषार्थ-फिर ब्रह्मग्रंथिभेदनके अनंतर कंठके विषे वर्तमान जो विष्णुग्रंथि है उसके भेदसे अर्थात् कुंभकप्राणायामोंसे विष्णुग्रंथिके खुलनेपर होनेवाला जो परमानंद ( ब्रह्मानंद ) है उसका सूचक ( ज्ञापक ) अतिशून्यरूप कंठाकाशमें विमर्द अर्थात् भेरीके शब्द समान अनेकनादौंका संमर्द और भेरीका शब्द उस -समय होतेहैं॥ ७३॥

#### अथ परिचयावस्था।

तृतीयायां तु विज्ञयो विहायोमर्द्रलध्वनिः॥ महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥७४॥

परिचयावस्थामाह सार्धद्वाभ्याम्-तृतीयायामिति ॥ तृतीयायां परिचयावस्थायां विहायोमर्दलध्वनिर्विहायसि भूमध्याकाशे मर्दलस्य बाद्यविशेषस्य ध्वनिरिव ध्वनिर्विज्ञेयो विशेषेण ज्ञानाहीं भवति । तदा तस्यामवस्थायां सर्वसिद्धिसमाश्रयं सर्वासां सिद्धीनामणिमादीनां समाश्रयं स्थानम् । तत्र संयमादिणमादिपाप्ते महाशून्यं श्रूमध्याकाशं याति गच्छति प्राण इति शेषः ॥ ७४ ॥

भाषार्थ-अब अढाई श्लोकोंसे परिचयावस्थाका वर्णन करते हैं कि, तीसरी परिचयावस्थामें भुकुटिके मध्यरूप आकाशमें मर्दछनाम वाद्यविशेष (ढोछ) की व्यनि विशेष करके जाननी और उस अवस्थामें प्राणवायु संपूर्ण अणिमा आदि सिद्धियोंका समाश्रय जो (स्थान) महाशून्य है, भूमध्याकाशरूप उसमें पहुंच जाता है क्योंकि महाशून्यमें वायुका संयम करनेसे अणिमा आदि सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है ॥ ७४ ॥

# चित्तानंदं तदा जित्वा सहजानंदसंभवः ॥ दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥ ७५ ॥

चित्तानंदिमिति ॥ चित्तानंदं नाद्विषयांतःकरणवृत्तिजन्यं सुखं जित्वाभिभूय सहजानंदसंभवः सहजानंदः स्वाभाविकात्मसुखं तस्य संभव आविर्भावः स दोषा वातिषत्तकफा दुःखं तज्जन्या वेदना आध्यात्मिकादि च जरा वृद्धावस्था व्याधिर्ज्यादिः क्षुधा बुभुक्षा निद्रा स्वाप एतेर्विवर्जितो रहित्तस्तदा योगी भवतीति ॥ ७५ ॥

भाषार्थ-और उस योगीका नादका विषय जो अंतःकरणकी इत्ति है उससे उत्पन्नरूप जो चित्तका आनंद है उसका तिरस्कार करनेके अनंतर स्वामाविक आत्मसुखरूप जो सहजानंद है उसका आविर्माव (प्रकटता) होता है-फिर वह योगी वातिपत्तकफरूप दोषोंका दुःख, वृद्ध अवस्था, और आध्यात्मिक दुःख, और ज्वर खादि व्याधि क्षुधा (भोजनकी इच्छा) निद्रा-इनसे विवर्जित उस समय होता है।। ७५॥

रुद्रग्रंथि यदा भित्तवा शर्वपीठगतोऽनिलः ॥ निष्पत्तो वैष्णवः शब्दः कणद्रीणाकणो भवेत्॥७६॥ तदा कदेत्यपेक्षायामाह—कद्वेति ॥ यदा रुद्रग्रंथि भिस्वा आज्ञा-चक्रे रुद्रग्रंथिः शर्वस्येश्वरस्य पीठं स्थानं भूमध्यं तत्र गतः प्राप्तोऽ-निलः प्राणो भवति तदा । निष्पत्यवस्थामाह—निष्पत्ताविति ॥ निष्पत्ती निष्पत्यवस्थायाम् । ब्रह्मरंधे गते प्राणे निष्पत्त्यवस्था-भवति । वैणवः वेणोरयं वैणवो वंशसंबंधी शब्दो निनादः कणंती शब्दायमाना या वीणा तस्याः कणः शब्दो भवेत् ॥ ७६ ॥

भाषार्थ-जिस समय प्राण उस रुद्रप्रंथिका मेदन करके जो रुद्रप्रंथि आज्ञा-चक्रमें होती है शर्व (ईश्वर ) का पीठ (स्थान ) जो भुकुटीका मध्य है उसमें प्राप्त होजाताहै-अब निष्पत्तिअवस्थाका वर्णन करते हैं कि, निष्पत्तिअवस्थामें अर्थात् प्राणके ब्रह्मरंध्रमें पहुंचनेपर ऐसा वेणु (वंश ) के शब्दकी तुल्य शब्द होता है जैसा शब्द करतीहुई वीणाका शब्द होता है ॥ ७६ ॥

### एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ॥ सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ॥ ७७॥

एकी भूतिमिति ॥ तदा तस्यामवस्थायां चित्तमंतः करणमेकी भूतमेकविषयी भूतम् । विषयविषयिणोरभेदोपचारात् । तद्राजयोगा- भिधानकं राजयोग इत्यभिधानं यस्य तद्राजयोगाभिधानकं चित्त- स्यैकायतेव राजयोग इत्यर्थः ॥ सृष्टिसंहारेति । असौ नादानुसंधान- परो योगी सृष्टिसंहारकर्तां सृष्टिं संहारं च करोतीति ताह्यः । अत- एवेश्वरसम ईश्वरतुल्यो भवेत् ॥ ७७ ॥

आषार्थ—उस निष्पत्तिअवस्थामें चित्त एकीभूत होजाता है अर्थात् विषय और विषयी (ज्ञान) इनका अभेद (एकता) होनेसे राज है नाम जिसका ऐसा यह चित्त होजाता है क्योंकि, चित्तकी एकाप्रताकोही राजयोग कहते हैं और वह योगी सृष्टि और संहारका कर्ता ईश्वरके समान होजाता है अर्थात् नादके अनुसंधानसे रचना और संहारका कर्ता ईश्वरक्ष्य होजाताहै॥ ७७॥

अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रेवाखंडितं सुखम् ॥ लयोद्रविमदं सौरूयं राजयोगादवाप्यते ॥ ७८ ॥

# राजयोगमजानंतः केवलं हठकर्मिणः॥ एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान्॥ ७९॥

अस्तु वेति॥राजयोगिमिति॥उभी प्राग्व्याख्यातौ ॥७८॥७९॥ भाषार्थ-ययपि इन दोनों श्लोकोंका अर्थ पहिले लिख आये हैं तथापि यहांभी किंचित् लिखते हैं कि, मुक्ति हो वा मत हो इस नादानुसंधान कर-नेमेंही अखंड सुख होता है और लयसे उत्पन्न हुआ यह सुख राजयोगसे प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥ और जो योगी राजयोगको नहीं जानते हैं और हठयोगकी कियाको करते हैं उन अभ्यासियोंको मैं परिश्रमके फलसे वर्जित मानताहूं अर्थात् उनको हठयोगका फल नहीं होता है ॥ ७९ ॥

# उन्मन्यवातये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम संमतम् ॥ राजयोगपदं प्राप्तुं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ॥ सद्यः प्रत्ययसंघायी जायते नादजो लयः॥ ८०॥

उन्मन्यवात्तय इति ॥ शीघ्रं त्वरितमुन्मन्या उन्मन्यवस्थाया अवाप्तये प्राप्त्यर्थं सूध्यानं सुवोध्यानं स्नूमध्ये ध्यानं मम स्वात्मारा-मस्य संमतम् । राजयोगो योगानां राजा तदेव पदं राजयोगपदं तुर्यावस्थाख्यं प्राप्तुं लब्धुं पूर्वोक्तसूध्यानरूपः सुखोषायः सुख-साध्यः उपायः सुखोपायः अल्पचेतसामल्पबुद्धीनामपि । किमुतान्येवामित्यभिप्रायः । नादजः नादाज्ञातो लयश्चित्तविलयः सद्यः शीघ्रं प्रत्ययं प्रतीतं संद्धातीति प्रत्ययसंधायी प्रतीतिकरो जायते प्रादुर्भवति ॥ ८० ॥

भाषार्थ—उन्मनीअवस्थाकी शीघ्र प्राप्तिकेलिये मुझ स्वात्मारामयोगीको भुकुटियोंके मध्यमें जो ध्यान है वह संमतहै और सब योगोंका राजारूव जो राजयोग है उस तुर्यअवस्थानामके राजयोगकी प्राप्तिकै लिये पूर्वोक्त भुकुटियोंका ध्यानहीं अल्पबुद्धियोंके लिये सुख (सरल) उपाय है—और नादसे उत्पन्नभया जो चित्तका विलय है वह शीघ्रही प्रतीतिको करनेवाला होता है ॥ ८०॥

# नादानुसंधानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हिंद वर्धमानम् ॥ आनंद्मेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः ॥ ८१ ॥

नादानुसंधानेति॥ नाद्स्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचितनं तेन समाधिश्चित्तेकाम्यं तं भजंतीति नादानुसंघानसमाधिभाजस्तेषां योगिषु योगयुक्तेष्वीश्वराः समर्थास्तेषां हृदि हृद्ये वर्धत इति वर्धमा-नस्तं वर्धमानं वचसां वाचामगम्यम् । इद्मिति वक्तुमशक्यं तं योग-शास्त्रप्रसिद्धमेकं मुख्यमानंदमाह्वादमेकोऽनन्यः श्रीगुरुनाथः श्रीमान् गुरुरेव नाथो जानाति वेत्ति । एतेन नादानुसंधानानंदो गुरुगम्य एवेति सचितम् ॥ ८१॥

भाषार्थ-अनाहतध्वनिरूप जो नाद है उसके अनुसंधान (स्मरण) से जो चित्तकी एकाप्रतारूप समाधि है उसके कर्ता जो योगीश्वर (योगियोंमें जो उत्तम ) हैं उनके हृदयमें बढताहुआ और वाणी जिसको 'यह हैं' इसप्रकार नहीं कहसकती है-ऐसा जो योगशास्त्रमें प्रसिद्ध एक (मुख्य ) आनंद होता है एक श्रीगुरुनाथ अर्थात् श्रीयुत गुरुखामीही जानते हैं-इससे यह सूचित किया कि नादके अनुसंधानका आनंद गुरुकी दयासेही प्रतीत हो सकता है अन्य प्रकारसे नहीं हो सकता ॥ ८१॥

# कणीं पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः॥ तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावितस्थरपदं व्रजेत् ॥८२॥

नादानुसंधानात्प्रत्याहारादिक्रमेण समाधिमाह-कर्णावित्या-दिभिः ॥ मुनिर्मननशीलो योगी हस्ताभ्यामित्यनेन हस्तांगुष्ठी लक्ष्येते । ताभ्यां कर्णी श्रोत्रे पिधाय । हस्तांगुष्ठो श्रोत्रविवरयोः कृत्वेत्यर्थः । यं ध्वनिमनाहतनिः स्वनं शूणोत्याकर्णयति तत्र तस्मिन् ध्वनौ चित्तं स्थिरीकुर्यादस्थिरं स्थिरं संपद्यमानं कुर्यात् । यावितस्थरं पदं स्थिरपदं तुर्याख्यं गच्छेत् । तदुक्तम्-तुर्यावस्था चिद्भिव्यंजक- नादस्य वेदनं प्रोक्तिमिति नादानुसंधानेन वायुस्थेर्यमणिमादयोऽपि भवंतीति। उक्तं च त्रिपुरसारसमुद्धये—'विजितो भवतीह तेन वायुः सहजो यस्य समुत्थितः प्रणादः। अणिमादिग्रुणा भवंति तस्यामित-पुण्यं च महाग्रुणोद्यस्य ॥ सुरराजतन् जवैरिरंध्रे विनिरुध्य स्वकरां लिद्दयेन। जलधेरिव धीरनादमंतः प्रसरंतं सहसा द्युणोति मर्त्यः॥' इति। सुरराज इंद्रस्तस्य तन्जोऽर्जनस्तस्य वेरी कर्णस्तदंध्रे स्पष्ट-मन्यत्॥ ८२॥

भाषार्थ-नादके अनुसंघानसे प्रत्याहार आदिके क्रमसे समाधिका वर्णन करतेहैं कि मननका कर्ता योगी हाथोंके अंगूठोंसे कर्णोंको ढककर अर्थात् अंगू-ठोंको कर्णोंके छिद्रोंमें उगाकर जिस अनाहतध्विनको सुनताहै उस अनाहतध्विनमें अस्थिरमी चित्तको तबतक स्थिर करे जबतक तुर्यावस्थारूप स्थिरपदको प्राप्त न हो—सोई कहाहै कि, तुर्यावस्था, चेतनका अभिव्यंजक (ज्ञापक) जो नाद उसका ज्ञानरूप है और नादके अनुसंधानसे वायुकी स्थिरता और अणिमा आदि सिद्धिमी होतीहै—और त्रिपुरसारसमुचयमेंभी कहाहै कि जिस योगीके देहमें स्वामाविक नाद मछीप्रकार उठताहै वह वायुको जीतछेताहै और उसको अणिमा आदिगुण, और उस महोदयको अतुछ पुण्य होतेहैं, अपने हाथकी दो अंगुछियोंसे कर्णोंके छिद्रोंको रोककर—समुद्रके समान धीर जो नाद देहके भीतर फैछाताहै उसको मनुष्य (योगी) शीब्रही सुनताहै ॥ ८२॥

# अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ॥ पक्षाद्विक्षेपमिललं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥८३॥

अभ्यस्यमान इति ॥ अभ्यस्यमानोऽनुसंघीयमानोऽयं नादोऽ-नाहताख्यो बाह्यं घ्वानं बहिर्भवं शब्दमावृणुते श्वत्योविषयम् । योगी नादाभ्यासी पक्षान्मासार्घाद्यिलं सर्व विक्षेपं चित्तचांचल्यं जित्वाऽ-भिम्य सुखी स्वानंदो भवेत् ॥ ८३ ॥ आषार्थ-अम्यास कियाहुआ अर्थात् अनुसंधान किया यह नाद बाहिरका जो शब्द है उसका आवरण करताहै अर्थात् बाह्यके शब्दकोभी योगी सुनले-ताहै और वह नादका अभ्यासी योगी एक पक्षभरसेही चित्तकी चंचलता रूप संपूर्ण विक्षेपको जीतकर सुखी होताहै अर्थात् आत्मानंदरूप सुखको प्राप्त होताहै ॥ ८३॥

# श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ॥ ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सृक्ष्मसूक्ष्मकः ॥८४॥

श्रूयत इति ॥ प्रथमाभ्यासे पूर्वाभ्यासे नानाविधोऽनेकविधो महान् जलिधजीमूतभेयादिसहशो नादोऽनाहतस्वनः श्रूयते आकर्ण्यते । ततोऽनंतरमभ्यासे नादानुसंधानाभ्यासे वर्धमाने सति स्क्ष्मस्क्ष्मकः स्क्ष्मः स्क्ष्म एव श्रूयते श्रवणविषयो भवति ॥ ८४ ॥

भाषार्थ-प्रथम २ के अभ्यासमें अनेकप्रकारका अर्थात समुद्र मेत्र भेरीके शब्दकी तुल्य महान् (भारी) नाद सुना जाताहै और उसके अनंतर अभ्यासके होनेपर सूक्ष्म २ शब्द सुना जाताहै ॥ ८४॥

### आदौ जलिधजीमृतभेरीझईरसंभवाः ॥ मध्ये मर्दलशंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा॥ ८५॥

नानाविधं नादमाह द्वाभ्याम्—आदाविति ॥ आदो वायोर्बहारं-ध्रगमनसमये जलिधः समुद्रो जीमृतो मेघो भेरी वाद्यविशेषः । 'मेरी स्त्री दुंदुभिः प्रमान्' इत्यमरः । झर्झरो वाद्यविशेषः । 'वाद्यमभेदा डमरुमड्डुडिडिमझर्झराः । मर्दलः पणवोऽन्येऽपि' इत्यमरः । जलिध-प्रमुखिभ्यः संभव इव संभवो येषां ते तथा मध्ये ब्रह्मरंध्रे वायोः स्थेर्यानंतरं मर्दलो वाद्यविशेषः शंखो जलजस्ताभ्यामुत्था इव मर्दल-शंखोत्थाः । घण्टाकाहलो वाद्यविशेषो ताभ्यां जाता इव घंटाका-हलजाः ॥ ८५ ॥ भाषार्थ—अब दो श्लोकोंसे नाना प्रकारके नादका वर्णन करतेहैं कि प्रथम र प्राणवायुके ब्रह्मरंघमें गमनसमयमें समुद्र, मेच, भेरी (धोंस) जो बाजे हैं और इर्झरी (झांझ) जो वाद्यविशेष हैं उनके शब्दके समान शब्द ब्रह्मरंघमें सुने जातेहें और मध्यमें अर्थात् सुबुम्नामें प्राणवायुकी स्थिरताके अनंतर मर्दछ, शंख, इनके शब्दकी तुल्य शब्द सुने जातेहें और तिसप्रकार घंटा और काहछनामके जो बाजे हैं उनके शब्दकी सदश शब्दभी प्रतीत होते हैं ॥ ८५ ॥

# अंते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरिनःस्वनाः ॥ इति नानाविधा नादाः श्रूयंते देहमध्यगाः ॥८६॥ अंते त्विति॥ अंते तुपाणस्य ब्रह्मरंधे बहुस्थेयांनंतरं तु किंकिणी अद्रवंटिका वंशो वेणुः वीणा तंत्री भ्रमरो मधुपः तेषां निःस्वना इति प्रवीक्ताः नानाविधा अनेकप्रकारका देहस्य मध्ये गताः प्राप्ताः श्र्यंते ॥ ८६ ॥

भाषार्थ-फिर प्राणकी ब्रह्मरंध्रमें स्थिरताके अंतमें किकिणी-वंश-बीणा-अमर इनके शब्दकी तुल्य शब्द सुनेजातेहैं-इस प्रकार देहके मध्यमें नाना प्रकारके शब्द सुनेजातेहैं ॥ ८६॥

### मइति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ॥ तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ ८७॥

महतीति ॥ मेघश्र भेरी च ते आदी यस्य स मेघभेर्यादिकस्त-स्मिन् । मेघभेरीशब्दी तज्जन्यनिर्घोषपरी । महति बहुले ध्वनी निनादे श्रूयमाणे आकर्ण्यमाने सत्यपि तत्र तेषु नादेषु सूक्ष्मात्सूक्ष्मत्रमित-सूक्ष्मं नादमेव परामृशेचिन्तयेत् । सूक्ष्मस्य नादस्य चिरस्थायित्वा-तत्रासक्तचित्तश्चिरं स्थिरमतिर्भवेदिति भावः ॥ ८७ ॥

भाषार्थ-मेव, भेरी, आदिका जो महान् शब्द है उसकी तुल्य शब्द के सुननेपरमी उन शब्दोंमें सूक्ष्मसेभी सूक्ष्म जो नाद है उसका चितन करे क्योंकि सृक्ष्मनाद चिरकाळतक रहताहै उसमें आसक्त हुआहै चित्त जिसका ऐसा मनुष्यभी चिरकाळतक स्थिरमित होजाताहै ॥ ८७॥

# वनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुतसृज्य वा घने ॥ रममाणमपि क्षितं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥ ८८॥

घनिमिति ॥ घनं महांतं नादं मेघभेर्यादिकमुत्सुज्य घने वा नादे रममाणं घनस्क्ष्मान्यतरनाद्यहणपरित्यागाभ्यां कीडंतमपि क्षिप्तं रजसात्यंतचंचलं मनोऽन्यत्र विषयांतरे न चालयेन्न पेर्येत्। क्षिप्तं मनो विषयांतरासक्तं न समाधीयते नादेषु रममाणं तु समाधी-यत इति भावः॥ ८८॥

भाषार्थ—मेघ, भेरी आदिके महान् नादको त्यागकर सूक्ष्ममें वा सूक्ष्म-नादको त्यागकर महान्नादमें रमण करतेहुये रजोगुणसे अत्यंत चंचल चित्तको अर्थात् महान्, सूक्ष्म शब्दके प्रहण वा परित्यागसे क्रीडा करतेहुये मनको चलायमान न करै—क्योंकि, विषयांतरोंमें आसक्त मन समाधान नहीं होसकताहै और नादमें रमताहुआ जो मन उसका समाधान होसकताहै॥ ८८॥

# यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ॥ तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥ ८९॥

यत्रेति ॥ वा अथवा यत्रक्तत्रापि नादे यस्मिन्कस्मिश्चिद्धने स्क्षेमे वा नादे प्रथमं पूर्व मनो लगति लग्नं भवति तत्रैव तस्मिन्नेव नादे सुस्थिरीभूय सम्यक् स्थिरं भूत्वा तेन नादेन सार्ध साकं विलीयते लीनं भवतीत्यर्थः । अत्र पूर्ववाक्येन प्रत्याहारा द्वितीयेन धारणा तृतीयेन ध्यानद्वारा समाधिरुक्तः ॥ ८९ ॥

आषार्थ-अथवा जिस किसी घन वा सूक्ष्म नादमें प्रथम मन लगे उसी नादमें भलीप्रकार स्थिर होकर उसी नादके संग लय हो जाताहै—यहां पूर्व वाक्यसे प्रत्याहार दूसरेसे धारणा और तीसरेसे ध्यानके द्वारा समाधि कही है ॥ ८९॥

मक्रंदं पिबन्भंगो गंधं नापेक्षते यथा ॥ नादासकं तथा चित्तं विषयात्र हि कांक्षते ॥९०॥ मकरंद्मिति ॥ मकरंदं पुष्परसं पिवन् धयन् भृंगो भ्रमरो गंधं यथा नापेक्षते नेच्छति । तथा नादासक्तं नाद् आसक्तं चित्तमंतःकरणं विषयान् विषिण्वंत्यववध्नंति प्रमातारं स्वसंगेनेति विषयाः सक्चंदनवनिताद्यस्तान् न कांक्षते नेच्छति । हीति निश्चये ॥ ९० ॥

भाषार्थ-जैसे मकरंद (पुष्पका रस) का पान करताहुआ अमर पुष्पके गंनकी अपेक्षा नहीं करताहै तिसीप्रकार नादमें आसक्त हुआ चित्त भी अपने बंधनके कर्ता जो सक् चंदन आदि विषय हैं उनकी आकांक्षा नहीं करताहै यह निश्चित है।। ९०॥

# मनो मत्तगजेंद्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥ नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशितांकुशः ॥९१॥

मन इति ॥ विषयः शब्दादिरेवोद्यानं वनं तत्र चरतीति विषयो-चानचारी तस्य मन एव मत्तगजेंद्रः । दुर्निवारत्वात् । तस्य निनाद् एवानाहतव्वनिरेव निश्चितांक्रशः तीक्ष्णांक्रशः नियंत्रणे परावर्तने समर्थः शक्तः । एतेः श्लोकेः । 'चरतां चश्चरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्। यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ॥' इंद्रियाणां विषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहार इत्युक्तलक्षणः प्रत्याहारः प्रोक्तः ॥ ९१ ॥

भाषार्थ-शब्द आदि विषयरूप जो उद्यान उसमें विचरता हुआ जो मनरूप उन्मत्त गजेंद्र है उसके परावर्तन ( छोटाना ) में यह-नादरूप जो तीक्ष्म अंकुश है वही समर्थ है-इन श्लोकोंसे इंद्रियोंका विषयोंसे वह प्रत्याहार कहाहै जो इस श्लोकमें कहाहै कि विषयोंमें क्रमसे चरते हुये जो नेत्र आदि इंद्रिय है उनकी जो विषयोंसे निवृत्ति उसको प्रत्याहार कहतेहैं॥ ९१॥

बद्धं तु नाद्बंधेन मनः संत्यक्तच।पलम् ॥ प्रयाति स्तरां स्थैर्थे छित्रपक्षः खगो यथा ॥ ९२ ॥ बद्धं त्विति ॥ नाद् एव वंधः वध्यतेऽनेनित वंधः वंधनसाधनं तेन स्वशक्त्या स्वाधीनकरणेन वद्धं वंधनिमव प्राप्तम् । नाद्धारणा-दावासक्तिमित्यर्थः । अत एव सम्यक् त्यक्तं चापळं क्षणेक्षणे विषय-प्रहणपरित्यागरूपं येन तत्त्रथा मनः सुतरां स्थेर्यं प्रयाति नितरां धारणमिति । तत्र दृष्टांतमाह—छिन्नौ पक्षौ यस्य तादृशः खे गच्छतीति खगः पक्षी यथा । एतेन-'प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेंद्रियम् । वशीकृत्य ततः कुर्याचित्तस्थेर्यं सुभाश्रये ॥' सुभाश्रये चित्तस्थापनं धारणेत्युक्तस्थणा धारणा प्रोक्ता ॥ ९२ ॥

भाषार्थ—नादरूप जो बंधनका साधन है उससे अपनी शक्तिके अनुसार वंबनको प्राप्त हुआ मन अर्थात् नादकी धारणा आदिमें आसक्त हुआ चित्त और इसीसे भलीप्रकार त्यागदीहै क्षण २ में विषयोंका ग्रहणरूप चपलता जिसने ऐसा मन निरंतर स्थिरताको प्राप्त होताहै अर्थात् धारणाको प्राप्त इस प्रकार होताहै जैसे छेदन किये हैं पक्ष जिसके ऐसा पक्षी होजाताहै इस श्लोकसे ग्रुम आश्रयमें चित्तका स्थापनरूप उस धारणाको कहाहै जो इस बचनमें कहीहै कि प्राणाया-मसे प्रवनको और प्रत्याहारसे इंद्रियोंको वशमें करके श्लुमाश्रय (ब्रह्मरंघ्र) में चित्तकी स्थिरताको करें ॥ ९२ ॥

# सर्वचितां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ॥ नाद एवानुसंघेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥ ९३॥

सर्विचितामिति ॥ सर्वेषां बाह्याभ्यंतरिवषयाणां या चिता
। चितनं तां परित्यज्य त्यक्तवा सावधानेनैकाय्रेण चेतसा योगानां साम्राज्यं सम्राजो भावः । योगशब्दोऽशांद्यजंतः । राजयोगित्वमिति यावत् । इच्छता वांछता पुंसा नाद एवानाहतध्वनिरेवानुसंधेयोऽनुर्वितनीयः । नादाकारवृत्तिप्रवाहः कर्तव्य इत्यर्थः । एतेन 'तद्रूपपर्त्ययेकाप्र्यसंतिश्चान्यनिस्पृहा । तद्ध्यानं प्रथमेरंगेः षड्भिनिष्पाद्यते नृष ॥ तत्र प्रत्येकतानता ध्यानमित्युक्त एक्षणं ध्यानमुक्तम् ॥ ९३ ॥

[ उपदेशः

भाषार्थ—बाह्य और भीतरके जो संपूर्ण विषय हैं उनकी चिंताको त्यागकर सावधान (एकाप्र) चित्तसे राजयोगका अभिलाषी योगी नादकाही अनुसंधान करें अर्थात् नादाकार वृत्तिका प्रवाह करें इससे वह चित्तकी प्रत्ययेकतानतारूप व्यान कहा जो इस वचनमें कहाहै कि व्रह्मरूप प्रत्ययकी जो एकाप्र (एकरस) संतित और अन्य विषयोंकी नि:स्पृहा वह ध्यान हे छप ! छः प्रथम अंगोंसे प्राप्त होताहै अर्थात् उसकी प्राप्तिके छः अंग-कारण हैं ॥ ९३॥

#### नादोंतरंगसारंगबंधने वागुरायते ॥ अंतरंगकुरंगस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥ ९४ ॥

नादोंऽतरंगेति ॥ नादः अंतरंगं मन एव सारंगो मृगस्तस्य वंधने चांचल्यहरणे वाग्ररायते वाग्ररेवाचरित वाग्ररा जालम् । यथा वाग्ररा वंधनेन सारंगस्य चांचल्यं हरित तथा नादोंऽतरंगस्य स्वशक्त्या चांचल्यं हरितित्यर्थः । अंतरंगं मन एव सारंगो हिरिणस्तस्य वंधने नानावृत्त्युत्पादनापनयनमेव मनसो वंधस्तस्मिन् व्याधायते व्याध इवाचरित । यथा व्याधो वाग्रराबद्धं मृगं हंति एवं नादोऽपि स्वासक्तं मनो हंतीत्यर्थः ॥ ९४ ॥

भाषार्थ—नाद अंतरंग (मन) जो सारंग मृग उसके बंधन ( चंचलताका हरण) में वागुरा ( मृगबंधनमें जाल) के समान है अर्थात् जैसे वागुराके बंधनसे मृगकी चंचलता हरी जाती है इसीप्रकार नादभी मनकी चंचलताको अपनी शक्तिसे हरताहै और नादही अंतरंग (मन) हरिणके बंधनमें व्याधके समान है अर्थात् जैसे व्याध वागुरामें बंधेहुये मृगको हरताहै इसीप्रकार अपनेमें आसक्तहुये मनको नादभी हरताहै अर्थात् नानावृत्ति जो मनमें उत्पन्न होतीहैं उनको दूर करताहै ॥ ९४ ॥

## अंतरंगस्य यमिनो वाजिनः परिघायते ॥ नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥९५॥

अंतरंगस्येति ॥ यमिनो योगिनोंऽतरंगं मनस्तस्य चपलत्वाद्वा-जिनोऽश्वस्य परिघायते वाजिज्ञालाद्वारपरिघ इवाचरति नाद इति शेषः । यथा वाजिशालापरिधो वाजिनोऽन्यत्र गति रुणिद्ध तथा नादोंऽतरंगस्येत्यर्थः । अतःकारणाद्योगिना नादस्योपास्तिरुपासना नित्यं प्रत्यहमवधार्यावधारणीया । हीति निश्चयेऽव्ययम् ॥ ९५ ॥

भाषार्थ-और योगीजनका जो अंतरंग (मन) रूप वाजी है उसके परिच अर्थात् घुडशालाके द्वारमें अवरोधक लोहदंडके समान नाद है निदान जैसे वाजिशालाका परिच वाजीकी अन्यत्र गतिको रोकताहै इसीप्रकार नादभी मनकी अन्यत्र विषयादिकोंमें जो गति है उसको रोकेहै इस कारणसे योगीजन निश्चय करके नादकी उपासनाका निश्चय करें ॥ ९५॥

## बद्धं विमुक्तचांचर्यं नादगंधकजारणात् ॥ मनः पारदमाप्रोति निरालंबाख्यखेऽटनम् ॥९६॥

बद्धिमिति ॥ नाद एव गंधक उपधातुविशेषस्तेन जारणं जार-णीकरणं नादगंधकसंबंधेन चांचल्यहरणं तस्माद्धः नादैकासक्तम् । पक्षे गुटिकाकृति प्राप्तम् अत एव विमुक्तं त्यक्तं चांचल्यमनेकविष-याकारपरिणामरूपं येन । पक्षे विमुक्तलौल्यं मनः पारदं मन एव पारदं चंचलं निरालंबं ब्रह्म तदेवाख्या यस्य तिवरालंबाख्यं तदेवः खमपरिच्छिन्नत्वात्तस्मिन्नटनं गमनं तदाकारवृत्तिप्रवाहम् । पक्षेः आकाशगमनं प्राप्नोति । यथा बद्धं पारद्माकाशगमनं करोति । एवंः वद्धं मनो ब्रह्माकारवृत्तिप्रवाहमविच्छिन्नं करोतीत्यर्थः ॥ ९६ ॥

भाषार्थ—नादरूप जो गंधक उससे जारण (भरम) करनेसे अर्थात नाद गंधकके संयोगसे चंचलताके हरनेसे बद्ध (एकनादमें ही आसक्त) और पाराके पक्षमें गुटिकारूप हुआ समझना और जारणसेही त्यागदिया है विषयाकार परि-णामरूप चांचल्य जिसने और पाराके पक्षमें त्यागदी है स्वामाविक चंचलता जिसने वह समझना ऐसा मनरूप पारद (चंचलरूप) निरालंब नामके आकाश-रूप अपरिच्लिक ब्रह्ममें गमनको अर्थात् ब्रह्माकार दृत्तिके प्रवाहको प्राप्त होताहै और पाराके पक्षमें आकाशगमनको प्राप्त होना समझना ताल्य्य् यह है कि, इसप्रकार बंधाहुआ मन निरविच्छिन (एकरस) ब्रह्माकार वृत्तिके प्रवाहको करताहै ॥ ९६॥

### नादश्रवणतः क्षिप्रमंतरंगभुजंगमः ॥ विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचित्र हि धावति ॥ ९७॥

नादेति ॥ नाद्स्यानाहतस्वनस्य श्रवणतः श्रवणातः क्षिपं द्वत-मैतरंगं मन एव भुजंगमः सर्पश्चपलत्वान्नाद्पियत्वाच भुजंगमरूपत्वं मनसः। सर्वं विश्वं विस्मृत्य विस्मृतिविषयं कृत्वेकायो नादाकारवृ-त्तिप्रवाहवान् सन्कुत्रापि विषयांतरे निहं धावति नैव धावनं करोति। ध्यानोत्तरेः श्लोकेः। 'तस्येव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्। मनसा ध्याननिष्पाद्यः समाधिः सोऽभिधीयते॥' इति विष्णुपुराणो-कलक्षणेन 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपग्रुन्यमिव समाधिः' इति पातं-जलस्त्रोक्तलक्षणेन च संप्रज्ञातलक्षणः समाधिरुक्तः॥ ९७॥

भाषार्थ-अनाहत शब्दरूप नादके श्रवणसे शीव्रही मनरूप भुजंगम (सर्प)
यहां चपछ और नादि यहां नेसे मनको भुजंगम समझना संपूर्ण विश्वका विस्म-रण करके एकाग्र हुआ अर्थात् नादाकारवृत्ति प्रवाही होकर किसी विषयमें नहीं दौडताहै ध्यानसे पीछे कहें हुये श्लोकोंसे इस विष्णुपुराणके वचन और इस पातं जल सूत्रमें कमसे कहीं हुई समाधि और संप्रज्ञात समाधि कहीं है कि, उसकाही कल्पनाहीन जो स्वरूपका ग्रहण मनसे है वहीं ध्यानसे उत्पन्न होताहै और उसकोही समाधि कहते हैं उस आत्माकाही जो अर्थमात्र निर्भास स्वरूप शृत्यके समान है उसको संप्रज्ञात समाधि कहते हैं ॥ ९७॥

# काष्ठे प्रवर्तितो विह्नः काष्ठेन सह शाम्यित॥ नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते॥ ९८॥

काष्ठ इति ॥ काष्ठे दारुणि प्रवर्तितः प्रज्वालितो विद्रः काष्ठेन सह शाम्यति ज्वालारूपं परित्यज्य तन्मात्ररूपेणावंतिष्ठते यथा तथा । नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते । राजसतामसवृत्तिनाशात्सन्त-मात्रावशेषं संस्कारशेषं च भवति । तत्र च मेत्रायणीयमंत्रः । 'यथा निरिधनो विद्वाः स्वयोनावुपशाम्यति । तथा वृत्तिक्षयाचित्तं स्वयोना-वुपशाम्यति' इति ॥ ९८ ॥

आषार्थ-काष्टमें प्रवृत्त की अर्थात् जलाई हुई आहे ज्वालारू पको त्यागकर जैसे काष्ट्रके संग शांत हो जाती है अर्थात् काष्ट्ररूप रहजाती है तिसीप्रकार नादमें प्रवृत्त किया चित्त नादके संग लीन हो जाता है अर्थात् रजो गुणी और तमो गुणी वृत्तियों के नाशसे सत्तामात्र वा संस्कारमात्र शेष रहजाता है इसमें मैत्रायणीय शाखाका यह मंत्र प्रमाण है कि जैसे इंघनरहित अपि अपने योनिरूप काष्टमें शांत होता है इसीप्रकार वृत्तियों के क्षयसे चित्तभी अपनी योनि ( ब्रह्म ) में शांत हो जाता है ॥ ९८॥

# घंटादिनादसक्तस्तब्धांतःकरणहरिणस्य ॥ प्रहरणमपि सुकरं शरसंधानप्रवीणश्चेत् ॥ ९९॥

घंटादीति ॥ घंटा आदियेषां शंखमदं उस से दुंदु भिजीमू तादीनां ते घंटादयस्तेषां नादस्तेषु सक्तः । अत एव स्तब्धो निश्चलो योंऽतः-करणमेव हरिणो मृगस्तस्य प्रहरणं नानावृत्तिप्रतिबंधनमंतः करण-पक्षे । हरिणपक्षे तु प्रहरणं हननप्राप शरवद्द्रुतगामिनो वायोः संधाननसुषुम्रामार्गेण ब्रह्मरंघ्रे निरोधनपक्षे शरस्य बाणस्य संधानं धनुषि योजनं तस्मिन् प्रवीणः कुशल्श्चेत्सुकरं सुखेन कर्तु शक्यम् ॥ ९९ ॥

भाषार्थ—घंटा आदि जिनके ऐसे जो शंख, मर्दछ, झझर, दुंदुभी भादिके नाद हैं उनमें आसक्त और निश्चछ जो अंतःकरणरूप मृग उसका प्रहार कर-नाभी सुकर है यदि बाणके संधानमें मनुष्य प्रवीण हो यहां अंतःकरणका प्रहार नाना वृत्तियोंका प्रतिबंधरूप लेना और हरिणपक्षमें हनन लेना और बाणका संधानभी बाणके समान शीव्रगामी जो वायु उसका सुचुम्नामार्गसे ब्रह्मरंध्रमें प्रवेश करलेना और हरिणपक्षमें धनुषपर बाणका योजन (लगाना) लेना ॥ ९९ ॥

### अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ॥ ध्वमेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यांतर्गतं मनः ॥ मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥१००॥

अनाहतस्यति ॥ अनाहतस्य शब्दस्यानाहतस्वनस्य यो ध्वनि-निर्हाद उपलभ्यते श्रूयते तस्य ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्योतिः स्वप्रकाशचैतन्यं ज्ञेयस्यांतर्गतं ज्ञेयाकारतामापन्नं मनोंडतः करणं तत्र ज्ञेये मनो विलयं याति परवेराग्येण सकलवृत्तिशून्यं संस्कारशेषं भवति । तद्विष्णो-विभोरात्मनः परममंतः करणवृत्त्युपाधिराहित्यान्निरुपाधिकं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं स्वरूपम् ॥ १००॥

भाषार्थ-अनाहत अर्थात् विनाताडनाके उत्पन्न जो शब्द उसकी जो अनि प्रतीत होती है, उसध्वनिके अंतर्गतही ब्रेयरूप प्रकाशमान चैतन्य है और उस ब्रेयके अंतर्गत अंतःकरणरूप मन है और उस ब्रेयमेंही मन विलयको प्राप्त होताहै अर्थात् प्रमवैराग्यसे संपूर्ण वृत्तियोंसे शून्य होकर संस्कारमात्र शेष रह-जाताहै और वही विष्णु (ब्यापक) आत्माका प्रमपद है अर्थात् योगीजनोंकी प्राप्तिके योग्य अंतःकरणकी वृत्तिरूप उपाधिसे रहित आत्मारूप है ॥ १००॥

# तावदाकाशसंकरुपो यावच्छव्दः प्रवर्तते ॥ निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥ १०१॥

ताबदिति ॥ यावच्छन्दोऽनाहतध्वनिः प्रवर्तते श्रुयते ताव-दाकाशस्य सम्यक्करपनं भवति । शन्दस्याकाशगुणत्वाहुणगुणिनोरभे-दाद्वा मनसा सह शन्दस्य विलयान्निःशन्दं शन्दरहितं यत्परं ब्रह्म परब्रह्मशन्द्वाच्यं परमात्मेति गीयते परमात्मशन्देन स उच्यते । सर्ववृत्तिविलये यः स्वरूपेणावस्थितः स एव परब्रह्मपरमात्मशन्दा-भ्यामुच्यत इति भावः ॥ १०१॥

भाषार्थ-जितने अनाहत ध्वनिरूप शब्द सुनेजातेहैं उतनीही आकाशकी भकीप्रकार कल्पना होतीहै क्योंकि शब्द आकाशरूप है और गुणगुणीका अभेद है और मन सहित जब शब्दका विलय होजाताहै तब शब्दरहित जो परब्रह्सहै वही परमात्मा शब्दसे कहाजाताहै अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका लय होनेपर जो स्वरूपते स्थित है वही परब्रह्म परमात्मास्वरूप है ॥ १०१॥

यतिकचित्राद्रह्मण श्रूयते शक्तिरेव सा ॥

यस्तरवांतो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥ १०२ ॥

यकिचिदिति ॥ नाद्रह्मणानाहतध्यनिरूपेण यतिकचिच्छूयते
आकर्ण्यते सा शक्तिरेव यस्तर्त्वान्तस्तर्त्वानामंतो लयो यस्मिन् सः
तथा निराकार आकारराहतः स एव परमेश्वरः सर्ववृत्तिक्षये स्वरूपावस्थितो यः स आत्मेत्यर्थः । काष्ठे प्रवर्तितो विहिरित्यादिभिः श्लोकैः
राजयोगापरपर्यायोऽसंप्रज्ञातः समाधिरुक्तः ॥ १०२ ॥

भाषार्थ—जो कुछ नाटरूपसे सुनाजाता है वह शक्तिहां है और जिसमें तत्त्वोंका छय होताहै वह निराकार परमेश्वर है अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका क्षय होनेपर जो स्वरूपावस्थित है वही आत्मा है—इन पूर्वोक्त पांचक्षोकोंसे राजयोग नामकी असंप्रज्ञातसमाधि कही है ॥ १०२॥

सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये ॥ राजयोगसमाह्रदः पुरुषः कालवंचकः ॥ १०३॥

सर्वे इति ॥ इठश्र लयश्र इठलयो तयोरुपाया इठलयोपाया इठोपाया आसनकुंभकमुद्रारूपा लयोपाया नादानुसंधानशांभवी-मुद्रादयः। राजयोगस्य मनसः सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणस्य सिद्धये निष्प-त्तये प्रोक्ता इति शेषः । राजयोगसमारूढः सम्यगारूढः प्राप्त-वान् यः पुरुषः स कालवंचकः कालं मृत्युं वंचयति जयतीति तादृशः स्यादिति शेषः ॥ १०३॥

भाषार्थ-हठ और लयके जो संपूर्ण उपाय हैं अर्थात् आसन कुंभक मुद्रा आदि हठके उपाय और नादानुसंधान शांभवीमुद्रा आदि-छयके उपाय हैं वे संपूर्ण मनकी संपूर्ण वृत्तियोंका निरोधरूप जो राजयोग उसकी सिद्धिके लियेही कहे हैं और उस राजयोगमें भलीप्रकार आरूढ (प्राप्त) जो पुरुष है वह कालका वंचक अर्थात् मृत्युका जीतनेवाला होजाताहै ॥ १०३॥

# तत्त्वं बीजं हटः क्षेत्रमोदासीन्यं जलं त्रिभिः॥ उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते॥ १०४॥

तत्त्वमिति ॥ तत्त्वं चित्तं बीजं बीजवदुनमन्यवस्थांकुराकारेण परिणममानत्वात् । हठः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामः क्षेत्रे इव प्राणायामे उन्मनी कल्पलतिकोत्पत्तेरीदासीन्यं परवेराग्यं जलं तस्या उत्पत्तिकारणत्वात् । परवेराग्यहेतुकः संस्कारविशेषश्चित्त-स्यासंप्रज्ञात इति तल्लक्षणात् । एतेस्त्रिभिरुन्मन्यसंप्रज्ञातावस्था सेव कल्पलतिका सकलेष्टसाधनत्वात्सद्य एव शीघ्रमेव प्रवर्तते प्रवृत्ता भवति उत्पन्ना भवति ॥ १०४॥

भाषार्थ-तत्त्व (चित्त ) ही बीज है. क्योंिक चित्तही उन्मनीअवस्थारूप जो अंकुर है उसके आकारसे परिणामको प्राप्त होताहै और प्राण अपानकी एकतारूप जो हठ है. वही क्षेत्रहै क्योंिक क्षेत्रके समान प्राणायाममेंही उन्मनी-रूप कल्पछता उत्पन्न होती है और उदासीनता (परम वैराग्य ) जलहै क्योंिक उदासीनताही उन्मनी कल्पछताकी उत्पत्तिका कारण है क्योंिक, असंप्रज्ञात समाधिका यह छक्षण कहा है कि, परम वैराग्यका हेतु जो चित्तका संस्कारिक रोष है वही असंप्रज्ञात समाधि है—इन बीज, क्षेत्र, जल, रूप पूर्वीक्त तीनोंंसे असंप्रज्ञात अवस्थारूप उन्मनी कल्पछता कहते हैं ॥ १०४॥

### सदा नादानुसंधानात्शीयंते पापसंचयाः॥ निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥१०५॥

सदेति ॥ सदा सर्वदा नादानुसंधानात्रादानुचितनात्पापसंचयाः पापसमूहाः क्षीयंते नश्यंति निरंजने निर्गुणे चैतन्ये निश्चितं धुवं चित्तमारुती मनःप्राणी विलीयेते विलीनी भवतः ॥ १०५ ॥ भाषार्थ-सदैव नादके अनुसंधानसे पापोंके समूह क्षीण होते हैं और निर्गुण चैतन्यमें चित्त और पवन ये दोनों अवश्य छीन होजाते हैं अर्थात् मन और प्राण इनदोनोंका ब्रह्ममें छयहोजाताहै ॥ १०५॥

# शंखदुंदुभिनादं च न शृणोति कदाचन ॥ काष्ट्रवज्ञायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ॥ १०६॥

उन्मन्यवस्थां माप्तस्य योगिनः स्थितिमाहाष्टभिः-शंखदुंदुभीति॥ शंखो जलजो दुंदुभिर्वाद्यविशेषस्तयोनीदं घोषं कदाचन किस्मिश्चिद्षि समये न शृणोति । शंखदुंदुभीत्युपलक्षणं नाद्मात्रस्य । उन्मन्यव-स्थया देहो धुवं काष्ठवज्ञायते । निश्चेष्टत्वादित्यर्थः ॥ १०६॥

भाषार्थ-अब आठश्लोकोंसे उन्मनीअवस्थाको प्राप्त जो योगी है उसकी स्थितिका वर्णन करतेहैं कि, वह योगी इं.ख-दुंदुभी-इनके शब्दको कदा-चित्भी नहीं सुनताहै यहां शंख दुंदुभी-शब्दमात्रके उपलक्षक हैं-और उन्मनी अवस्थासे देह काष्ट्रके समान चेष्टारहित होजाताहै ॥ १०६॥

# सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिताविवर्जितः ॥ मृतवित्तष्टते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १०७॥

सर्वेति ॥ जाग्रत्स्वप्रसुषुप्तिमूर्च्छामरणलक्षणाः पंच व्युत्थानाव-स्थास्ताभिविशेषेण मुक्तो रहितः सर्वा याश्चिताः स्मृतयस्ताभिविब-जितो विरहितो यः योगः सकलवृत्तिनिरोधोऽस्यास्तीति योगी तुर्या-वस्थावान् स मुक्तो जीवनेव मुक्तः । सकलवृत्तिनिरोधे आत्मनः स्वरूपावस्थानात् । तदुक्तं पातंजलस्त्रे—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' इति । स्पष्टमन्यत् ॥ १०७ ॥

भाषार्थ-और जाप्रत्, स्वप्त, सुवृत्ति, मूच्छी, मरणरूप जो पांच व्युत्था-नावस्था है उनसे विशेषकरके रहित होताहै और संपूर्ण चिंताओंसे विवर्जित जो योगी है अर्थात संपूर्ण वृत्तियोंके निरोधरूप योगमें स्थित है वह जीवन्मुक्त है इसमें संशय नहीं है—क्योंकि संपूर्ण वृत्तियोंके निरोधमें आत्मा अपने स्वरूत-पमें स्थित होजाताहै सोई पातंजल सूत्रमें कहाहै कि, उससमय द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित होताहै ॥ १०७॥

# खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा।। साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना१०८

खाद्यत इति ॥ समाधिना युक्तो योगी कालेन मृत्युना न खाद्यते न भक्ष्यते । न हन्यत इत्यर्थः । कर्मणा कृतेन ग्रुभेनाग्रुभेन बा न बाध्यते जन्ममरणादिजनने न क्रिश्यते । तथा च समाधिपकरणे पातंजलस्त्रम् । 'ततः क्रेशकर्मनिवृत्तिः' इति । केनापि पुरुषांतरेण यंत्रमंत्रादिना वा न साध्यते साधियतुं शक्यते ॥ १०८ ॥

भाषार्थ-समाधिसे युक्त योगीको मृत्युभी भक्षण नहीं करता है और शुभ अशुभ रूप कियेहुये कमोंसे जन्म मरण आदि क्षेशभी नहीं होतेहैं और न वह योगी किसी उपायसे साध्य होसकताहै अर्थात् कोई पुरुष यंत्र मंत्र आदिसे साध नहीं सकता—सोई समाधिप्रकरणमें पतंजिकका सूत्र है कि, उस समाधिक समय क्षेशकी निवृत्ति होती है।। १०८॥

### न गंधं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ॥ नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तःसमाधिना॥१०९॥

न गंधिमिति ॥ समाधिना युक्तो योगी गंधं सुरभिमसुरभि वा न रसं मधुराम्ललवणकटुकषायितक्तभेदात षड्विधं न रूपं गुक्कनील-पीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात्सप्तविधं न स्पर्श शीतसुष्णमनुष्णा-शीतं वा न निःस्वनं शंखदुंदुभिजलिधजीमूतादिनिनादं वाह्यमाभ्यंतरं वा न आत्मानं देहं न परं पुरुषांतरं वेत्तीति सर्वत्रान्वेति । 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मिनि' इत्यमरः ॥ १०९ ॥

भाषार्थ-समाधिसे युक्त योगी सुरिम, असुरिमह्तप गंघ और मधुर, आम्छ, ज्वण, कटुक, कषाय तिक्तह्रप छः प्रकारका रस और शुऋ, नील, पीत, रक्त,

हरित, किपश, चित्ररूप सातप्रकारका रूप और शीत, उण्ण, अनुष्णाशीतरूप, तीनप्रकारका स्पर्श और शंख, दुंदुभी, समुद्र, मेघ इनका बाह्य शब्द, और नाद-रूप भीतरका शब्द और अपना देह अन्य अन्य पुरुष इन पूर्वोक्त गंध आदिको नहीं जानताहै ॥ १०९॥

### चित्तं न सुप्तं नो जायत्रमृतिविस्मृतिविवर्जितम् ॥ न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ सुक्त एव सः॥११०॥

चित्तमिति ॥ यस्य योगिनश्चितमंतःकरणं न सुप्तम्। आवरकस्य तमसोऽभावात्रिगुणेंऽतःकरणे यदा सत्त्वरजसी अभिभूय समस्तकर-णावरकं तम आविभवति तदांतःकरणस्य विषयाकारपरिणामाभावा-त्रत्सुप्तमित्युच्यते । नो जायत् इंद्रियेरर्थयहणाभावात् । स्मृतिश्च विस्मृतिश्च स्मृतिविस्मृती ताभ्यां वर्जितम् । वृत्तिसामान्याभावादु-द्धोधकाभावाच्च स्मृतिवर्जितम् । स्मृत्यनुकूलसंस्काराभावादिस्मृतिव-जितम् । न चास्तं नाद्यमेति प्राप्तोति । संस्कारदोषस्य चित्तस्य सत्त्वात् । नोदेत्युद्धवति । वृत्त्यनुत्पादनात् । सोऽसौ मुक्त एव जीव-नमुक्त एव ॥ ११० ॥

भाषार्थ-जिस योगीका चित्त आच्छादक तमोगुणके अभावसे सोवता नहों, क्योंकि त्रिगुण अंतःकरणमें जिस समय सत्त्रगुण और रजोगुणका तिर-स्कार करके सब इंद्रियोंका आच्छादक तमोगुण अधिक होताहै उस समय अंतःकरणका विषयाकाररूप परिणाम न होनेसे सुप्त अवस्था (शयन) कहाती है और इंद्रियोंसे विषयोंका प्रहण होनेसे योगीको जाप्रत्मी न हो, और स्मरण विस्मरणसे वर्जित हो, अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंके और उद्घोधकके अभावसे स्मृति-रहित हो और स्मृतिका जनक जो संस्कार उसके अभावसे विस्मृतिसे रहित हो और संस्कारशेष चित्तके होनेसे नाशकोभी प्राप्त न हो और वृत्तियोंकी उत्पिक अभावसे उदय (उत्पन्न) भी न होताहो वहभी योगी मुक्तही है ॥११०॥

# न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥ न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना॥ १ १ १॥

न विजानातीति ॥ समाधिना युक्तो योगी शीतं च उष्णं च शीतोष्णम् । समाहारद्वंदः । शीतमुष्णं वा पदार्थं न दुःखं दुःखजनकं परकृतं ताडनादिकं न सुखं सुखसाधनं सुरभिचंदनाद्यनुलेपनादि-कम् । तथा चार्थं । मानं परकृतं सत्कारं न अपमानमनाद्रं च न विजानातीति कियापदं प्रतिवाक्यमन्वेति ॥ १११ ॥

भाषार्थ-समाधिसे युक्त योगी शीत, उष्ण पदार्थको और ताडना आदि दु:खको और सुरिभ चंदनआदिके छेपनरूप सुखको और मान अपमानको अर्थात् दूसरेके किये सत्कार और अनादरको नहीं जानताहै ॥ १११॥

# स्वस्थो जायद्वस्थायां सुप्तवद्योवऽतिष्ठते ॥ निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं सुक्त एव सः १ १२॥

स्वस्थ इति ॥ स्वस्थः प्रसन्नेंद्रियांतःकरणः । एतेन तंद्रामुर्च्छा-दिव्यावृत्तिः । जायद्वस्थायामित्यनेन स्वप्तसुषुप्त्योर्निवृत्तिः । सुप्त-वत् सुप्तेन तुल्यं कायेंद्रियव्यापारग्रून्यो यो योगी अवतिष्ठते स्थितो भवति । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । निश्वासोच्छ्वासहीनः बाह्यवायोः कोष्ठे यहणं निश्वासः कोष्ठस्थितस्य वायोर्बहिनिःसारण-सुच्छ्वासस्ताभ्यां हीनश्चावतिष्ठत इत्यत्रापि संबध्यते । स निश्चितं निःसंदिग्धं सुक्त एव । जीवनमुक्तस्वरूपमुक्तं दत्तात्रेयेण—'निर्गुणध्या-नसंपन्नः समाधि च तत्रोऽभ्यसेत् । दिनद्वाद्वाकेनेव समाधि समवाप्तु-यात् ॥ वायुं निरुध्य मेधावी जीवनमुक्तो भवेद्ध्ववम् ॥' इति ॥११२॥

भाषार्थ—जो योगी स्वस्थअवस्थामें अर्थात् इंद्रिय और अंत:करणकी प्रस-नतामें स्थित होकर जाप्रत् अवस्थामेंभी देह और इंद्रियोंके व्यापारसे शून्य झुतके समान और बाहिरकी वायुका देहमें प्रहणरूप नि:धास और देहमें स्थित वायुका बाहिर निकासने रूप उच्छास इन दोनोंसे रहित होकर निश्चल टिकताहै वह योगी निश्चयसे मुक्तही है और दत्तात्रेयने जीवन्मुक्तका रूप यह कहा है कि, निर्गुणके ध्यानमें संपन्न मनुष्य समाधिका अम्यास करे फिर बारह दिनसेही समाधिको प्राप्त होताहै और बुद्धिमान् मनुष्य वायुको रोककर निश्चयसे जीवन्मुक्त होताहै ॥ ११२॥

अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम्॥ अत्राह्मो मंत्रयंत्राणां योगी युक्तः समाधिना ११३॥

अवध्य इति ॥ समाधिना युक्तो योगी। सर्वशस्त्राणामिति संबंधसामान्ये षष्ठी । सर्वशस्त्रेरित्यर्थः । अवध्यो हंतुमश्चय इत्यर्थः। सर्वदेहिनामित्यत्रापि संबंधमात्रविवक्षायां पष्टी । अशक्यः सर्वदेहिभिः बलेन शक्यो न भवतीत्यर्थः । मंत्रयंत्राणां वशीकरणमारणोचाटना-दिफलैर्मत्रयंत्रैरशाह्यः वशीकर्तुमशक्यः । एवं प्राप्तयोगस्य योगिनो विघ्ना बहवः समायांति । तन्निवारणार्थं तज्ज्ञानस्यापेक्षितत्त्वात्तेऽपि मदर्श्यते । दत्तात्रेयः-'आलस्यं मथमो विद्यो दितीयस्तु मकथ्यते । पूर्वीक्तधूर्तगोष्ठी च तृतीयो मंत्रसाधनम् ॥ चतुर्थो धातुवादः स्या-दिति योगविदो विदुः' इति । मार्कडेयपुराणे-'उपसर्गाः पवर्तते दृष्टा ह्यात्मिन योगिनः । ये तांस्ते संप्रवक्ष्यामि समासेन निबोध मे ॥ काम्याः कियास्तथा कामान्मनुष्यो योऽभिवांछति । स्त्रियो दानफर्लं विद्यां मायां कुप्यं धनं वसु ॥ देवत्वममरेशत्वं रसायनवयः क्रियाम् । मेरुं प्रयतनं यज्ञं जलाग्न्यावेशनं तथा ॥ श्राद्धानां शक्तिदानानां फलानि नियमास्तथा । तथोपवासात्पूर्त्ताच देविपत्रर्चनाद्पि ॥ अति-थिभ्यश्च कर्मभ्य उपसृष्टोऽभिवांछति । विद्यमित्थं प्रवर्तेत यत्नाद्योगी निवर्तयेत् ॥ ब्रह्मासंगि मनः कुर्वन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते ॥' इति । पद्म-पुराणे-'यदैभिरंतरायेर्न क्षिप्यतेऽस्य हि मानसम् । तदाये तमवाभोति परं ब्रह्मातिदुर्हभम्।' योगभास्करे-'सात्त्विकीं धृतिमालंब्य योगी सत्त्वेन सुस्थिरः । निर्शुणं मनसा ध्यायन्नुपसर्गेः प्रमुच्यते ॥ एवं योगमुपासीनः शकादिपदिनस्पृहः । सिद्धचादिवासनात्यागी जीव-न्मुक्तो भवेन्मुनिः ॥ विस्तरस्य भिया नोक्ताः संति विद्या ह्यनेकशः । ध्यानेन विष्णुहरयोवीरणीया हि योगिना' इति ॥ ११३ ॥

भाषार्थ-और समाधिसे युक्त योगी संपूर्णशस्त्रोंसे बध करनेके अयोग्य होता है और सब देहधारियोंको वश आदि करनेमें अशक्य है और वशीकरण, मारण, उचाटन हैं फल जिनके ऐसे मंत्र यंत्रोंसेभी वशमें करने अयोग्य है इसप्रकारके योगीको अनेकप्रकारके जो विघ्न होतेहैं उनको दिखातेहैं-दत्तात्रेयने कहाहै कि, पहिला विघ्न आलस्य और दूसरा धूताँकी सभा और तीसरा मंत्रसाधन और चौथा धातुबाद ये योगके ज्ञाताओंने विन्न कहे हैं और मार्कडेयपुराणमें ये विन्न कहे हैं कि, योगीकी आत्मामें देखनेसे जो विन्न होतेहीं उनको मैं तेरे प्रति संक्षेपसे कहताहूँ त् उनको सुन-कामनाकेल्ये कर्म और कामनाओंकी जो मनुष्य बांछा करताहै स्त्री, दानका फल, विद्या, माया, गुप्त और प्रकट धन, देव, और इंद्र होना और रसायन इंद देहकी क्रिया, मेरु, यत्न, यज्ञ, जल और अग्रिमें प्रवेश, श्राद्ध और शक्तिसे दान, फल और नियम और उपवास, वापीकूपतडागादि पूर्त, देव और पितरोंका पूजन, अतिथि और कर्म इनसे युक्त हुआ योगी जो कुछ वांछा करताहै उसके योगमें विघ्न प्रवृत्त हो जाता है इससे योगी यत्नोंसे विघ्नको निवृत्त करे, ब्रह्ममें आसक्त मनको करताहुआ योगी विघ्नोंसे छूटताहै और पदा-पुराणमें लिखाई कि, जब इन विघ्नोंसे जिस योगीके मनमें विक्षेप न हो वह अति दुर्छम उस परब्रह्मको प्राप्त होताहै, योगभास्करमें लिखा है कि, सान्विकी धीर-ताको करके सत्त्रगुणसे मलीप्रकार स्थिर और मनसे निर्गुणका ध्यान करता हुआ योगी विद्वास अवश्य छूटताहै इसप्रकार योगका उपासक और इंद्र आदिके पदकी इच्छासे रहित और सिद्धि आदिकोंकी वासनाका त्यागी मुनि जीवन्मुक्त होताहै. विव्र अनेक प्रकारके हैं परंतु विस्तारके भयसे यहां नहीं कहे हैं और वे सब बिहा विष्णु और शिवजीके ध्यानसे योगियोंको निवारण करने योग्य हैं ॥११३॥

यावन्नेव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे याविद्वंदुर्न भवति हदप्राणवातप्रबंधात्।।

यावद्धचाने सहजसहशं जायते नैव तत्त्वं तावज्ज्ञानं वदित तिद्दं दंभिमध्याप्रलापः॥११४॥ इति श्रीसहजानंदसंतानचितामणिस्वात्मारामयोगींद्र-विरचितायां हठयोगप्रदीपिकायां समाधिलक्षणं नाम चतुथांपदेशः ॥ ४॥ हठयोगप्रदीपिका समाप्ता ॥

अयोगिनां ज्ञानं निराकुर्वन्योगिनामेव ज्ञानं भवतीत्याह-याव-दिति ॥ मध्यमार्गे मुषुम्नायां चरन् गच्छन् मारुतः प्राणवायुः यावत् या-वत्कालपर्यतं न प्रविदाति प्रकर्षण ब्रह्मर्ध्रपप्रतं न विदाति ब्रह्मर्ध्रं गतस्य स्थेर्याद्वसार्धं गत्वा न स्थिरो भवतीत्यर्थः । सुषुम्नायामसंचरन् वायुर-सिद्ध इत्युच्यते। तदुक्तमसृतसिद्धौ-'यावद्धि मार्गतो वायुर्निश्चलो नैव मध्यगः । असिद्धं तं विजानीयादायुं कर्मवज्ञानुगम् ॥' इति । प्राणयति जीवयतीति प्राणः स चासौ वातश्च प्राणवातः तस्य प्रवंधारकुंभकेन स्थिरीकरणाद्धिंदुवीर्यं दृढः स्थिरो न भवति प्राणवातस्थेर्ये विदुस्थेर्य-मुक्तमत्रेव प्राक् । 'मनःस्थेयें स्थिरो वायुस्ततो विंदुः स्थिरो भवेत् ।' इति । तद्भावे त्वसिद्धत्वं योगिनः । उक्तममृतसिद्धौ-'ताबद्धद्धोऽ-प्यसिद्धोऽसौ नरः सांसारिको मतः । यावद्भवति देहस्थो रसेंद्रो ब्रह्मरूपकः ॥ असिद्धं तं विजानीयात्ररमब्रह्मचारिणम् । जरामरणंस-कीणं सर्वक्केशसमाश्रयम् ॥ इति । यावत्तस्वं चित्तं ध्याने ध्येये-चित्तं न सहजसदृशं स्वाभाविकध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो नैव जायते नैव भवति प्राणवातप्रवंधादिति देहलीदीपकन्यायेनात्रापि संबध्यते। वायु-स्थेये चित्तस्थेर्यमुक्तममृतिसद्धौ-'यदासौ श्रियते वायुर्भध्यमां मध्य-योगतः। तदा विंदुश्च चित्तं च म्रियते वायुना सह ॥' तद्भावेऽह्य-सिद्धत्वमुक्तममृतसिद्धी-'यावत्प्रस्यंदते चित्तं वाह्याभ्यंतरवस्तुषु । असिद्धं तद्विजानीयाचित्तं कर्मगुणान्वितम्॥ इति । तावद्यज्ज्ञानं ज्ञाब्दं वद्ति कश्चित् तदिदं ज्ञानं कथं दंभिमध्याप्रलापः दंभेन ज्ञानकथनेनाहं लोंके पूज्यो भविष्यामीति धिया मिथ्याप्रलापो मिथ्याभाषणं दंभपू-र्वकं मिथ्याभाषणमित्यर्थः । प्राणिबंदुचित्तानां जयाभावे ज्ञानस्या-भावात्संसृतिर्दुर्वारा । तदुक्तममृतिसिद्धौ-'चल्रत्येष यदा वायुस्तदा विंदुश्चलः स्मृतः। विंदुश्चलति यस्यांगे चित्तं तस्येव चंचलम्॥ चले विंदी चले चित्ते चले वायी च सर्वदा ॥ जायते म्रियते लोकः सत्यं सत्यमिदं वचः ॥' इति । योगबीजेऽप्युक्तम्-'चित्तं प्रनष्टं यदि भासते वे तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः। न वा यदि स्यान तु तस्य शास्त्रं नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः ॥' इति । एतेन प्राणविंदुमनसां जये तु ज्ञानदारा योगिनो मुक्तिः स्यादेवेति सूचितम् । तदुक्तममृत-सिद्धौ-'यामवस्थां व्रजेद्वायुर्विदुस्तामधिगच्छति । यथाहि साध्यते वायुस्तथा विदुपसाधनम् ॥ मूर्च्छितो हरति व्याधि वृद्धः खेचरतां नयेत्। सर्वसिद्धिकरो लीनो निश्चलो मुक्तिदायकः ॥ यथावस्था भवे-द्विदोश्चित्तावस्था तथा तथा ॥' ननु-'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥' इति भगवदुक्तास्त्रयो मोक्षोपायास्तेषु सत्सु कथं योग एव मोक्षोपाय-त्वेनोक्त इति चेन्न । तेषां योगांगेष्वंतभीवात् । तथाहि-'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निद्धियासितव्यः' इति श्रुत्या परमपुरुषार्थसाधनात्मसाक्षात्कारहेतुतया श्रवणमनननिदिध्यासनान्यु-क्तानि तत्र श्रवणमनने नियमांतर्गते स्वाध्यायेंऽतर्भवतः । स्वाध्यायश्च मोक्षशास्त्राणामध्ययनम्। स च तात्पर्यार्थनिश्चयपर्यवसायो त्राह्यः। तात्पर्यार्थनिर्णयश्च श्रवणमननाभ्यां भवतीति श्रवणमननयोः स्वाध्या-यंऽतर्भावः । नियमविवरणे याज्ञवल्क्येन-'सिद्धांतश्रवणं प्रोक्तं वेदा-न्तश्रवणं बुधैः' इति स्पष्टमेव श्रवणस्य नियमांतर्गतिरुक्ता—'अधी-तवेदं सूत्रं वा पुराणं सेतिहासकम् । पदेष्वध्ययनं यश्च सदाभ्यासो जपः स्मृतः ॥' इति युक्तिभिरनवरतमनुचितनलक्षणस्य सदाभ्या-सरूपस्य मननस्यापि नियमांतर्गतिरुक्ता । विजातीयप्रत्ययनिरोध-

पूर्वकसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपस्य निद्ध्यासनस्य उक्तलक्षणे ध्यानेंऽ-तर्भावः । तस्यापि तत्परिपाकरूपसमाधिनात्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्ष-हेतुत्वमीश्वरार्पणबुद्धचा निष्कामकर्मानुष्ठानलक्षणस्य कर्मयोगस्य 'तपःस्याध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' इति पतंजिलिपोक्ते नियमांतर्गते क्रियायोगेंऽतर्भावः । तत्र तप उक्तमीश्वरगीतायाम्-'उपवासपराकादिकृच्छ्रचांद्रायणादिभिः । शरीरशोषणं प्राहुस्तापसा-स्तप उत्तमम् ॥' इति । स्वाध्यायोऽपि तत्रोक्तः-'वेदांतरातरुद्रीय-प्रणवादिज्ञपं बुधाः । सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते ॥ इति । ईश्वरप्रणिधानं च तत्रोक्तम्-'स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकाय-कर्मभिः । सुनिश्चला भवेद्राक्तिरेतदीश्वरपूजनम् ॥' इति । क्रियायो-गश्च परंपरया समाधिनात्मसाक्षात्कारद्वारेव मोक्षहेतुरिति समाधि-भावनार्थः । क्रेशतनूकरणार्थश्चेत्युत्तरस्त्रेण स्पष्टीकृतं पतंजिलना । अजते सेव्यते भगवदाकारमंतः करणं क्रियतेऽनयेति भक्तिरिति करणव्युत्पत्त्या 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद्सेवनय । अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ इति । नवधोक्ता साधनभक्तिर-भिधीयते । तस्या ईश्वरप्रणिधानरूपे नियमेंऽतर्भावः । तस्याश्च समा-धिहेतुत्वं चोक्तं पतंजिलना-'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इति । ईश्वरविषय-कात्प्रणिधानाद्वक्तिविशेषात्समाधिलाभः समाधिकलं स्त्रार्थः । भजनमंतःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्यु-त्पत्त्या फलभूता भक्तिरभिधीयते । सेव प्रेमभक्तिरित्युच्यते । तह-क्षणमुक्तं नारायणतीर्थैः-'प्रेमभक्तियोगस्तु ईश्वरचरणारविंदविषयके-कांतिकात्यंतिकप्रेमप्रवाहोऽविच्छिन्नः' इति । मधुसूदनसरस्वती-भिस्तु-'द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पकवृत्ति-र्भक्तिः' इति । 'तस्यास्तु श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि' इति श्रुतेः । 'भक्त्या मामभिजानाति' इति स्मृतेश्च । आत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वम् । भक्तास्तु सुखस्यैव पुरुषार्थत्वाहुःखासंभिन्ननिरति- शयसुखदारारूपा प्रेमभक्तिरेव पुरुषार्थ इत्याहुः । तस्यास्तु संप्रज्ञाब-समाधावंतर्भावः । एवं च अष्टांगयोगातिरिक्तं किमपि परमपुरुषार्थ-साधनं नास्तीति सिद्धम् ॥ ११४॥

याह्यमेव विदुवां हितं यतो भाषणं समयद्द्र्यसंस्कृतम् ।
रक्ष गच्छति पयो न लेहितं ह्यंव इत्यभिहितं शिशोर्यथा ॥ १॥
सद्र्थद्योतनकरी तमःस्तोमविनाशिनी ॥
ब्रह्मानंदेन ज्योत्स्रेयं शिवां च्रियुगलेऽपिता ॥ २॥
इति श्रीहठयोगप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां
समाधिनिरूपणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४॥

टीकाग्रंथसंख्या २४५०॥

भाषार्थ-अब अयोगियोंको ज्ञानका निराकरण करतेहुए योगियोंकोही ज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं कि, जबतक सुपुम्नाके मार्गमें बहताहुआ प्राणवायु ब्रह्मरंध्रमें प्रविष्ट होकर स्थिर नहीं होता, क्योंकि खुषुम्नामें नहीं वहते हुए प्राणवायुको असिद्ध कहतेहैं. सोई अमृतसिद्धिमें कहा है कि, जबतक अपने मार्गसे वायु सुषुम्नामें प्राप्त होकर निश्चल न हो-कर्मवराके अनुयायी उस वायुको असिद्ध जानै और जीवनका आधाररूप जो प्राण उसके दढवंधन अर्थात् कुंभ-कसे दढ करनेसे जबतक बिंदु (वीर्य) स्थिर नहीं होताहै और प्राणवायुकी स्थिरतासे विंदुकी स्थिरता इसी ग्रंथमें कह आयेहें कि, मनकी स्थिरतासे वायु और वायुक्ती स्थिरतासे विंदुक्ती स्थिरता होतीहै वह न होय तो योगी असिद्ध होताहै सोई अमृतसिद्धिमें कहा है कि, तबतक वृद्ध और असिद्ध यह सांसारिक जन मानाहै इतने रसेंद्र जो ब्रह्मरूप है वह देहमें स्थित हो अर्थात् अपने स्थानसे पतित होकर देहमें आजाय और ब्रह्मचर्यसे हीन उस मनुष्यको असिद्ध जानै और जरामरणसे युक्त और संपूर्ण क्वेशोंका आश्रय होताहै और जबतक चित्तरूप तत्त्वध्यानमें ध्येय चित्त नहीं होताहै अथीत् स्वाभाविक ध्येयाकार जो इत्ति-योंका प्रवाह उससे सहज सदश प्राणके बंधनसे नहीं होताहै और वायुकी स्थिरतासे चित्तकी स्थिरता अमृतसिद्धिभें कही है कि, जब यह वायु सुपुम्नाके

योगसे मध्यमामें प्रविष्ट हो जाताहै तब बिंदु और चित्त ये दोनों वायुके संग होकर मरजातेहैं और इसके अभाषमें असिद्धताभी अमृतसिद्धिमें कही है कि इतने बाह्य और भीतरकी वस्तुमें चित्तका स्पंदन (चेष्टा) होताहै, कर्मके गुणोंसे युक्त उस चित्तको असिद्ध जानै तबतक सो यह ज्ञान दंभिमध्याप्रलाप होताहै अर्थात् में जगत्में पूअय हूंगा इसप्रकार दंभपूर्वक ज्ञानके कथनसे बुद्धिसे मिध्या-भाषणहीं होताहै क्यों कि प्राण, विंदुं, चित्त इनके जयके अभावसे ज्ञानका अभाव होताहै और उससे जन्ममरणरूप संसारकी निवृत्ति नहीं होसकतीहै सोई अमृत-सिद्धिमें कहा है कि, जब यह प्राणवायु चलताहै तब बिंदुभी चल कहाहै और जिसके अन्नमें विंदु चंचल है उसका चित्तभी चंचल होताहै और बिंदु, चित्त, वायु इन ताँनोंके चंचल होनेपर संपूर्ण जगत् उत्पन होताहै और मरताहै, यह वचन सत्य है योगबीजमेंभी कहा है कि, यदि चित्त नष्ट हुआ भासे तो वहां वायुकाभी नाश प्रतीत होताहै यदि चित्त वायुका नाश न होय तो उसको शास्त्रका ज्ञान और आत्माकी प्रतीति और गुरु और मोक्ष ये नहीं होतेहें-इससे यह स्चित किया कि-प्राण, बिंदु, मन इन तीनोंके जयमें ज्ञानके द्वारा योगीकी मुक्ति होई जाती है-सोई अमृतसिद्धिमें कहा है कि, जिस अवस्थाको वायु प्राप्त होताहै उसी अवस्थाको बिंदुभी प्राप्त होजाताहै और जिसप्रकार वायु साध्य किया जाताहै उसी प्रकारसे बिंदु साध्य किया जाताहै और मूर्च्छित हुआ वायु व्याधियोंको हरताहै और वंघन किया वायु आकाशगतिको देताहै और लयको प्राप्त हुआ निश्चल वायु संपूर्ण सिद्धियोंको करताहै और मुक्तिको देताहै और जैसी जैसी अवस्था विंदुकी होती है तैसी २ ही अवस्था चित्तकी होती है-कदाचित् कोई शंका करे कि, मनुष्योंके कल्याण करनेकी इच्छासे ज्ञान कर्म भक्ति ये तीन योग मैने कहेहैं अन्य कोई उपाय किसी शास्त्रमें भी नहीं हैं इस भगवान्के वाक्यसे तीन मोक्षके उपाय हैं तो योगही मोक्षका उपाय कैसे कहा ? सो ठीक नहीं. क्योंकि उनका योगके अंगोंमें अंतर्भाव है-सोई दिखातेहें कि, आत्मा-देखने, सुनने, मानने, निद्ध्यासन करने योग्य है । इस श्रुतिसे परम पुरुषार्थका साधन जो आत्माका साक्षात्कार है उसके हेतु, श्रवण, मनन, निदिध्यासन कहे हैं, उन

त्तीनों में श्रवग मनन ये दोनों नियमके अंतर्गत होनेसे स्वाध्याय (पठन) में अंतर्गत होतेहैं और मोक्षशास्त्रके अध्ययनको स्वाध्याय कहतेहैं और वह अध्य-यनभी तात्मर्यार्थके निश्चय पर्यन्त छेना वह तात्मर्यार्थके निर्णयका श्रवण मननसे होताहै इससे श्रवण मननका स्वाध्यायमें अंतर्भाव है-और नियमोंके विवरणमें याज्ञ त्रहरूमने कहा है कि, बुद्धिमान् मनुष्योंने वेदांतका श्रवण सिद्धांतश्रवण कहा है इससे स्रष्टही अवगका नियममें अंतमीव कहाहै-और जिसने वेद पढा हो, सूत्र वा पुराण वा इतिहास पढे हों इनके अध्ययन और उत्तम अभ्यासको जप कहतेहें इस युक्तिसे निरंतर अनुचितन है लक्षग जिसका ऐसा जो उत्तम अम्यास रूप मनन है उसकाभी नियममें अंतर्भाव कहाहै-और विजातीय प्रतीतिके निरोध-पूर्वक सजातीय प्रत्ययका प्रवाहरूप जो निद्ध्यासन है उसकाभी पूर्वोक्त ध्यानमें अंतर्भाव है. क्योंकि वहमी तिसके परिपाकरूप समाधिसे आत्मसाक्षात्कारके द्वारा मोक्षका हेतु है-और ईश्वरार्पण बुद्धिसे निष्काम कर्भका अनुष्टानरूप जो कर्मयोग है उसका निरमके अंतर्गत इस पतंजिकिके कहें हुए कियायोगमें अंतर्भाव है कि, तप, स्वाद्याय, ईश्वरका प्रणियान (स्मरण) इनको क्रियायोग कहतेहैं और वे तीनों ईश्वरगीतामें इन वचनोंसे कहे हैं कि, उपवास पराक और क्रच्छ्चांद्रायण आदि वत इनसे जो शरीरका शोषण वही तपस्वियोंने उत्तम तप कहा है और मनुष्योंके अंतःकरणकी शुद्धिका कर्ता जो वेदान्त, शतरुद्दीय प्रणव आदिका जप है वहीं बुद्धिमान् मनुष्योंने स्वाध्याय कहाहै और स्तुति, स्मरण, पूजा इनसे और वाणी मन काया कर्म इनसे जो भडीप्रकार निश्च अस्ति वही ईश्वरपूजन कहाताहै और क्रियायोग परंपरासे समाधिसे आत्मसाक्षात्कारके द्वाराही मोक्षका हेतु होनेसे समाधिकी भावनाकेलिये और छेशोंको दूर करनेकेलिये है. यह बात उत्तरस्त्रसे पतंजिलने स्पष्ट की है जिससे अंत:करण सगवान्के आकार होजाय उसे भक्ति कहतेहैं, इसकारण व्युत्पत्तिसे वह नौ ९ प्रकारकी साधनभक्ति कही वह इस स्रोक्तमें वर्णन की है कि विष्णुका श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, बंदन, दासता, मित्रता और आत्माका निवेदन, यह नव प्रकारकी भक्ति होतीहै और उस भक्तिका ईश्वरके प्रणिधानरूप नियममें अंतर्भाव है और उस मिक्किमी हेतुता समाधिमें पतंजिलने इस सूत्रसे कही है कि, ईश्वरविषयक

जो भिक्तिविशेषरूपप्रणिधान उससे समाधिका लाभ (फल) होताहै और अंतःकरणका भगवदाकारतारूप जो भजन उसे भिक्त कहतेहैं. इस भावन्युत्पित्तसे
तो फल्लभूत भिक्त कही है उसकोही प्रेमभिक्त कहतेहैं उसका लक्षण नारायणतीथोंने यह कहाहै कि,ईश्वरके चरणारिवंदमें जो एकाप्रतासे निरविच्छित अत्यंत भेमका
प्रवाह उसको प्रेमभिक्त कहतेहैं और मधुसूदनसरस्वितयोंने तो भिक्तिका यह लक्षण कहा
है कि, द्रव होकर मनकी जो भगवदाकाररूप सविकल्पवृत्ति उसको भिक्त कहतेहैं
वह भी आत्मसाक्षात्कारके द्वारा मोक्षका हेतु है क्योंकि इन श्रुति और स्मृतियोंमें यह लिखा है कि—श्रद्धा, भिक्त, ध्यान, योगसे आत्माको जानो और भिक्तिसे
सुझे जानताहै और भक्त तो यह कहतेहैं कि, सुखही पुरुषार्थ है इससे
दु:खसे असंभिन्न जो सर्वोत्तम सुखरूप प्रेमभिक्त है वही पुरुषार्थ है उस भिक्तिका
संप्रज्ञात समाधिमें अंतभीव है—इससे यह सिद्ध भया कि, अष्टांगयोगसे भिन्न
परम पुरुषार्थका कोईभी साधन नहीं है भावार्थ यह है कि, इतने गमन करता
हुए प्राणवायु सुपुमाके मार्गमें प्रविष्ट न हों, और प्राणवायुके दृढवंधनसे इतने
विंदु स्थिर न हों और इतने चित्त ध्यानके विषय ध्येयकी तुत्य न हों तबतक
ज्ञान दंभसे मिथ्याप्रलापरूप होताहै॥ १११॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां श्रीयुतपण्डित— रामरक्षाङ्गजलाँखग्रामनिवासिपण्डित—मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृत्तिसहितायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः समाप्तिमगात् ॥ श्रीरस्तु ।

> पुस्तक मिलनेका पता— खेमराज श्रीकृष्णदास, ''श्रीवेङ्कटेश्वर'' स्टीम्—प्रेस वंबई.

# क्रययपुस्तकें (योगवेशेषिकसांख्ययंथाः।)

की. र	इ. आ.
सर्वदर्शनसंग्रहश्रीउदयनारायणसिंहकृत भाषाटीका सहितइस	
प्रथमें - क्रमसे १ चार्वाकदर्शन, २ बौद्धदर्शन, ३ आईतदर्शन,	
४ रामानुज दर्शन, ५ पूर्णप्रज्ञ दर्शन वा वेदान्त दर्शन, ६ नकु-	
लीश पाशुपत दर्शन, ७ शैव दर्शन, ८ प्रत्यभिज्ञादर्शन, ९	
रसेश्वरदर्शन, १० औछ्रक्य दर्शन, ११ अक्षपाद दर्शन, १२	
जैमिनी दर्शन, १३ पाणिनि दर्शन, १४ सांख्य दर्शन, १५	
पातंजल द्रीन-मतसम्प्रदाय सिद्धान्तोंका पूर्णतया वर्णनहै	2-0
पातंजलयोगद्श्न-अत्युत्तम भाषानुवादसहित अष्टांगयोग-	Constitution of
निरूपण	0-83
गोर्खपद्धति-भाषाटीकासहित । इसग्रंथमें योगाभ्यासकाफल वर्णित	
शिवसंहिता-मापारी कासहित।इसमें शिवजीसे कहाहुआ योगोपदेश	- Hotel
ब्रह्मज्ञान, हठयोगिक्रया राजयोगादिका वर्णनहै	2-0
शिवस्वरोद्य-भाषाठीका सहित । इसमें खरोंका और इडा पिंगला	
सुवुम्णा नाडियोंसे प्रश्नादि और राजयोग, हठयोग प्राणायामादि	
पंचतत्त्वोंके जाननेकी विधि भलीप्रकार वर्णित है	0-6
योगतत्त्वप्रकाश-मावामें अत्युत्तम योगमार्ग वर्णितहै	9-0
जानस्वरोदय-चरणदासकृत	0-2

संपूर्णपुस्तकोंका बडास्चीपत्र भलग है देखना होतो मँगालीजिये. पुस्तक मिलनेका ठिकाना— खेमराज श्रीकृष्णदास,

" श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस, खेतवाडी -बंबई.



